समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध का मूल्यांकन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की
पी०एच-डी०उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
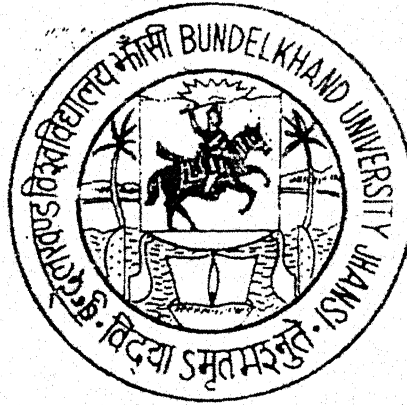
निर्देशक
डॉ0 चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित 'ललित'
रीडर, हिन्दी विभाग
पं० जे०एन० पी०जी० कालेज, बाँदा

अनिसंधित्सु
गया प्रसाद 'सनेही'
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
अतर्रा पी०जी० कालेज, अतर्रा (बाँदा)

2004

शोध केन्द्र
अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अतर्रा (बाँदा)

प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि गया प्रसाद 'सनेही' ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से हिन्दी विषय में पी-एच0डी0 उपाधि हेतु **'समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध का मूल्यांकन'** नामक शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन मे शोध अध्यादेश 7 के अनुसार निर्धारित उपस्थिति देकर पूर्ण किया है।

इन्हें विश्वविद्यालय के पत्रांक बु0वि0वि0 / एके0/शोध/2002/1434-36 दिनांक 23/04/2002 के आधार पर शोध उपाधि समिति की बैठक दिनांक 04/04/2002 के द्वारा विषय की स्वीकृति प्रदान की गई थी।

श्री गया प्रसाद 'सनेही' का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उच्चस्तरीय तथ्यों पर आधारित है तथा शोध के क्षेत्र मे इस प्रबन्ध का मौलिक योगदान होगा।

अतएव, मैं इसे मूल्यांकनार्थ बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी में प्रस्तुति हेतु प्रबलतम संस्तुति करता हूँ।

रविवार

9 मई, 2004

डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित'

पी-एच0डी0, डी0लिट्0

उपाचार्य, हिन्दी विभाग

पं0 जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा

निदेशक, चंददास शोध संस्थान, बाँदा (उ0प्र0)
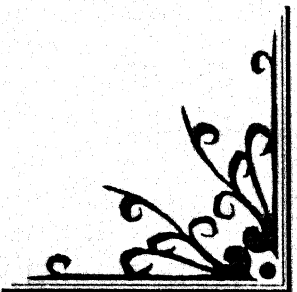
पुरोवाक्

पुरोवाक्

'मूल्यांकन' काव्य-सर्जना की वह स्वर्णिम कसौटी है, जिसके शोधपरक मंथन से कविता का महत्त्व और मान बढ़ जाता है। यथार्थ की दृष्टि से जो मूल्य उच्चकोटि के हों, जो सबके द्वारा स्वीकृत और गृहीत हों, उन्हें ही 'मूल्य' की संज्ञा दी जा सकती है। मूल्यांकन किसी भी वस्तु का न तो मूल्य स्थिर करता है और न हि उसका निर्धारण; अपितु उस वस्तु में निहित गुणों का नीर-क्षीर सर्वेक्षण करके उसकी उपादेयता को आँकने व समझने का वैज्ञानिक प्रयास करता है।

समकालीन कविता में सौन्दर्य के जिस रूप का मूल्यांकन किया गया है, वह अपने पूर्ववर्ती समग्र सौन्दर्य-बोधों से भिन्न है। सौन्दर्य की सत्ता और संस्थापना को लेकर कविता के विकास-काल से ही नाना प्रकार के 'वाद' चलते चले आ रहे हैं, किन्तु समकालीन कविता सब प्रकार के वादो से मुक्त है।

सामाजिक यथार्थ उसका कलेवर है और वस्तुगत सत्ता उसका हृदय; वह इसी हृदय रूपी वस्तुगत सत्ता को सौन्दर्य का प्राण व अधिष्ठान मानती है। समकालीन कविता और उसके सौन्दर्य-बोध का वस्तुपरक मूल्यांकन सामाजिक यथार्थ के विभिन्न समुच्चयों को ध्यान में रखकर किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय **'समकालीन कविता का स्वरूप और सृजन'** है, जिसमें समकालीन कविता के अर्थ, स्वरूप, सीमांकन अथवा सीमा-निर्धारण में विभिन्न विद्वानों के उन मतों का बेबाक खण्डन कर दिया गया है, जिसके आधार पर उन्होंने 'आज की कविता', 'वर्तमान कविता' या 'साठोत्तरी कविता' को ही समकालीन कविता का नाम दे डाला था। समकालीन कविता के सीमांकन में आने वाली विभिन्न समस्याओं का वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करते हुए सन् 1965 से 1970 तक की कालावधि को समकालीन कविता की पूर्वपीठिका के रूप में अंगीकार करने का ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत किया गया है और इस आधार पर समकालीन कविता की अविरल काव्यधारा सन् 1970 या उसके बाद से प्रारम्भ हो जाती है। समकालीन कविता अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों और सीमाओं के आधार पर राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य का संभरण करती हुई आज 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रवेश कर चुकी है।

द्वितीय अध्याय **'सौन्दर्य-बोध की सैद्धान्तिक अवधारणा'** है, जिसमें सौन्दर्य के स्वरूप, उसके विविध रूपों, काव्य के साथ उसके कदम्ब-कोरक सम्बन्धों एवं साहित्य में उसकी उपादेयता पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में सौन्दर्य को वस्तुगत, आत्मगत, भावगत, उदात्तगत, कल्पनागत एवं शिल्पगत आदि विविध रूपों में बाँटकर उसे जीवन-जगत् के आवर्तो से सम्पृक्त करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने का वैदुष्यपूर्ण प्रयास किया गया है और प्रतिफल स्वरूप यह अभिव्यक्ति

दी गई है कि साहित्य हर जगह और हर रस में सुन्दर खोजता है, चाहे वह वीभत्स रस ही क्यों न हो। बिना सौन्दर्य के साहित्य-सृजन असंभव है।

तृतीय अध्याय में **'सौन्दर्य-बोध के क्रमिक विकास'** को लेकर भारतीय और भारतेतर साहित्य की विचारवीथियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। भारतीय अवधारणा के अन्तर्गत वेदों, उपनिषदों, पौराणिक आख्यानों, दार्शनिक सन्दर्भो व ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित सौन्दर्य के विविध आयामों का जायजा लेते हुए संस्कृत-साहित्य तक की मंजुल यात्रा तय की गई है और अन्त में उस अविराम यात्रा को काव्यशास्त्रीय सन्दर्भो से जोड़ दिया गया है। **'भारतेतर अवधारणा'** के अन्तर्गत 'कला कला के लिए' काव्य-प्रयोजन की समीक्षा करते हुए 20वीं शताब्दी के प्रमुख समीक्षक व नाटककार टी0एस0 इलियट की काव्यगत मान्यताओं का विशेष ध्यान रखा गया है क्योंकि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में यह वही समीक्षक है, जिसने 'स्वच्छन्दतावाद' को नकारते हुए 'वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धान्त' की स्थापना की और फलस्वरूप आज पाश्चात्य जगत् में भी सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता को बड़े आदर और सम्मान के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।

चतुर्थ अध्याय में **'हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य-बोध की परम्परा'** शीर्षक के अन्तर्गत आदिकाल से लेकर छायावाद तक के सौन्दर्य-बोध का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। आदिकाल के समवेत सौन्दर्य को श्रृंगार और वीररस के अनुपम संगम पर किल्लोल करते हुए दिखाया गया है। इस काल में विकृत और अन्तर्मुखी सौन्दर्य का सुपोषण करने वाले सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय को यदि हम छोड़ दें तो रासो काव्य-परम्परा में नगरों, पनघटों, स्नानागारों, विवाहोत्सवों तथा युद्ध एवं व्यूह-रचना का बड़ा ही मार्मिक और रूपगत चित्रण प्रस्तुत किया गया है। भक्तिकालीन काव्य-धारा के अन्तर्गत ज्ञान, भक्ति और प्रेम की पावन त्रिवेणी में उदात्तवादी सौन्दर्य का लालित्यपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। रीतिकाल में रीतिमुक्त कविताओं को छोड़कर शेष सभी कविताएँ दरबारी संस्कृति में पल्लवित होने के कारण सामान्य जन-जीवन से कट गई थीं। अतः सौन्दर्य की भावगत सत्ता मनमाने ढंग से मनुष्य के मन और आत्मा में रासलीला करती रही। सच्चे अर्थो में आधुनिक काल की जड़ यदि भारतेन्दु-युगीन कवि हैं, तना और पत्ते आचार्य द्विवेदी युगीन कवि हैं तो पुष्प एवं फल होने का श्रेय छायावाद को दिया जा सकता है। छायावाद में पहली बार निसर्ग की गोद में मानवीय सौन्दर्य का गुणात्मक रूप प्रस्तुत करते हुए उसके सूक्ष्म सौन्दर्य को लाक्षणिक शैली में व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है।

'छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य और सौन्दर्य-बोध का नया सर्वेक्षण' शीर्षक **पंचम** अध्याय में नए आकलन और सर्वेक्षण के आधार पर सम्पूर्ण छायावादोत्तर काव्य में वस्तुगत सौन्दर्य की स्थापना का व्यापक समर्थन करते हुए भाववादी सौन्दर्य-चिन्तकों की निर्बन्ध कंठ से आलोचना की गई है। प्रगतिवादी कविता में सौन्दर्य के क्षेत्र में कहीं भी भावात्मक और आदर्शवादी सौन्दर्य को महत्व नहीं दिया गया। वहाँ

पर मानव के कर्ममय जीवन में सौन्दर्य को देखने और परखने का नए सिरे से दावा किया गया है और यह निष्कर्ष दिया गया है कि सौन्दर्य का स्रोत जनता है; दरबारी संस्कृति नहीं। आगे चलकर प्रयोगवादी काव्यधारा में कविता अपने बने बनाए वस्तुगत सौन्दर्य-बोध से तो नहीं हटी, किन्तु वैयक्तिक कुण्ठा और अहं की विकृति में फँसकर समाज के अनगढ़ और भदेस स्वरूपों का चित्रण करने लगी। यहीं पर नई कविता ने इस व्यष्टिगत अहं को समष्टि में परिवर्तित करते हुए लघुमानव की ओर प्रस्थान करने का संकेत दिया। नई कविता की परिसमाप्ति के बाद अकविता एवं अन्य अल्पजीवी काव्यान्दोलनों की युयुत्सावादी चौखट में बँधकर कविता का नैसर्गिक सौन्दर्य एक बार पुनः निष्प्रभ हुआ, किन्तु वह शीघ्र ही सन् 1968 में प्रगतिशील प्रतिश्रुत पीढ़ी का संबल लेकर आगे बढ़ी, वाम कविता और जनवादी कविता ने भी अपना समकालीन स्वर मिलाया। आज उसी वाद-मुक्त समकालीन कविता के वस्तुपरक सौन्दर्य का मूल्यांकन और पर्यवेक्षण किया जा रहा है।

षष्ठ अध्याय **'समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के प्रधान रूपों का मूल्यांकन'** है। समकालीन कविता के सौन्दर्य-बोध और उसके अध्ययन को सारल्य रूप प्रदान करने के लिए उसे दो प्रधान रूपों में बाँट दिया गया है - वस्तुगत सौन्दर्य-बोध और शिल्पगत सौन्दर्य-बोध। वस्तुगत सौन्दर्य-बोध ा की सत्ता को विस्तृत कैनवस प्रदान करने के लिए उसे यथार्थवादी सौन्दर्य, मानवतावादी सौन्दर्य, लोकवादी सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य और बौद्धिक सौन्दर्य - इन पाँच उपशीर्षकों में आवंटित कर भिन्न-भिन्न पहलुओं से संश्लिष्ट करने की पुरजोर कोशिश की गई है।
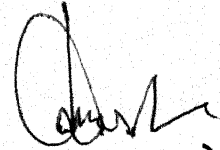
'शिल्पगत सौन्दर्य-बोध' शीर्षक में काव्यभाषा के अन्तर्गत तत्सम, तद्भव, देशज, आगत और संकर-शब्दावली का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी शब्द-भण्डार के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं की आनुपातिक स्थिति और उसका प्रतिशत जानने के लिए एक लेखाचित्र (ग्राफ़) तैयार किया गया है। इसके अलावा समकालीन कविता के विराट दायरे से सुपरिचित होने के लिए धूमिल की कविता का दृष्टान्त देकर गुरु-लघु की यौगिक मात्राओं के आधार पर एक अलग से लेखाचित्र खींचा गया है। समकालीन कविता में शिल्पविधिक दृष्टि से किया गया यह अध्ययन एकदम नवीन और मौलिक है। प्रतीक, बिम्ब, कवि-समय, पुराख्यान तत्त्व (मिथक), अप्रस्तुत योजना, छन्द एवं लयात्मक सौन्दर्य आदि के आधार पर समकालीन कविता को इससे पूर्व कभी नहीं परखा गया।

समकालीन कविता के प्रधान रूपों का मूल्यांकन करने के उपरान्त **'सप्तम अध्याय'** में उसके गौण रूपों पर विधिवत् विचार किया गया है। मूल्यांकन के परिक्षेत्र में आत्मगत, भावगत, उदात्तगत और कल्पनागत सौन्दर्य को गौणता की श्रेणी में रखा गया है क्योंकि ये सभी सौन्दर्य समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्ति 'सामाजिक यथार्थ' और उसकी 'वस्तुगत सत्ता' का अनुशीलन नहीं करते।

अष्टम और अन्तिम अध्याय में **'चेतनागत सौन्दर्य'** शीर्षक के अन्तर्गत सौन्दर्य-बोध को

विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक चेतनाओं में श्रृंखलाबद्ध करते हुए उसे व्यंग्यात्मक और प्रतीकात्मक शैली के माध्यम से लोकोन्मुखी बनाने का एकलव्य प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष स्वरूप सौन्दर्य की सत्ता को लेकर मुख्य नोंक-झोंक भाववादी और वस्तुवादी सौन्दर्य-चिन्तकों के मध्य होती रही है, किन्तु भाववादी विचारक सौन्दर्य की सत्ता वस्तुओं से हटाकर मनुष्य के मन और आत्मा में मानने का जो दावा प्रारंभ से करते चले आए हैं, वह वीरगाथा और रीतिकाल के विलासप्रिय राजाओं के यहाँ भले ही सफल रहा हो, किन्तु अद्यतन और समकालीन कविताओं के व्यापक सन्दर्भ में उनका यह दावा पूर्णतः निष्फल हो चुका है। भाववादियों द्वारा प्रस्तुत की गई यह नजीर कि संयोग काल में कर्णेन्द्रियों को मधुर लगने वाली 'कोयल-कूक' वियोगकाल में दाहक शत्रु के समान प्रतीत होती है, दादुर-शोर से उबकाई आती है या मधुवन की हरीतिमा भयानक प्रतीत होती है, तर्कसंगत नहीं है; क्योंकि कोयल-कूक, दादुर-शोर या मधुवन की हरीतिमा का अच्छा लगना या न लगना यह तो मन का एक भाव है, जो क्षणिक और आवधिक है। किन्तु इस भावना से कोयल-कूक, दादुर-शोर या मधुवन की हरीतिमा का वस्तुगत सौन्दर्य न तो फीका पड़ता है और न ही कम होता है। यदि किसी को 'अष्टछाप' के कवियों की मधुर और सुरीली झंकार अच्छी न लगे तो उसके कानों, अविकसित इन्द्रिय बोध और लुप्तप्राय मनीषा का ही दोष-युक्त परिणाम कहा जाएगा। यह कहना न्यायोचित न होगा कि अष्टछाप के कवियों की 'रागिनी' अथवा 'तान' में सौन्दर्य नहीं है। एक माँ को अपना कुरूप बेटा संसार का सबसे सुन्दरतम् बालक दिखाई देता है। किसी दीवाने को एक कुरूप नारी अच्छी लगती है। इसका मुख्य कारण उस वस्तुगत सत्ता में समाया हुआ वह आन्तरिक सौन्दर्य है, जिसके गुण पहचान कर हम उन्हें 'सुन्दर' की संज्ञा दे देते हैं। अतः समकालीन कविता 'सत्यम् शिवम् सन्दुरम्' के त्रिक् सूत्र में से 'सुन्दरम्' को लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुई है। एक बार समकालीन कविता रसविहीन होने का दर्द तो स्वीकार कर सकती है, किन्तु सौन्दर्य-विहीन होने का नहीं।

गया प्रसाद 'सनेही'
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय अतर्रा (बाँदा)
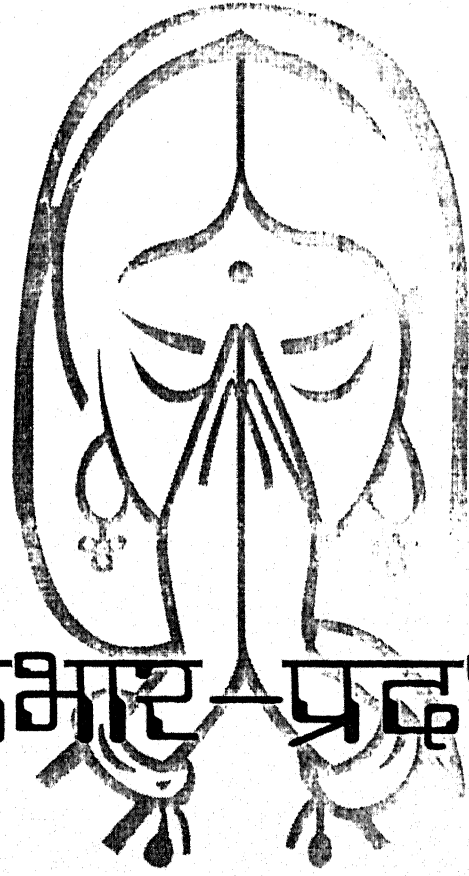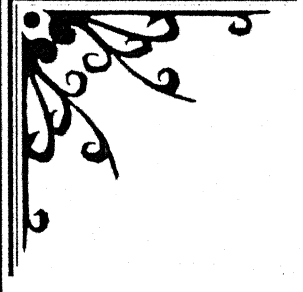
आभार-प्रदर्शन
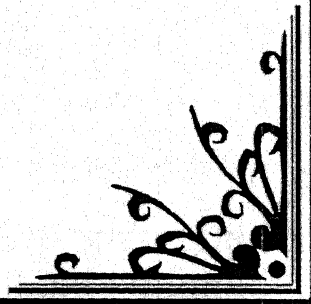
आभार

जिस प्रकार शोध-प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान करने के लिए विविध सहायक ग्रन्थों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शोध-प्रबन्ध को मौलिकता से अभिमण्डित करने के लिए विद्वानों और सहृदयों का निर्देशन अत्यन्त आवश्यक होता है। इस शोध-प्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' रीडर, हिन्दी विभाग पं0 जवाहरलाल नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय बाँदा (उ0प्र0) का अभूतपूर्व निर्देशन, सहयोग और मार्गदर्शन मिला है। समकालीन कविता और उसमें भी सौन्दर्य-बोध जैसे नवीन एवं गूढ़ रहस्यों की गवेषणा करना उनके कृपा-निर्देशन के बिना पूरी तरह असंभव था। उनके सुयोग्य निर्देशन में ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सफलता पूर्वक पूरा हुआ है। शोधकर्ता उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

शोध-सामग्री के चयन और संकलन में अपने दीर्घकालिक अनुभव से जिन सुधी विद्वानों ने मुझे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उपकृत किया है, उनमें सर्वप्रथम मैं अपने गुरुवर डॉ0 ओउम्प्रकाश अवस्थी तत्पश्चात् डॉ0 वेदप्रकाश द्विवेदी, डॉ0 शशिकान्त अग्निहोत्री, डॉ0 महावीर सिंह, डॉ0 गीर्वाणदत्त मिश्र, डॉ0 रामगोपाल गुप्त, डॉ0 विश्वम्भर दयाल अवस्थी, डॉ0 अमरनाथ दत्त गिरि, डॉ0 गीता द्विवेदी के नाम प्रमुख हैं। मैं उन सब का 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' ऋणी रहूँगा। विभाग एवं विभागेतर सहयोगियों में श्री कृष्णकुमार वाजपेयी, श्री धर्मेन्द्र सिंह यादव, श्री मनोज कुमार त्रिपाठी, श्री कपिल कुमार अग्निहोत्री, डॉ0 राजेश कुमार श्रीवास्तव, डॉ0 राजीव अग्रवाल, श्री अखिलेश कुमार चौधरी, श्री मिथलेश कुमार पाण्डेय, श्री के0बी0राम और डॉ0 किशन यादव का मैं हृदय से आभारी हूँ। जिन्होंने समय-समय पर मुझे शोध-कार्य के प्रति उत्साहित किया।
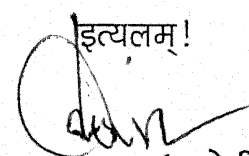
मैं अपने बाल-मित्र श्री धर्मचन्द्र मिश्र 'कट्टर' तथा काव्य-सखा श्री प्रमोद दीक्षित 'मलय' के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी काव्यमयी लयात्मक फुहारों से मेरा शोध-प्रबन्ध दिनोंदिन अभिसिंचित होता रहा। इसी क्रम में मैं अपने ग्रामपाठी-सहपाठी डॉ0 अश्विनी कुमार शुक्ल सम्प्रति प्राध्यापक हिन्दी विभाग, पं0 जे0एन0 कालेज बाँदा का नाम कैसे विस्मरित कर सकता हूँ, जिन्होंने अपने व्यस्ततम समय में से कुछ क्षण निकालकर मुझे शोध-सम्बन्धी साहित्यिक चर्चाओं से लाभान्वित किया। काव्य मर्मज्ञ श्री जयचन्द्र प्रसाद यादव

तथा अन्य कवि मित्रों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने शोध-प्रबन्ध की मूल्यवत्ता को पहचान कर मुझे बराबर प्रोत्साहित किया है।

मैं अपने पूज्य पिता श्री रामसजीवन यादव का श्रद्धा और आदरपूर्वक स्मरण करता हूँ, जिनके आत्मिक आशीर्वाद ने मुझे महाविद्यालय तक पहुँचाकर शोधार्थी बनने का स्वर्णिम अवसर दिया।

मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला यादव के उस धैर्य का धन्यवादी हूँ, जिन्होंने शोध-प्रबन्ध-लेखन के समय निशीथकाल तक जागकर मेरे मनोबल को कभी कम नहीं होने दिया। यह उनकी तपःसाधना का ही परिणाम है कि मैं पारिवारिक दायित्वों के बीच भी साहित्य और रचना के लिए समर्पित हो सका। अपनी प्रिय पुत्रियों कु0 सरिता यादव, कु0 नीलम यादव, प्रिय ज्योत्स्ना यादव तथा पुत्र आकाश यादव का स्नेहिल स्मरण आज भी मेरे लिए वरदान स्वरूप है, जिनके बाल जगत् ने मेरे कार्य में कभी व्यवधान उत्पन्न नहीं किया जो कि मेरे लिए प्रत्यक्ष सहयोग से कहीं ज्यादा बढ़कर है। अपने दोनों अनुजों - विश्वप्रताप सिंह तथा जगन्नाथ यादव का मैं वात्सल्य ऋणी हूँ, जिनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग स्वरूप यह कार्य अपना आकार ले सका है।

मुद्रण के लिए जिस रूचि और उत्साह से मेरे अभिन्न श्री अखिलेश कुमार द्विवेदी एवं उनके मौसेरे भाई शिवराजेश्वर ने कार्य किया है, वैसा उत्साह तो मुझमें भी नहीं रहा। प्रिय शिवराजेश्वर स्नातक को मैं विशेष साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने शोध-प्रबन्ध को सुन्दर आकार देने के लिए अपना अमूल्य समय और सहयोग प्रदान किया।

इत्यलम्!

गया प्रसाद 'सनेही'

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

अतर्रा स्नातकोत्तर महाविद्यालय अतर्रा (बाँदा)

अनुक्रमणिका
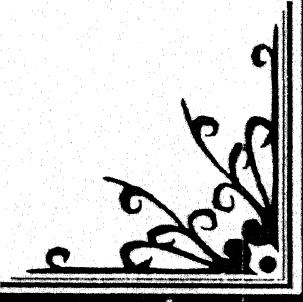
समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध का मूल्यांकन

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय 1-55

सृजन और स्वरूप

1. समकालीन कविता का अर्थ एवं स्वरूप
2. समकालीन कविता का सीमांकन व समस्याएँ
3. समकालीन कविता का विस्तार व विविध सीमाएँ
4. समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

द्वितीय अध्याय 56-84

सौन्दर्य-बोध की सैद्धान्तिक अवधारणा

1. सौन्दर्य का अर्थ एवं स्वरूप
2. सौन्दर्य-बोध तथा काव्य का सम्बन्ध
3. सौन्दर्य-बोध के विविध रूप
4. साहित्य में सौन्दर्य की उपादेयता

तृतीय अध्याय 85-94

सौन्दर्य-बोध का क्रमिक विकास

1. भारतीय अवधारणा
   - (क) वैदिक एवं औपनिषद सन्दर्भ
   - (ख) पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ
   - (ग) दर्शनिक सन्दर्भ
   - (घ) संस्कृत-साहित्य में सौन्दर्यगत सन्दर्भ
2. भारतेतर अवधारणा

चतुर्थ अध्याय 95-108

हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य-बोध की परम्परा

1. आदिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध

2. भक्तिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध

3. रीतिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध

4. आधुनिक काल में सौन्दर्य-बोध

(क) भारतेन्दु-युग

(ख) द्विवेदी-युग

(ग) छायावाद-युग

पंचम अध्याय 109-136

छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य और सौन्दर्य-बोध का नया सर्वेक्षण

1. प्रगतिवाद

2. प्रयोगवाद

3. नई कविता

4. अकविता एवं अन्य काव्यान्दोलन

षष्ठ अध्याय 137-219

समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के प्रधान रूपों का मूल्यांकन

1. वस्तुगत सौन्दर्य-बोध

(क) यथार्थवादी सौन्दर्य

(ख) मानवतावादी सौन्दर्य

(ग) लोकवादी सौन्दर्य

(घ) प्राकृतिक सौन्दर्य

(ड0) बौद्रिक सौन्दर्य

2. शिल्पगत सौन्दर्य-बोध

(क) काव्यभाषा और सृजनशीलता

(ख) पुराख्यान तत्त्व तथा कवि-समय

(ग) अलंकरण

(घ) बिम्बगत सौन्दर्य

(ड0) प्रतीकगत सौन्दर्य

(च) छन्द और लयात्मक सौन्दर्य

सप्तम अध्याय 221-248

समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के गौण रूपों का मूल्यांकन

1. आत्मगत सौन्दर्य

2. भावगत सौन्दर्य

3. उदात्तगत सौन्दर्य

4. कल्पनागत सौन्दर्य

अष्टम अध्याय 249-265

समकालीन कविता में चेतनागत सौन्दर्य

1. ऐतिहासिक चेतना

2. पौराणिक चेतना

3. धार्मिक चेतना

4. वैज्ञानिक चेतना

5. राजनीतिक चेतना

उपसंहार 266-273

ग्रन्थानुक्रमणिका 274-287
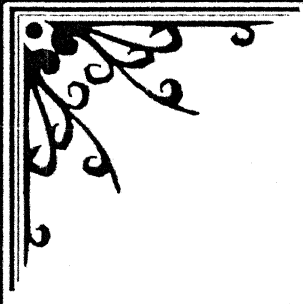
प्रथम अध्याय
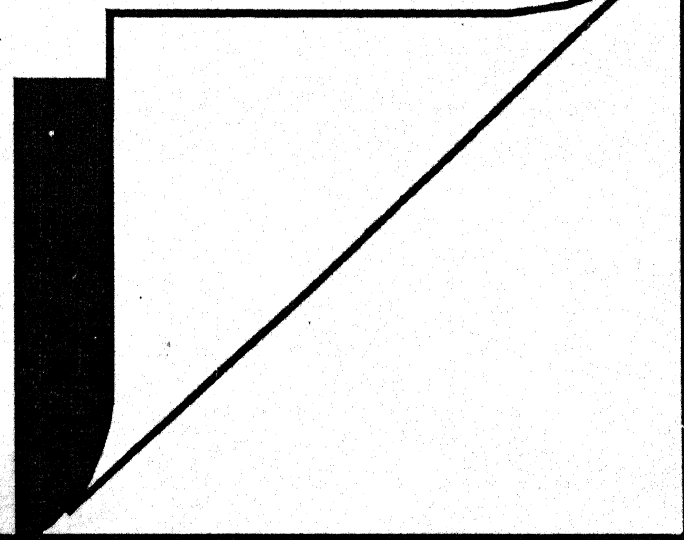
प्रथम अध्याय

सृजन और स्वरूप

1. समकालीन कविता का अर्थ एवं स्वरूप
2. समकालीन कविता का सीमांकन व समस्याएं
3. समकालीन कविता का विस्तार व विविध सीमाएं
4. समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
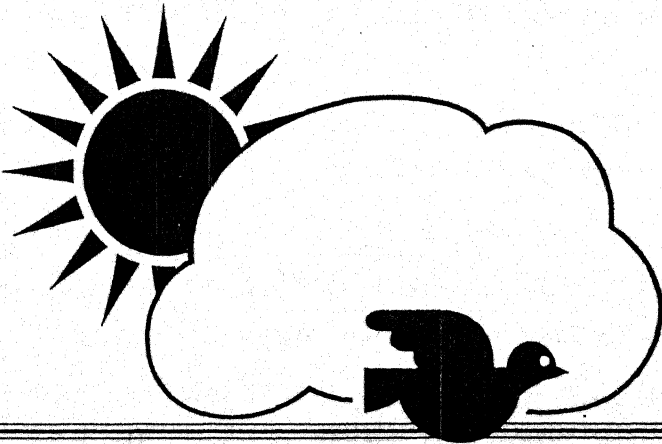
प्रथम अध्याय

सृजन और स्वरूप

1. समकालीन कविता का अर्थ एवं स्वरूप :

'समकालीन' शब्द कालवाची नहीं है, अपितु उस काल विशेष में घटित घटनाक्रमों के साथ-साथ प्रचलित कथ्य एवं रचना शिल्प को ध्वनित करता है। समकालीन कविता में प्रयुक्त यह शब्द अपने लाक्षणिक रूप में न तो कविता का विशेषण है, और न सम्बोधन; अपितु परिवेशगत सृजन की एक विशिष्ट काव्य-धारा है; जो पूरी तरह वाद मुक्त है तथा जिसमें सामाजिक यथार्थ की बेबाक अभिव्यक्ति हुई है। जो समकालीन है, वह नया है। पुरानी कविता समकालीन नहीं हो सकती। जो समकालीनता के घेरे से बाहर है, वह या तो पुराना होगा या फिर प्रगामी भविष्य का; जिसकी कोई स्थिति नहीं होती। समकालीन कविता का स्वरूप, उसकी अर्थगत चेतना एवं प्रवृत्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि उस कविता में यथार्थ की असंगतियों पर व्यंग्य-विद्रूप मुखर है।

(क) समकालीन कविता का अर्थ :

'समकालीन' शब्द का सृजन 'सम' और 'कालीन' दो शब्दों से मिलकर हुआ है। 'सम' का अर्थ है – समान, समरूप, वही, मिलता-जुलता आदि।[1] संस्कृत के कुछ ग्रन्थों में 'सम' का अर्थ 'एक समान' भी बताया गया है।[2] 'कालीन' शब्द का अर्थ है – 'किसी विशिष्ट समय (काल भाग) से सम्बन्ध रखने वाला।'[3] इस प्रकार समकालीन शब्द का सामान्य अर्थ है – 'एक ही समय से सम्बन्ध रखने वाला' अथवा 'जो एक ही समय में हुए हों'[4] काव्य-जगत में समकालीन कविता वह कविता है, जो एक समय विशेष में समान सन्दर्भों का द्योतन करती है। कविता का यह समान सन्दर्भ संकुचित न होकर नितान्त व्यापक है। जब कोई घटना किसी समाज या देश में व्यक्ति के अपने जीवन-काल में घटित हो, तो वह घटना समकालीन कही जाएगी और जब व्यक्ति उस घटना से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में प्रभावित होता हो, तो वह 'समकालीन व्यक्ति' कहा जाएगा। इस प्रकार जब कोई रचनाकार उस घटना से प्रभावित होकर उसके तथ्यों का यथार्थपरक काव्यांकन करता है, तो वह कविता 'समकालीन कविता' की अभिधा से विभूषित की जाती है।

इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि समाज में जब कोई नया चिन्तन या दौर आये अथवा कोई घटना घटे तो कवि उस घटना स्थल या मोर्चे पर जाकर ही अपनी अनुभूतियों को सँजोए, बल्कि जो परिवेश या माहौल व्याप्त हो, उससे अनुप्रेरित विचारों और भावों का संवहन होना ही समकालीन कविता है। समकालीनता के दौर में राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य में घटित होने वाली प्रत्येक समस्या का चित्रण समकालीन कवि के लिए अनिवार्य नहीं है। अपनी समसामयिक चेतना से कटकर यदि वह रचना ऊल-जलूल स्वांग रचने लगे या चाओ-माओ के कान खींचने और अयूब-भट्टो पर नकली तलवार भाँजने का काम करने लगे, तो वह कविता समकालीन नही कहलाएगी।

---

1. वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 1072

2. "यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।" – मनुस्मृति (9/311)

3. वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 273

4. नवल जी : नालन्दा विशाल शब्द-सागर, पृ0 140 4

समकालीन कविता का वास्तविक अर्थ समझने के लिए इसके कुछ पर्याय-बोधक शब्दों की भाषायी चर्चा तो अनिवार्य है ही, साथ ही गैर पयार्य-बोधक शब्दों का जो इसके सन्निकट हैं, विश्लेषण भी समीचीन होगा। इसके लिए प्रायः अद्यतन, वर्तमान, साम्प्रतिक, तत्कालीन, तत्क्षण, समसामयिक, आधुनिक, सहज आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये सभी शब्द देखने में एक दूसरे के पर्याय अथवा पर्याय के नजदीक समझ में आते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी समानार्थक शब्द एक जैसे भले ही प्रतीत हों, किन्तु व्यावहारिक रुप में इनमें सूक्ष्म अन्तर होता है। उदाहरणार्थ 'गिरिधर' और 'मुरलीधर' दोनो शब्द कृष्ण के समानार्थी हैं, पर गिरिधर कृष्ण के उस रूप के लिए है, जिसमें वे गोवर्धन पर्वत उठाते हैं तथा मुरलीधर उनके द्वारा मुरली बजाने के समय का रूप हैं। एक जनरक्षक रूप है तो दूसरा जनरंजन रूप। यही व्यावहारिक अन्तर उपर्युक्त शब्दों में भी है।

'अद्यतन' और 'वर्तमान' शब्द समय के कैनवस को बहुत छोटा करते हैं। 'अद्यतन' शब्द तो मात्र 'आठ प्रहर' अथवा 'आज' के दिन का ही द्योतक है। हिन्दी-कोशों के आधार पर 'गत आधी रात से लेकर आने वाली आधीरात तक के समय' को 'अद्यतन'[1] कहते हैं। विभिन्न शब्द-कोशों के सागर से हटकर यदि इसका लाक्षणिक और विशेष अर्थ ग्रहण करें तो अद्यतन कविता का अर्थ उस कविता से है, जो प्रारम्भ चाहे जब हुई हो; पर आज भी मौजूद है। प्रारम्भ से लेकर आज तक की लिखी गई कविताओं को भी'अद्यतन' नहीं कहा जा सकता है, क्यों कि इसके लिए 'अद्यावधि' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त बैठता है। अद्यतन कविता में एक नयापन है, किन्तु समकालीनता के समुच्चय में जो समग्रता है, वह अद्यतन में नहीं है।

'वर्तमान' शब्द से उपस्थिति, विद्यमान, मौजूद, जो 'इस समय हो' या 'चल रहा हो' आदि शब्द एवं वाक्यों का बोध होता है।[2] वर्तमान अथवा वर्तमान कविता में भूत और भविष्य अपने आप शून्य है, किन्तु यह शून्यता उसकी वर्तमानता के लिए कोई खतरा उत्पन्न नहीं करती। वर्तमान कविता के साथ जुड़ा हुआ 'वर्तमान' शब्द आधुनिक संचेतना के समाने कुछ पिछड़ा और पुराना जैसा प्रतीत होता है। वर्तमान कविता समकालीन कविता का न तो पर्याय हो सकती है और न ही उसका स्थान ले सकती है; क्योंकि जिस व्यापक परिदृश्य के लिए'समकालीन' शब्द रूढ़ हुआ है, वह व्यापकता और सार्वजनीनता 'वर्तमान' शब्द में नहीं है। समकालीन कविता में सृजन-शीलता के प्रति खतरे को उठा पाने का अपूर्व साहस है और यह साहस वर्तमान कविता में नहीं है।

'साम्प्रतिक' शब्द वर्तमान की तुलना मे ज्यादा टटका, ताजा और नया है, किन्तु इसका भी पुंजीभूत निकष वही है जो वर्तमान का है। अतः व्याकरणिक शब्द-गौरव की दृष्टि से उसका पिष्टपेषण करना अनपेक्षित है।

तत्कालीन, तत्क्षण और आशु जैसे शब्द एक ही कसौटी में ढाले हुए प्रतीत होते हैं। इनमें 'आशु' और 'तत्क्षण' एक ही घराने के है, जिनका अर्थ है- तुरन्त, जल्द, शीघ्र, उसी दम आदि।[3] तत्कालीन शब्द इनकी तुलना में अवश्य ही ज्यादा प्लुत और प्रखर है।

'तत्कालीन' शब्द जीवन के सम्पूर्ण प्रवाह को समवेत रूप में न देखकर टुकड़ों में देखता है, वह

---

1. सं. नवल जी : नालन्दा विशाल शब्द-सागर, पृ0 38

2. सं. नवल जी : नालन्दा विशाल शब्द-सागर, पृ0 1238

3. सं. वामन शिवराम आप्टे : संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 164

वर्तमान और समकालीन को अतीत और भविष्य से अलग करके देखता है। जीवन के इस असीम श्रोत को यदि सूत्रबद्धता और संलक्ष्यक्रमता के रुप मे नहीं देखा जायेगा तो दृष्टि का अभाव अपने आप नजर आने लगेगा। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान ' में तत्कालीन और समकालीन साहित्य को लेकर जो विवरण प्रस्तुत किया है, उससे इसकी भिन्नता अपने आप दृष्टिगोचर होने लगती है। उनके अनुसार- *''प्रगतिवादी साहित्य राजनीति के ढ़ंग पर मोड़ा गया, जिसमें तत्कालीनता के स्वर आद्योपान्त मौजूद हैं। प्रगतिवादी कवि समकालीन* **(Contemporary)** *के प्रति जागरूक न होकर केवल तत्कालीन* **(Immediate)** *सन्दर्भों में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि समकालीन तत्वों में जो गहराइयाँ होती हैं, वे तत्कालीन होने में नष्ट हो जाती हैं''*[1] इस विवरण से यह आभास मिल जाता है कि तत्कालीन साहित्य समकालीन साहित्य की गहराई से बहुत दूर है।

'समसामयिक' आधुनिक युग की वह देन है, जिसका अर्थ 'एक सीमा में बँधा हुआ' होता है। इसका दायरा समकालीन की अपेक्षा सीमित और संकुचित होता है। समसामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता, वह तो एक स्थिति विशेष को प्रतिबिम्बित करने का मापमात्र है। डा0 रामानुज त्रिपाठी के शब्दो में- *''उसकी (समसामयिक कविता) एकान्त स्थापना होती है कि जो कुछ आज है, वही सब कुछ है। द्वितीय विश्व युद्ध के विनाशकारी भीषण परिणामों ने इस प्रवत्ति को उभारने का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है।''*[2]

समसामयिकता और आधुनिकता के अन्तर को समझ लेना भी विषयेतर न होगा। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार - ''आधुनिकता युग विशेष का गुण है। समसामयिकता स्थिति विशेष कर आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो हमें देशकाल का बोध देती है, समसामयिकता देशकाल के बोध के साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। जिस भी देशकाल में हम हैं, उसकी सीमाएँ और विस्तार को हम समसामायिकता के यथार्थ द्वारा अनुभव करते हैं।''[3] इन दोनों के अन्तस्सम्बन्धों की चर्चा करते हुए वे आगे लिखते है- *''आधुनिकता का विस्तृत परिवेश समसामयिकता के आयाम की अपेक्षा नहीं रखता; किन्तु आधुनिक भावबोध के बाहुल्य* **(Richness)** *का साक्षात्कार और उसका अनुभव बिना समसामयिकता के वास्तविक क्रियाशीलता के सम्भव नहीं है।''*[4]

वर्तमान, आधुनिक समकालीन ये तीनों ऐसे शब्द हैं, जिनके बीच बड़ी महीन सीमा रेखा है। *''मैं इसे पारदर्शी आवरण कह सकता हूँ। आधुनिकता, समकालीनता तथा वर्तमान को देखती रहती है। जिस दिन आधुनिकता, वर्तमान से कट जाएगी, पुरानी पड़ जाएगी। वह जब तक समकालीन है तब तक आधुनिक है।''*[5]

समकालीन कविता आधुनिक युग की एक 'विशिष्ट काव्य-धारा' है, किन्तु यह आधुनिकता से भिन्न

---

1. *लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 132*
2. *सं. रामानुज त्रिपाठी : आधुनिक काव्यधारा, (भूमिका) पृ0 2*
3. *लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 265*
4. *लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 266*
5. *सं. डॉ0 दयाशंकर विजय : मधुमती (मासिक), भूमिका, (प्रसंगवश) पृ07, नवम्बर 1992, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर*

है। आधुनिकता की पहली और अनिवार्य शर्त है 'स्वचेतना' जो इसे तीव्रगामी विज्ञान से मिली है। *"इस स्वचेतना के कारण इतिहास के काल समय की अवधि की दृष्टि से धीरे-धीरे छोटे होते जा रहे हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्रायः चार सौ वर्षों का मध्यकाल केवल दो स्पष्ट युगों में विभक्त है – भक्तिकाल और रीतिकाल। मध्यकाल के साहित्यिक युग की प्रवृत्तियाँ निश्चय ही कई शताब्दियों तक प्रायः यथावत् चलती थीं, क्योंकि साहित्य का इतिहास अन्ततः रचनाकारों की प्रवृत्तियों को ही आधार मानकर लिखा गया है।"*[1] किन्तु आधुनिक काल जब से प्रारम्भ हुआ, तब से अब तक 25-25 वर्षों में कई युग समाप्त हो चुके हैं। उसका मूल कारण वर्तमान की 'स्वचेतना' है, क्योंकि 'स्व' का सबसे गहरा सम्बन्ध और सम्पर्क वर्तमान में होता है। यहीं पर समकालीन कविता की अनिवार्य शर्त सामाजिक यथार्थ है तथा 'स्वचेतना' की क्षिप्रता उसकी ऐच्छिक शर्त है। यही कारण है कि नई कविता एवं अन्य अल्पजीवी काव्यान्दोलनों के बाद जन्म लेने वाली समकालीन कविता बिना किसी विभाजन के लगभग 35 वर्ष हो चुके हैं और आज भी यथावत् मौजूद है।

(ख) समकालीन कविता का स्वरूप :

समकालीन कविता हर युग में लिखी जाती रही है और हर कवि अपनें समय का समकालीन होता है, किन्तु एक काव्यधारा के रूप में समकालीन कविता की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की देन है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि साठोत्तरी कविता का दूसरा नाम ही "समकालीन कविता" हैं, किन्तु ऐसा नही है। साठोत्तरी कविता जिसका वास्तविक प्रारम्भ सन् 1962 और 1965 में क्रमशः चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण के पश्चात हुआ, एक ऐरी सीमा रेखा है, जहाँ से हिन्दी-कविता नें नया मोड़ लिया। इस नए मोड़ की आपाधापी पूरे सातवें दशक तक चलती रही। सातवें दशक के समाप्त होते-होते कविता स्वस्थ रुप में एक नए मिजाज और तेवर के साथ उभर कर सामने आई, जिसे 'समकालीन कविता' कहा गया। इसके नामकरण के पीछे न तो कोई अन्तःकथा है और न हि कोई किंवदन्ती।

समकालीन कविता का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। उसनें सामाजिक यथार्थ के प्रत्येक पहलू को बड़ी सतर्कता से स्पर्श किया है। *आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का समुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है।* जीवन और जगत् के सर्वांग उसमें समाहित हैं। सामाजिक यथार्थ का यह विपुल स्वरूप 'समय की सही पहचान' करानें में समर्थ हुआ है। समय की सही पहचान के लिए उसने उस परिवेशबद्धता को अस्वीकार किया है, जहाँ कविता नंगी और बेलौस श्वासोच्छ्वास करती हुई अखबारी बन जाती है। सातवें दशक में रघुवीर सहाय का काव्य-संकलन 'आत्महत्या के विरूद्ध' (1967) इसी अखबारी साहित्य का पर्याय बन गया था, जिसे आलोचना स्वरूप श्रीराम शर्मा नें 'अखबारी कविता'[2] तथा सुरेन्द्र चौधरी नें 'काव्य-रिपोर्ताज'[3] कहा।

आज की वैज्ञानिक चेतना नें समकालीन कविता को विस्तार रूप देनें के लिए अपनी अप्रत्याशित सहभागिता निभाई है। उसनें समकालीन कविता को एक नए समाज या देश तक ही नहीं रहनें दिया, बल्कि इसे अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य से भी जोड़ दिया है। समस्त विश्व में कहीं भी घटित होनें वाली घटना अपनी

---

1. सं. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ0 86

2. क ख ग : 15, 1968

3. आरंभ : जुलाई, 1968

दूरी के बावजूद भी हमें प्रभावित कर लेती है और उस घटना से हमारा सीधा और गहरा सम्बन्ध हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में संवेदनशील रचनाकर यदि अपनें देश की सीमा को लाँघकर कुछ और आगे बढ़ जाए, इतना आगे कि उसमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आधार पर सारा विश्व समा जाए तो इसमें समकालीन कविता का व्यापक स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए। डा0 अशोक सिंह नें समकालीन कविता के स्वरूप पर अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुये लिखा है :- *"समकालीन कवि राष्ट्रीय समस्याओं में तो रूचि रखता ही है, साथ ही साथ वियतनाम, चीन, अमेरिका और सोवियत संघ की समस्याओं से भी अपने को जुड़ा हुआ पाता है।"*[1]

सामाजिक यथार्थ, परम्परागत अनास्था, जनवादी चेतना, वैज्ञानिक चेतना, वस्तुगत सौन्दर्य, सपाट बयानी आदि ऐसी अवधारणाएँ हैं, जिनसे समकालीन कविता के स्वरूप का निर्धारण होता है। इन सभी अवधारणाओं में मानवीय विसंगतियों का सीधा खुलासा है।

किसी युग विशेष की कविता के स्वरूप-विश्लेषण में विगत, अनागत (भविष्य) और वर्तमान के प्रति आस्था-अनास्था का बहुत बड़ा योग होता है। समकालीन कविता के स्वरूप के प्रति प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि वह केवल वर्तमान को चाहती है, भूत और भविष्य के प्रति वह पूरी तरह गूँगी व बहरी है, किन्तु उसकी सोच ऐसी नहीं है। भूत और भविष्य को वह नकारती नहीं है, किन्तु इन दोनों की तुलना में वर्तमान के प्रति वह पूरी तरह आश्वस्त है। जो भोगा जा रहा है, जो हमारे सामने है, उसके प्रति अधिक लगाव होना तथा उसके प्रति सजग रहना हर काव्य-युग की प्रथम विशेषता है। इसीलिए समकालीन कविता में वर्तमान को अतीत और अनागत की अपेक्षा कुछ अधिक आग्रहपूर्ण स्वीकृति प्राप्त है। वह जानता है कि अनागत का हिमालय उसकी प्यास नहीं बुझा सकता, विगत का खारा समुद्र उसे तृप्ति नहीं दे सकता। उसकी अनबुझी प्यास तो वर्तमान की जाह्नवी से ही बुझ सकती है। सिद्धनाथ कुमार की यह कविता दृष्टव्य है -

"क्या अनागत का हिमालय
बुझा पाएगा तुम्हारी प्यास ?
सिन्धु खारा विगत का लहरा रहा
क्या तृप्ति देगा
जीव प्यासा ?
आँख अपनी खोल देता जाह्नवी को
सामने ही जो तुम्हारे बह रही है।"[2]

सत्य तो यह है कि समकालीन कविता में वर्णित अतीत नए सौन्दर्य के साथ बोलता है, उसमें वर्णित वर्तमान जीने की अतिरिक्त शक्ति देता है तथा वर्णित भविष्य नए आलोक से मण्डित है।

समकालीन कविता को पर्यवेक्षकों एवं समालोचकों नें प्रायः भ्रामक दृष्टि से देखनें का प्रयास किया है, क्योंकि इस शब्द के पीछे उनका अन्वेषण सिद्धान्त यही कहता रहा है कि समकालीन शब्द एक स्थिति विशेज का सूचक है, वह कभी युग नहीं बन सकता। इसकी सीमा-रेखा व्यक्ति के जीवन-काल तक ही

---

1. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 171
2. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 11 पर उद्धृत

विस्तृत होती है। 'समकालीन' शब्द का प्रयोग कवि तब तक करेगा, जब तक वह जीवित हैं क्योंकि उसमें उसका वर्तमान वर्णित है। उसकी मृत्यु के बाद न तो समकालीन कहने वाला रहता है, न समकालीनता ही रहती है।

शोधकर्ता इस बात से सहमत है कि समकालीन कविता में 'समकालीन' शब्द मूलतः समाज की स्थिति विशेष का व्यंजक है, किन्तु इस बात को स्वीकार नही करता कि कवि या व्यक्ति के जीवन-काल तक ही उसकी समकालीनता बरकरार रहती है और उसके मरणोपरान्त वह समाप्तप्राय हो जाती है। वास्तव में समकालीन कविता का व्यापक विस्तार और उसके बढ़ते हुए आयाम निर्विवाद रूप में यह सिद्ध कर चुके हैं कि समकालीन कवियों की अधिकांश कविताएँ कालजयी हैं। वे कवि आज इस जगत् में नहीं हैं, किन्तु उनकी यशस्वी रचनाएँ आज भी प्रासांगिक हैं, उनकी रचनाएँ तत्कालीन बोध से विमुक्त हैं। श्रीकान्त जोशी (खण्डवा,म0प्र0) धर्मेन्द्र आलोक (उन्नाव, उ0प्र0), उमेश त्रिवेदी (उन्नाव, उ0प्र0), अशोक वाजपेयी (दिल्ली) शलभ श्रीराम सिंह (दिल्ली) राजीव सक्सेना आदि दिवंगत कवियों की रचनाएँ आज भी जीवन्त हैं। इधर नवें दशक के बाद की जो थाती रचनाएँ आ रही हैं, उनमें सार्वकालिक प्राणवत्ता है। 'राही मर राह अमर' के आधार पर रचनाकार भले न रहे, किन्तु उसकी रचना अवश्य रहेगी।

समकालीन कविता का स्वरूप अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है, क्योंकि नई पीढ़ी में उर्जा है और तलाश भी। जो चीजें अस्वीकृत हो गई हैं, उन्हें स्वीकार किया जा रहा है; अछूता को छूता बनाया जा रहा है; इसलिए कथ्य और शिल्प में सरलता है और सपाटबयानी भी। बंजर जो अभी जोते नहीं गए या पुनः बंजर होने के कगार में है, उन्हें उर्वर और गौहान बनानें के प्रयास में नए रचनाकारों की पीढ़ी अपनीं धारदार लेखनीं के साथ आगे आ रही है। समकालीन कविता के व्यापक स्वरूप का परिचय मेरे परम सुहृद एवं सहपाठी डॉ0 अश्विनी कुमार शुक्ल की 'कविता की आत्मा' शीर्षक कविता से इस प्रकार लगाया जा सकता है :

"आदि से अन्त तक / शून्य से अनन्त तक
सत्य से असत्य तक / धैर्य से अधैर्य तक
भीड़ से तन्हाई तक / शान्ति से युद्ध तक
सिद्धार्थ से बुद्ध तक / जड़ से चेतन तक
स्त्री से पुरूष तक / उत्कर्ष से अपकर्ष तक
शील से अमर्ष तक / हर्ष से विषाद तक
श्याम से श्वेत तक / एकल से समवेत तक
मेरा ही राज है/ जो कल था, वही आज है।"[1]

2. समकालीन कविता का सीमांकन व समस्याएँ :

समकालीन कविता के सीमांकन से पहले समकालीन कविता के सृष्टा पर विचार कर लेना आवश्यक है। इस विषय को लेकर प्रायः चार कवियों का उल्लेख किया जाता है-कबीर, निराला, अज्ञेय तथा मुक्तिबोध।

सामाजिक यथार्थ और इस यथार्थ की असंगतियों पर व्यंग्य -विद्रूप समकालीन कविता की प्रमुख

1. डॉ0 अश्विनी कुमार शुक्ल : कविता की आत्मा, (अप्रकाशित) पाण्डुलिपि से।

विशेषता है। इस आधार पर 'समकालीन कविता' की भूमिका लेखिका डॉ0 सुधा रणजीत नें 'कबीर' से समकालीन कविता का आरम्भ माना है। उन्होंने अपना तर्क देते हुए कहा है - ***"निरन्तर परम्परा की कोई अपेक्षा जरूरी न हो तो फिर कबीर को समकालीन कविता का प्रवर्त्तक माना जा सकता है क्योंकि विचार-बोध, काव्य-बोध और स्वभाव -बोध की दृष्टि से अधिकांश समकालीन कवि अपने किसी पूर्वज से प्रेरित होते रहे हैं तो कबीर से ही।"***[1]

किन्तु साहित्य में कालक्रम और परम्परा की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। केवल सामाजिक यथार्थ भावना और विचारणा के आधार पर ही कबीर को प्रथम प्रवर्त्तक मान लेना उचित नहीं होगा। उनकी रचना 'बीजक' विभिन्न भाषा शब्दावलियों का मिश्रित रूप है तथा कबीर से लेकर आज तक की कविता में कोई रचना-परम्परा नहीं मिलती।

डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'शब्द और मनुष्य' में समकालीन कविता के सीमांकन पर सवाल उठाकर यह निष्कर्ष दिया है कि समकालीन कविता की जो मुख्य विशेषताएँ हैं, उनके आधार पर निराला की परवर्ती कविताओं 'कुकुरमुत्ता' आदि में देखने से पता चलता है कि उनमें समकालीनता के लक्षण विद्यमान हैं। अतः समकालीन कविता का प्रारम्भ निराला से माना जाना चाहिए। इसी प्रकार का उद्धरण केदारनाथ सिंह ने भी दिया है -***"तारसप्तक की कम से कम दो प्रवृत्तियाँ (व्यंग्य विद्रूप व रोमांटिक) ऐसी हैं कि जिनका सम्बन्ध सप्तक पूर्व प्रवृत्तियों के साथ जोड़ा जा सकता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ यदि उत्तेजनात्मक संगठन के साथ किसी पहले के कवि में मौजूद हैं, तो निराला में ही।"***[2]

जिस प्रकार निराला के 'कुकुरमुत्ता' (1942) में प्रयोगवादी प्रवृत्तियों के कुछ बीज दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ये बीज पन्त के काव्य में भी है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि तार सप्तक की दो-चार विशेषताएँ कुकुरमुत्ता में विद्यमान हैं, फिर भी उन्हें प्रयोगवाद का प्रवर्त्तक नहीं माना गया। इस प्रकार यदि उनके कुकुरमुत्ता तथा अन्य परवर्ती कविताओं में व्यंग्य-विद्रूप की प्रवृत्ति हो अथवा समकालीन कविता की दो-चार विशेषताएँ हों, तो उन्हें समकालीन कविता का प्रवर्त्तक मानना उचित नहीं है।

जब हम निराला की कविता और समकालीन कविता के बीच की काव्य-यात्रा पर दृष्टिपात करते हैं, तो साफ जाहिर होता है कि दोनों के बीच रचनाकारों की तीन-तीन पीढ़ियों और काव्य प्रवृत्तियों का अन्तर है। निराला की कविता के बाद प्रगति, प्रयोग और नई कविता ये तीन काव्यधाराएँ क्रमशः आई, तब कहीं साठोत्तरी कविता अर्थात् समकालीन कविता का आगमन हुआ। इस प्रकार विकास के सारे तारतम्य का अतिक्रमण करते हुए निराला से समकालीन कविता को निःसृत होते हुए दिखाना तर्कसंगत नहीं है।

अज्ञेय आधुनिकता के प्रति सदैव जागरूक रहे हैं और विभिन्न विद्वानों ने उन्हें प्रयोगवाद का जनक मान लिया है और कुछेक ने नई कविता का भी। वे एक ऐसे विशिष्ट कवि हैं, जो नई कविता की समाप्ति के बाद भी सातवें दशक से लेकर नवें दशक तक काव्य-जगत में छाए रहे। अतः उन्हे समकालीन कविता का प्रवर्त्तक मान लेना चाहिए, किन्तु जब उनके काव्य-संग्रहो पर गहराई से विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट झलकने लगता है कि उन्हें न तो सातवें दशक की समकालीन कविता में रखा जा सकता है और

---

1. सं. डॉ0 रणजीत : अद्यतन हिन्दी कविता, भूमिका पृ0 3

2. डॉ0 केदारनाथ सिंह : आलोचना, जुलाई-सितम्बर 1967

न ही आठवें एवं नवें दशक की समकालीन कविता में। ये रचनाएँ इन दशकों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इसके अलावा अज्ञेय का व्यक्तिवाद और रुमानवाद समकालीन कविता से मेल नहीं खाता।

अभी तक जितने कवियों की चर्चा हुई, समकालीन कविता के प्रमुख कवियों में से कोई भी अपने आप को उनकी परम्परा में रखकर प्रस्तुत नहीं करता। परम्परा से जोड़ने को ही यदि प्रमुख आधार बनाया जाए तो मुक्तिबोध ही समकालीन कविता के सर्वाधिक निकट ठहरते हैं। मुक्तिबोध का काव्य-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' उनकी मृत्यु के बाद सन् 1964 में प्रकाशित हुआ। यह संग्रह नई कविता की प्रमुखधारा- 'प्रगतिशील कविता' का एक प्रौढ़ संकलन है, जिसके यथार्थ-बोध से समकालीन कवि पूरी तरह प्रभावित हुए हैं। यद्यपि इस काव्य-संग्रह की सभी कविताएँ छठें दशक में पूरी कर ली गई थीं, किन्तु रोगग्रस्तता के कारण इसका प्रकाशन उनके जीवन-काल में न हो सका। ***"सातवें दशक के कवियों ने अगर पिछले दशक के किसी कवि को अपना अगुवा या प्रिय माना है, तो केवल मुक्तिबोध को ही। इसलिए यह संकलन सातवें दशक की कविता का प्रेरणा स्रोत होने के रूप में उससे जुड़ा हुआ है।"***[1]

मुक्तिबोध वस्तुतः नई कविता के शीर्षस्थ कवि हैं और उनके काव्य में व्यक्त यथार्थ-बोध समकालीन कविता से मेल खाता है, पर उनकी अस्तित्ववादी और फैंटासी प्रवृत्ति, काव्य-शिल्प एवं शैली समकालीन कविता में नहीं दिखाई पड़ती। अतः वे समकालीन कवियों के प्रेरणा स्रोत तो हैं, प्रवर्त्तक नहीं। इस प्रकार समकालीन कविता के प्रथम प्रवर्त्तक के निश्चितीकरण की समस्या आज भी बनी हुई है।

साहित्य में किसी भी युग का सीमा निर्धारण एक नितान्त जटिल समस्या है, क्योंकि कोई भी पूर्ववर्ती युग न तो अचानक समाप्त होता है और न ही अगला युग अपने पूर्व युग की समाप्ति के बाद सद्यः अपने आगमन की घोषणा कर पाता है। दोनों ही कालों की प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से अन्तस्सम्बन्ध स्थापित करती हुई वयःसन्धि की सूचना देती रहती हैं। सुधी इतिहासकारों ने प्रायः काल-विभाजन के लिए 'प्रवृत्यात्मक बिन्दु' को मानक आधार माना है, किन्तु जब एक ही युग में समानान्तर प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं तो सीमांकन की समस्या और गहरी हो जाती है। यही समस्या समकालीन कविता के विषय में है।

सीमांकन की सबसे बड़ी समस्या एक यह भी है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में समकालीन कविता पर न तो यथोचित विचार हुआ है और न ही इस पारिभाषिक शब्दावली का सम्यक् विश्लेषण हुआ है। वहाँ पर केवल 'आज की कविता' 'वर्तमान कविता' या 'साठोत्तरी कविता' का ही उल्लेख मिलता है और इसे ही विद्वानों द्वारा समकालीन कविता का नाम दे दिया गया है।

हर कवि अपनें समय का समकालीन होता है; समकालीन कविताएँ हर युग में हुई हैं; किन्तु छायावाद और उसके पहले जो कविताएँ लिखी गई हैं; समकालीनता उनका विषय नहीं था। समकालीन कविता में समकालीन शब्द जिस अर्थ के लिए रूढ़ हुआ है, उसकी एक अलग अभिव्यंजना है और वह है -युगबोध के प्रति सच्ची ईमानदारी ओर सामाजिक यथार्थ। युगबोध और सामाजिक यथार्थ से जुड़ा हुआ कवि अपने परिवेश के प्रति कभी चाटुकार नहीं होता, एक सच्चे कल्पचेता की भाँति सामाजिक विसंगतियों का सामना करता है और लघुमानव में ही महामानव की प्राण-प्रतिष्ठा करता है।

छायावादी कविताएँ अपनें युग-बोध के प्रति खरी नहीं उतरतीं, वह विभिन्न वादों के कटघरे में चक्कर

---

1. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान : प्रस्तावना, पृ0 10

काटती रहीं; स्वप्नलोक में विचरण करती रही। उनके यथार्थ जीवन में संघर्ष है, किन्तु वह संघर्ष पलायन में निहित है, जिससे ऊबकर आगे के कवियों ने कटु यथार्थ को ग्रहण किया और इस दृष्टि से आगे की सभी काव्यधाराओं को सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह कहा जा सकता है। छायावाद में समकालीनता के कोई भी लक्षण मौजूद नहीं हैं। अनेक विद्वान और समीक्षकों ने प्रगति, प्रयोग और नई कविता को समकालीन नजरिये से देखनें की कोशिश की है, किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भ्रामक और अतिरिक्त मोह का परिचायक है। प्रगतिवाद में बड़े जोर-शोर से जिस वर्ग-चेतना की प्रतिस्थापना का प्रश्न उठाया गया है, उसमें साम्यवाद के नाम पर महामानव की अगुवाई में लघुमानव के व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा हुई है। कैलाश वाजपेयी के शब्दों में - ***"प्रगतिशील आन्दोलन में मार्क्सवादी सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति हो रही थी या फिर मानव-अनुभूतियों को सामाजिक समस्याओं के रूप में चित्रित किया जा रहा था अर्थात् मजदूर, हल, कुदाली और हड़ताल आदि ही काव्य के गिने-चुने विषय रह गये थे, कविता कम।"***[1]

अतः समकालीन कविता के दायरे में प्रगतिवादी रचनाओं को नहीं रखा जा सकता। इस युग के जो कवि मार्क्स से प्रभावित नहीं है, उनकी रचनाओं में यद्यपि गर्जन-तर्जन कम है, किन्तु समकालीनता का तारतम्य वहाँ से कभी प्रारम्भ नहीं हुआ और यदि हुआ भी हो, तो एक-आध रचनाओं से रचनाकार कभी समकालीन नहीं बनता।

प्रयोगवाद युग से समकालीन कविता का प्रारम्भ मानना तो नितान्त अन्याय है। कहीं-कहीं पाठ्यक्रम के सुधी निर्माता प्रयोगवादी रचनाओं को समकालीन कविता के पाठ्यक्रम में रख देते हैं, यह लोभ उचित नहीं है। समकालीन कविता की बेबाक अभिव्यक्ति का सामना प्रयोगवादी रचनाएँ कभी नहीं कर सकतीं। प्रयोगवाद में ह्रासोन्मुखी कल्पना, विकृत तथा बेढंगी उपमाएँ ज्यादा हैं, कविता में कौतुक की वृद्धि अधिक हुई है, कला की कम। प्रयोगवादी कवि फ्रायडीयन वासनावाद में फँसकर समाज को तरजीह नही दे सका। उसकी स्थिति हिप्पियों और बीटलों जैसी है। डा0 गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार - ***"जिस प्रकार हिप्पी लोग न तो अपने वैयक्तिक जीवन के प्रति वफादार कहे जा सकते हैं और न वे समाज के दायित्व के प्रति जागरूक होते हैं, प्रयोगवादी कवियों की भी यहीं स्थिति है।"***[2]

जहाँ तक नई कविता का प्रश्न है, उसकी बहुत सारी विषय-सामग्री और उसका भाव-बोध समकालीन कविता से मिलता-जुलता है। उसमें व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रस्थान करने की योजना है, लघु मानव के प्रति सतर्कता का भाव है, रूप-विरुप साम्य है, लोक-सम्प्रक्ति का सहज चित्रण है, राष्ट्रीय चेतना है किन्तु नई कविता में वह जनवादी चेतना नहीं है, जो समकालीन कविता का प्राण है। इसके अलावा नई कविता में नया शिल्पगत सौन्दर्य उभारने के लिए- त्रिकोण, त्रिभुज, कोष्ठक-चिह्न, धन-चिह्न, निर्देशक-चिह्न, अधूरे वाक्य आदि जिन गणितीय-चिह्नों का प्रयोग किया गया है, भाषा की असमर्थता देखकर उसमें नया अर्थ भरा गया है, वह एक प्रकार का खिलवाड़ है। डॉ0 ओमप्रकाश अवस्थी के शब्दो में - ***"यदि उसका दूसरा चरण अमेरिका के क्यूमिंग्ज और ह्विटमैन के पास है तो बाँहें बँगला छंदो के प्रयोगों तक हैं।"***[3] इस प्रकार नई कविता का नितान्त समसामयिक क्षण-बोध, सौन्दर्य को भोगने की उद्दाम लालसा,

---

1. *डॉ0 कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ0 264*
2. *डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत : नवीन साहित्यिक निबन्ध, पृ0 264*
3. *डॉ0 ओउम्प्रकाश अवस्थी : नयी कविता : रचना-प्रक्रिया, पृ0 237*

व्यक्तिगत सीमाओं का आग्रह आदि प्रवृत्तियाँ उसे समकालीनता के दायरे से बाहर कर देती हैं।

रही बात सातवें दशक में नई कविता की परिसमाप्ति के बाद सन् 1965 में 'अकविता' के आगमन की और उसके बाद नई कविता एवं अकविता से पार्थक्य-बोध दर्शाने वाले विभिन्न काव्यान्दोलनों की; सन् 1965 के बाद मुख्य रूप से अस्वीकृत कविता,युयुत्सावादी कविता, सहज कविता, अप्रस्तुत कविता, विद्रोही कविता, विजप आदि काव्य-धाराएँ प्रकाश में आईं। इसके अलावा अमेरिका की 'बीट पीढ़ी' इग्लैण्ड की 'हंगरी पीढ़ी' तथा जापान की 'हैपनिंग पीढ़ी' के प्रभाव स्वरूप भूखी पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी तथा नंगी पीढ़ी का भी ताबड़-तोड़ आगमन हुआ। ये सभी काव्यान्दोलन'अस्तित्व बोध' और 'यौन-सम्बन्ध' की आपाधापी से पीड़ित थे। इसके बीच समकालीन कविता के 'बीज' ढूँढ़ना और 'सीमा-सिहद्दा' निश्चित करना लोहे के चने चबाने के बराबर है।

सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में सन् 1968 में 'प्रतिश्रुत पीढ़ी' का उदय होना एक ऐतिहासिक घटना है। समकालीन कविता की दृष्टि से यह पीढ़ी अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। यह डॉ0 रणजीत द्वारा सन् 1968 में संपादित बीकानेर से प्रकाशित आठ कवियों का संकलन है; जिसमें मृत्युजंय उपाध्याय, निरंजन महावर, श्याम सुन्दर घोष, कुमारेन्द पारसनाथ सिंह, जुगमिन्दर तायल, अजित कुमार पुष्कल, राजीव सक्सेना और रणजीत की 100 कविताएँ सम्मिलित हैं। प्रतिश्रुत पीढ़ी को ही प्रतिश्रुत या प्रतिबद्ध कविता की अभिधा दी गई है। समकालीन कविता के सभी संभावित प्रतिमान प्रतिश्रुत कविता में पाये जाते हैं। अतः समकालीन कविता का प्रौढ़ सीमाकंन इसी सकंलन के बाद से सटीक बैठता है, जिसका श्रेय सकंलन संपादक डॉ0 रणजीत को दिया जा सकता है। इसके अलावा इसी दशक(7 वें दशक) के उत्तरार्द्ध में लोहियावादी समर्थकों - रमेश कुन्तल मेघ, शलम श्रीरामसिंह तथा धूमिल जैसे वामपंथियों का यथार्थवादी स्वर भी 'वाम कविता' के माध्यम से गूँज रहा था, ये कवि कविता को शोषण के विरुद्ध हथियार के रुप में इस्तेमाल कर रहे थे; किन्तु इस यथार्थवादी स्वर के गूँजने की कोई नियत तिथि नहीं है। अतः1965 से 1970 तक की कविता को समकालीन कविता की प्रारम्भिक प्रस्तावना माना जा सकता है।

सीमांकन सम्बन्धी अन्य विद्वानों के विचार व समस्याएँ:

✷ समकालीन कविता के सीमांकन के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग आख्याएँ प्रस्तुत की है। डॉ0 अशोक सिंह ने समकालीन कविता का प्रारम्भ सन् 1962 और 1965 के बाद माना है। उनका कथन है- **"सन् 1962 में चीन के साथ तथा सन् 1965 में पाकिस्तान के साथ जो युद्व हुए, उनके उपरान्त व्यापक मोह-भंगो के दौर में गुजरते हुए कवियों ने यह अनुभव कर लिया था कि यथार्थ जीवन की स्थितियों और समस्याओं से कटकर नहीं जिया जा सकता। इससे कविता में यथार्थ की बेबाक अभिव्यक्ति को महत्व मिला, जिसके परिणाम स्वरूप समकालीन हिन्दी कविता में असंतोष, अस्वीकृति, मोहभंग और विद्रोह का स्वर उभरा। इससे समकालीन हिन्दी कविता की प्रगति, प्रयोग और नई कविता से अलग पहचान उभरी।"**[1]

डॉ0 अशोक सिंह की उपर्युक्त आख्या से स्पष्ट है कि समकालीन कविता प्रगति, प्रयोग और नई कविता से पूरी तरह भिन्न है। समकालीन कविता में उभरने वाली भिन्नता सूचक पहचान साहित्य-जगत में सन् 1962 और 1965 के चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण के बाद परिलक्षित होने लगी थी।

---

1. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, 'प्राक्कथन' से

✷ डॉ0 गोविन्द रजनीश ने समकालीन कविता को साठोत्तरी कविता कहा है और उसकी सीमा-रेखा सन् 1962 के चीन के आक्रमण के बाद निर्धारित की है। उन्होंने अपने एक लेख 'सातवें दशक की कविता' में लिखा है-"**साठोत्तरी कविता जिसका वास्तविक प्रारम्भ सन् 1962 के चीनी आक्रमण के पश्चात हुआ, एक ऐसी सीमा-रेखा है, जहाँ से हिन्दी कविता ने एक नया मोड़ लिया** x x x x x **यह निर्विवाद सत्य है कि साठोत्तरी पीढ़ी का स्वर अपने समय के स्वर से अधिक जुड़ा हुआ है।**"[1]

डॉ0 गोविन्द रजनीश ने अपने कथन में स्पष्ट खुलासा कर दिया है कि चीनी आक्रमण के बाद कविता का स्वर अपने युगबोध से पूरी तरह जुड़ा हुआ था। अपने युगबोधीय चित्रों से संश्लिष्ट होना समकालीन कविता की सबसे बड़ी पहचान है।

✷ डॉ0 मोहन अवस्थी ने अपने 'हिन्दी सहित्य के अद्यतन इतिहास' में 'वर्तमान कविता' नामक शीर्षक के अन्तर्गत धूमिल की एक कविता का उल्लेख किया है, जिससे समकालीन कविता के सीमाकंन में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है-

> **" छायावाद के कवि शब्दों को तोल कर रखते थे**
> **प्रयोग के कवि शब्दों को टटोल कर रखते थे**
> **नई कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे**
> **सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोल कर रखते हैं।"**[2]

डॉ0मोहन अवस्थी यह दर्शाना चाहते है कि शब्दों को खोल कर रखना या उसकी बेबाक अभिव्यक्ति देना साठोत्तरी कवियों की सबसे बड़ी पहचान है। इनके शब्द खुले हुए, असंदिग्ध और अर्थवान है। इससे समकालीन कविता का निर्धारण-वर्ष सन् 1960 के बाद ठहरता है।

✷ डॉ0 रणजीत ने समकालीन कविता का प्रारम्भ सन् 1960 के बाद अथवा उसके आस-पास माना है। उनके अनुसार- "**इस कविता की काल की दृष्टि से सीमा-रेखा सन् 1960 ही है अर्थात समकालीन कविता का वास्तविक प्रारम्भ 60 के बाद ही हुआ और इसको जो सबसे पहले नाम दिया गया था, वह भी साठोत्तरी कविता ही था ।**"[3]

सन् 1960 के पहले तीन सप्तक प्रकाशित हो चुके थे। इसके विरोध में डॉ0 चतुर्वेदी का 'प्रारम्भ' कविता -सकंलन 1963 में प्रकाशित हुआ, जो साठोत्तरी कविता के स्वरुप निर्धारण का एक दस्तावेज कहा जा सकता है। सातवें दशक की कविता का प्रारम्भ डॉ0 जगदीश चतुर्वेदी द्वारा संपादित और 1963 में प्रकाशित चौदह कवियों के संयुक्त संकलन 'प्रारम्भ' से ही होता है। इस संकलन में पहली बार संकलित कवियों की ओर से संपादक ने अपनी पीढ़ी को 'नई कविता' की परम्परा से तोड़कर प्रस्तुत किया है। इस संकलन की भूमिका में कहा गया है-"**इधर के कवि उस मैनरिज्म (अभिव्यंजना रुढ़ि) से मुक्ति पाते जा रहे है, जो कि पहले वर्षो में प्रकाशित तमाम नई कविताओं (तीसरे सप्तक के अधिकांश कवियों) में दिखाई देती है।**"[4]

---

1. *डॉ0 गोविन्द रजनीश : समसामयिक हिन्दी कविता : विविध परिदृश्य, पृ0 165*
2. *डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी-साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 331*
3. *डॉ0 रणजीत : अद्यतन हिन्दी कविता, भूमिका पृ0 2*
4. *डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, प्रस्तावना, पृ0 10 पर उद्धृत*

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्तर पर सभी विद्वान इस बात पर सहमत हैं कि चीन और पाकिस्तान के युद्ध के बाद कविता ने नया मोड़ लिया और यह मोड़ पूर्ववर्ती कविताओं से सर्वथा भिन्न था । सातवें दशक की काल-अवधि में भारत के साथ होने वाले पाकिस्तानी युद्ध क्रमशः 1962 और 1965 में हुए, अतः यह बात साफ हो गई कि नई कविता की समाप्ति के बाद कवियों ने यह अनुभव कर लिया था कि अब यथार्थ जीवन से मुँह मोड़कर एक पल भी नहीं जिया जा सकता। हिन्दी कविता के ऐतिहासिक विकास-क्रम के आधार पर चूँकि' नई कविता ' का समापन 1964 में तथा' अकविता' का आगमन 1965 में हुआ, अतः 1965 से नया मोड़ लेने वाली कविता को समकालीन कविता तो नहीं, किन्तु उसका प्रारम्भिक स्वरूप कहा जा सकता है। सन् 1965 के बाद नई कविता से पार्थक्य-बोध दर्शाने वाली जितनी भी काव्यधाराएँ आईं, उनमें प्रतिश्रुत कविता(1968) और वाम कविता का स्वर अत्यन्त ऊँचा, समकालीन और अपने समय से जुड़ा हुआ था। अतः सन् 1965 से लेकर 1970 तक की समग्र कविताओं को समकालीन कविता की पूर्वपीठिका स्वीकार किया जा सकता है और इस आधार पर प्रतिश्रुत कविता के बाद अर्थात् सन् 1970 से समकालीन कविता का वास्तविक प्रारम्भ माना जा सकता है।

3. समकालीन कविता का विस्तार व सीमाएँ:-

समकालीन कविता के विस्तार हेतु कुछ विद्वान उसकी परम्परा को साठोत्तरी कविता से पूर्व ले जाना चाहते है। उनकी यह सोच अनैतिहासिक है। उदाहरण के लिए डॉ0 सुखवीर सिंह ने अपने एक लेख 'समकालीन कविता और विविध काव्यान्दोलन' में समकालीन कविता को निम्नलिखित तीन दौरों में बाँट कर देखा है।

1. "पहला सन् 1950--1960 के मध्य नई कविता का दौर, जिसकी मुख्य धारा 'नई कविता' है।
2. दूसरा सन् 1960 -1970 के बीच साठोत्तरी कविता का दौर, जिसकी मुख्य धारा 'अकविता' है।
3. तीसरा सन् 1970 -1980 के बीच का साठोत्तरी दौर, जिसकी मुख्य धारा 'विचार कविता' है।"[1]

इसी गतानुगतिक परिपाटी का अक्षरशः अनुगमन डॉ0अशोक सिंह ने भी किया है और कहा है - **"इस प्रकार से समकालीन कविता के तीन दौर हुए, जिनमें मुख्य रूप से तीन ही अन्दोलन उभर कर समाने आये।"[2]**

उपर्युक्त आवंटन नितान्त भ्रामक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने प्रथम दौर के आवंटन में समकालीन कविता की समग्र विशेषताओं पर ध्यान न देकर कुछ विशिष्ट कवियों की विशिष्ट कविताओं का आकलन किया है। इसी प्रकार उनका अन्तिम आवंटित दौर आपत्तिजनक है, क्योकि समकालीन कविता एक ऐसी प्रवाहमान धारा है, जिसकी गति आज तक अनवरत् चल रही है, उसे सन् 1980 तक के दायरे

1. सं. डॉ0 विनय और पाराशर : समकालीन हिन्दी कविता "संवाद", पृ0 29-30 सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1983

2. डॉ0 अशोक सिह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 14

में बाँध देना उसके संकुचन को स्वीकार करना है।

इतना अवश्य है कि नई कविता की अनेक काव्यधाराओं में से उसकी एक विशिष्ट शाखा- 'नई प्रगतिशील कविता' है, जिसका सम्बन्ध समकीलन कविता से हो सकता है। 'नई प्रगतिशील कविता' से जुड़े हुए मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेरबहादुर सिंह, दुष्यन्त कुमार, रामदरस मिश्र आदि कवि तथा रूमानी कविता (अज्ञेय स्कूल) से जुड़े हुए- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, केदार नाथ सिंह, कुँवर नारायण आदि कवियों का समकालीन कविता के संवर्द्धन में अभूतपूर्व योगदान है, क्योंकि इन कवियों ने अपने काव्य-जीवन का प्रारम्भ तो नई कविता से किया था, पर धीरे-धीरे वे उस यथार्थ-बोध के निकट आते गये जो समकालीन कविता की एक मूलभूत विशेषता है। विभिन्न दशकों के आधार पर समकालीन कविता के विस्तार को निम्नलिखित वर्गो में बाँटा जा सकता है-

(क) प्रथम वर्ग : सातवें दशक की उत्तरार्द्ध कविता (सन् 1965-1970 तक)
(ख) द्वितीय वर्ग : आठवें दशक की कविता (सन्1970-1980 तक)
(ग) तृतीय वर्ग : नवें दशक की कविता (सन्1980- 1990 तक)
(घ) चतुर्थ वर्ग : नवें दशक के बाद से आज तक (सन् 1990 से अब तक)

(क)सातवें दशक की उत्तरार्द्ध कविता (सन् 1965 से 1970 तक) :

हिन्दी काव्य-जगत् में सातवें दशक का उत्तरार्द्ध सन् 1965 से 1970 माना जाता है। वैसे इस काल- अवधि में गैर समकालीन कवियों - दिनकर[1], अज्ञेय[2], शम्भूनाथ सिंह[3], केदारनाथ अग्रवाल[4], शिवमंगल सिंह 'सुमन',[5] मुक्तिबोध,[6] भवानीप्रसाद मिश्र,[7] भारतभूषण,[8] रामदरश मिश्र,[9] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना,[10] और डॉ0देवराज,[11] जैसे अनेक कवियों के कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उन्हें सातवें दशक की कविता की संज्ञा नहीं दी गई।

इससे स्पष्ट है कि वे रचनाएँ जो समकालीनता के अन्तर्गत सातवें दशक की विशेषताओं और चेतनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उनका परिसीमन इस दशक के अन्तर्गत नहीं किया गया।

साहित्येतिहास की दृष्टि से इस दशक में अकविता का आन्दोलन सबसे ज्यादा जीवंत माना जाताहै। जिस प्रकार 'नई कविता' आन्दोलन की प्रतिष्ठा 'नई कविता' नामक पत्रिका से हुई, उसी प्रकार अकविता अन्दोलन भी 'अकविता' पत्रिका से ही प्रतिष्ठित हुआ। इसके प्रवर्तक डॉ0 जगदीश चतुर्वेदी थे। इस अन्दोलन का प्रारम्भ जगदीश चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित और सन् 1963 में प्रकाशित 14 कवियों के संयुक्त संकलन 'प्रारम्भ' से माना जाता है। संकलन की पूरी रूपरेखा सप्तकों की प्रतिक्रिया में प्रस्तुत की गई है। 'प्रारम्भ'

---

1. दो चट्टानें - 1965
2. कितनी नावों में कितनी बार - 1967
3. खण्डित सेतु - 1967
4. आग का आइना - 1970
5. विन्ध्य हिमाचल - 1966
6. चाँद का मुँह टेढ़ा है - 1964
7. कम्पित है दुख - 1968
8. एक उठा हुआ हाथ - 1970
9. पक गई है धूप - 1969
10. एक सूनी नाव - 1966
11. इतिहास-पुरुष - 1965

में प्रत्येक सप्तक से दोगुने अर्थात् 14 कवि रखे गए हैं। सप्तकों की एक और शिष्ट परंपरा को तोड़ा गया है। जहाँ तारसप्तक के सम्पादक उसके अन्तिम कवि थे, वहाँ 'प्रारम्भ'[1] के संपादक अपने को ही प्रथम कवि के रूप में प्रस्तुत करने का लोभ नहीं छोड़ पाए हैं।[2]

सातवें दशक के उत्तरार्द्ध की कविता पर परिवेशगत प्रभाव सन् 1962 और 1965 में होने वाले चीनी और पाकिस्तानी संघर्ष से ही प्रारम्भ हो गया था। इन युद्धों की विभीषिकाओं के उपरान्त बुद्धिजीवियों को पहली बार एहसास हुआ कि हमारी विदेश-नीति, रक्षा और गृह-नीति कितनी असफल रही है। इस दशक की अन्य प्रमुख राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं में लालबहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्रित्व, ताशकंद-समझौता, 1967 के चुनाव मे पहली बार में कांग्रेस की हार और अनेक प्रान्तो में गैरकांग्रेसी सरकारों का निर्माण, 1969 में राष्ट्रपति-पद के चुनाव में पहली बार कांग्रेस के आधिकारिक उम्मीदवार की पराजय, कांग्रेस का विभाजन तथा नये स्वतंत्र गणराज्य बांग्लादेश का जन्म हुआ।

इसके अलावा पाश्चात्य देशों में मूल्यों का विघटन, पलायनवादी स्वर, मेक्सिको, फ्रांस और इण्डोनेशिया का छात्र-अरांतोष, यौन प्रसंगो की भरमार एवं अस्तित्व के प्रति विद्रोह आदि के कारण अमेरिका में 'बीटपीढी', इग्लैएड़ में 'हंगरी पीढ़ी' तथा जापान में 'हैपनिंग पीढ़ी' का जन्म हुआ। इन सभी घटनाओं ने सातवें दशक की कविता को प्रभावित किया और इस दौड़ में नाम कमाने के लिए समूहवाची तथा नए-नए नामों की आपाधापी शुरू हो गई। डॉ0 नगेन्द्र ने इन अल्पजीवी काव्यान्दोलनों को 'नए-नए नामों का शोर'[3] डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'नए-नए नामों का दौर',[4] डॉ0 मोहन अवस्थी ने 'नए-नए नाम',[5] और डॉ0 रणजीत ने 'नाममात्र का आन्दोलन'[6] कहकर सम्बोधित किया है। डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'नई कविता के आठवें अंक' में 'किरिम-किरिम की कविता' नाम से एक लेख लिखा, जिसमें नई कविता के मुकाबले में खड़े होने वाले 40 से ऊपर नामों की सूची दी। वास्तव में इस दशक की कविता एक विभाजित कुटुम्ब के समान है, जिसका हर सदस्य डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाता है और सम्पूर्ण परिवार के भरण-पोषण का दावा करता है। डॉ0 जगदीश गुप्त के अनुसार- **"हर व्यक्ति के हाथ में सितार और सन्तूर है, जिसके बलबूते पर वह अपने को तानसेन का उत्तराधिकारी सिद्ध करने में लगा हुआ है।"**[7] इसे देखकर डॉ0

---

1. चौदह कवि - जगदीश चतुर्वेदी, कैलाश वाजपेयी, नरेन्द्र धीर, राजकमल चौधरी, केशु, ममता अग्रवाल, श्याम परमार, विष्णुचन्द्र शर्मा, श्याममोहन श्रीवास्तव, मनमोहिनी, रमेश गौड़, राजीव सक्सेना, स्नेहमयी चौधरी और नर्मदा प्रसाद त्रिपाठी।

- डॉ0 सुधाराजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, पृ0 10 पर उद्धृत।

2. उपरिवत् : पृ0 10

3. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ. 655

4. कवितान्तर : पृ0 65

5. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 317

6. अद्यतन हिन्दी कविता : भूमिका, पृ0 10

7. डॉ0 जगदीश गुप्त : कवितान्तर, पृ0 68

जगदीश गुप्त माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा सुना हुआ यह श्लोक उद्घृत करते हैं-

'घटं छिद्यात् पटं छिद्यात् कुर्यात् रासभरोहरणम्
येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरूषो भवेत।।'[1]

अर्थात् जैसे-तैसे प्रसिद्धि पाने के लिए जैसे कोई आतुर व्यक्ति घड़ा तोड़ दे, कपड़े फाड़ डाले अथवा गधे में सवारी करने लगे, ठीक वही स्थिति इस दशक के कवियों की थी। साठोत्तरी कविता के प्रमुख आन्दोलन निम्नलिखित हैं-

(i). अकविताः

अकविता साठोत्तरी कविता का प्रथम आन्दोलन है। डॉ0 जगदीश चतुर्वेदी जब नई कविता से जुड़ने में असफल हो गये, तब नई कविता के विरोध में सन् 1963 में 'प्रारंभ शीर्षक से 14 कवियों का एक काव्य-संग्रह प्रकाशित किया और कहा कि वे एक अभिनव काव्य की स्थापना करने जा रहे हैं। इस अभिनव काव्य को ही उन्होंने एन्टी पोएट्री (Anty Poetry) अर्थात् 'अकविता' नाम दिया। बाद में सन् 1965 में 'अकविता' पत्रिका में इसका अनुमोदन हुआ और जगदीश चतुर्वेदी इसके प्रवर्तक बने। इसके प्रमुख कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, राजकमल चौधरी, गंगाप्रसाद विमल, श्याम परमार, सौमित्र मोहन, मोना गुलाटी, चन्द्रकान्त देवताले आदि प्रमुख हैं। आगे चल कर जगदीश चतुर्वेदी ने सन्1967 में दिल्ली से 'विजप' नामक एक कविता-सकंलन निकला, जिनमें तीन घोषित अकवितावादियों को स्थान मिला - गंगाप्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार।

(ii) विद्रोही पीढ़ी :(1966)

यह सन् 1966 में केशनीप्रसाद चौरसिया द्वारा सम्पादित एवं इलाहाबाद से प्रकाशित 48 पृष्ठों का एक लघु काव्य-संकलन है। इसमें आठ कवियों- केशनीप्रसाद चौरसिया, नीलकान्त, सुरेन्द्रपाल, बालकृष्ण उपाध्याय, अजित पुष्कल, शलभ श्रीरामसिंह तथा त्रिलोकी नाथ श्रीवास्तव आदि की कविताएँ संकलित हैं। इस संकलन के कवियों में 'प्रतिश्रुत पीढ़ी' का स्वर विद्यमान है।

(iii) अस्वीकृत कविता : (1966)

सन् 1966 में श्रीराम शुक्ल ने 'अस्वीकृत कविता' की स्थापना 'उत्कर्ष' पत्रिका के माध्यम से की। अन्य सहयोगी कवि शरद् और मुद्राराक्षस हैं। उन्होंने संभोगानुभव को ही काव्योत्कर्ष का प्रमुख कारण माना और 'मरी डुई औरत के साथ संभोग' शीर्षक कविता लिखकर अपने सिद्धान्त की खुले दिल से व्याख्या करते हुये कहा है-

"सम्भोग का अनुभव ही पर्याप्त है
सात महाकाव्य लिख ले जाने के लिए।"[2]

(iv). युयुत्सावादी कविता : (1966)

शलभ श्रीरामसिंह के प्रयास से सन्1966 में कलकत्ता से प्रकाशित 'युयुत्सा' पत्रिका के द्वारा इस कविता का आरम्भ हुआ। इन्होंने साहित्य-सर्जन की मूल प्रेरणा आदिम युयुत्सा को ही ठहराया है। इसे

---

1. डॉ0 जगदीश गुप्त : कवितान्तर, पृ0 68 पर उद्धृत
2. डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 317

मूमूर्षावादी या जिजीविषावादी कविता भी कहते हैं। इसके प्रमुख कवि राजीव सक्सेना, शरद, चन्द्रमौलि उपाध्याय तथा उमेश प्रमुख हैं। ये सभी कवि यौन-कुंठा और रुग्णता से प्रभावित हैं।

(v) सहज कविता : (1967)

इस आन्दोलन का प्रारम्भ डॉ0 रवीन्द्र कुमार ने 1967 में किया। सहज कविता नए सिरे से कविता की खोज करना चाहती है। भावी कविता की खोज के सम्बन्ध में डॉ0 जगदीश गुप्त ने लिखा है -**" अगर आप इस खोज-मंत्रणा को स्वीकार नहीं करते तो आप की आस्था और ईमानदारी खतरे में है.. ....शीघ्र आधुनिक हो जाने की उतावली में कही गई बहुत सी बातें कुछ वैसी ही वत्सलता उपजाती है, जैसे 'भैया कबहिं बढ़ेगी चोटी' से उपजता रहा है।"**[1]

(vi). प्रतिश्रुत पीढ़ी : (1968)

प्रतिश्रुत पीढ़ी समकालीन कविता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पीढ़ी है। सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में जन्म लेने वाली यह वही पीढ़ी है, जो प्रतिश्रुत कविता में परिवर्तित होकर समकालीन कविता को कई-कई दशकों तक आगे ले जाती है। यह रणजीत द्वारा सन् 1968 में सम्पादित और बीकानेर से प्रकाशित आठ कवियों का वह काव्य-संकलन है, जिसमें मृत्युंजय उपाध्याय, निरंजन महावर, श्यामसुन्दर घोष, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, जुगमिन्दर तायल, अजित पुष्कल, राजीव सक्सेना और रणजीत की सौ कविताएं संकलित हैं। वास्तव में सातवें दशक के उत्तरार्द्ध का यह प्रतिनिधि संकलन है। यदि इस संकलन में तीन कवि- रमेश कुन्तल मेघ, शलभ श्रीरामसिंह तथा धूमिल भी संकलित होते, तो निश्चय ही यह इस धारा का एक समग्र संकलन हो जाता ।

(vii). अप्रस्तुत कविता :

यह संकलन सातवें दशक की कविता के आम चेहरे का सही चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यह संकलन नवल और उर्मिला द्वारा संपादित तथा कलकत्ता (वर्तमान कोलकाता) से अलग-अलग समय पर छः खण्डों में प्रकाशित है। इसमें सातवें दशक की सभी धाराओं के अन्य महत्वपूर्ण कवियों की कविताएँ संकलित करने का प्रयास किया गया है, जिसके कारण 'विजप' या प्रतिश्रुत पीढ़ी की तरह इसका कोई निश्चित व्यक्तित्व नहीं बन पाया है।

उपर्युक्त काव्यान्दोलनों को देखने से पता चलता है कि सभी संयुक्त संकलनो के नामकरण भले अलग अलग हों, किन्तु बात करने का ढंग एक दूसरे की छायाप्रति जैसा प्रतीत होता है। यदि हम नवगीतकारों को छोड़ दें तो इस दशक में प्रधान रूप से केवल दो अन्तर्धाराएँ दिखाई देती हैं - पहली अन्तर्धारा में 'अकविता' के सम्पूर्ण कवियों तथा इससे बाहर रहकर काम करने वाले उन समस्त कवियों को लिया जा सकता है, जो मुख्यतः मृत्युबोध और यौनवाद से प्रभावित हैं। दूसरी अन्तर्धारा में प्रतिश्रुत पीढ़ी के कवियों के साथ-साथ उन कवियों को भी जिनमें विद्रोह का स्वर मुखरित है, लिया जा सकता है। केदारनाथ सिंह और परमानन्द श्रीवास्तव भी इन्हीं दो काव्यधाराओं को मुख्य मानते हैं और इन्हें क्रमशः 'अकविता' और 'प्रतिबद्ध कविता' नाम देते हैं।[2]

---

1. डॉ0 जगदीश गुप्त : कवितान्तर, पृ0 66

2. केदारनाथ सिंह : सन् साठ के बाद की हिन्दी कविता, धर्मयुग, 4 जुलाई, 1965 एवं. डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव : आज की कविताः अकविता और प्रतिबद्ध कविता, लहर कवितांक, नवम्बर 1966

अकविता का आन्दोलन निषेध और नकार का आन्दोलन है। ये समाज की हर परम्पराओं को नकारते हैं। सामाजिक विडम्बनाओं और विसंगतियों के प्रति प्रकट किया गया आक्रोश कभी-कभी अश्लील हो जाता है। डॉ0 अशोक सिंह के अनुसार - **"ये कवि यौन-सम्बन्धों को मात्र अश्लील कहकर त्यागते नहीं हैं, बल्कि उसे पूरी घृणा और प्रेम के साथ चित्रित करते हैं। इसलिए ये कभी-कभी वर्जित प्रदेश की सीमाओं को नकार कर आगे अग्रसर होते हैं।"**[1] जगदीश चतुर्वेदी की विजप (1967) काव्य-संकलन में संकलित कविता का एक नमूना देखिए-

"मस्जिदों में मिथुनरत कुत्ते और गिद्ध
भूनते है अपने-अपने अंगो को चुपचाप।"[2]

- जगदीश चतुर्वेदी

यहाँ अंगो को भुट्टे या गेहूँ की बाली की तरह भूना जा रहा है, आग निश्चय ही वासना की है। आज के जीवन के छद्‌म, ऊब, छल-प्रपंच और अस्तित्व-बोध के संकट को उभारने के लिए इन कवियों ने बखूबी प्रयास किया है। अकविता में प्रायः अनास्था, निराशा, विकृत यौन और नंपुसक विद्रोह अभिव्यक्त होता रहा है। ऐसे संदर्भो को भारतीय जनमानस के लिए "शॉक ट्रीटमेन्ट" कहा जा सकता है।

(ख). आठवें दशक की कविता : (सन् 1970 से 1980 तक)

आठवें दशक की कविता में मुख्य रुप से दो परिवर्तन सामने आए - पहला तो यह कि अकविता की रूग्णवादी यौन-कुण्ठा समाप्त हुई और दूसरा यह है कि अतिक्रान्तिकारी वामपंथी कविता का स्वर और ऊँचा हुआ, किन्तु वह लफ्फाजी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर बड़े कलात्मक ढंग से मानवीय सरोकारों में रूपान्तरित हो गया। यही कविता आठवें दशक में 'जनवादी कविता' के नाम से भी संबोधित की गई है। सातवें दशक में जन्म लेने वाली' प्रतिश्रुत कविता' इस दशक में आकर 'विचार कविता' का रूप लेती है। इस प्रकार इस दशक में नए-नए नामों की ललक समाप्त हुई और केवल दो ही नाम उभर कर सामने आये और वे भी सातवें दशक के ही रूपान्तरित नाम हैं 'विचार कविता' और 'जनवादी कविता'।

(i) विचार कविता :

सन् 1973 में उत्तरप्रदेश के बाँदा जनपद में ' अखिल भारतीय प्रगतिशील साहित्यकार सम्मेलन' हुआ। इसमें नई पीढ़ी के सभी तेजस्वी कवि- लेखक शामिल हुए। विचार कविता को इससे बहुत बड़ी प्रेरणा मिली। डॉ0 रणजीत ने अकविता जैसे रूग्णवादी आन्दोलन का समर्थन करने वाले राजीव सक्सेना और विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को आड़े हाथों लिया। इस सम्मेलन के बाद विचार कविता की साझेदारी बढ़ गई। सन् 1973 में डॉ0 महीप सिंह और डॉ0 नरेन्द्र मोहन के संयुक्त सम्पादकत्व में 'संचेतना' पत्रिका का 'विचार कवितांक' प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् बलदेव वंशी की पुस्तक 'एक समकालीन कविता : विचार कविता' तथा नरेन्द्र मोहन की 'कविता की वैचारिक भूमिका' पुस्तक प्रकाशित हुई। इस सन्दर्भ में ललित कुमार शर्मा के विचार महत्वपूर्ण हैं-"प्रत्येक पीढी एवं उनके स्लोगन का भार उठाती गिराती कविता सन्1972-73 से विचार कविता के रूप में मुकम्मिल रूप में आज हमारे काव्य-क्षितिज पर सूर्य की तरह

---

1. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 17
2. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, पृ0 101 पर उद्‌धृत

प्रकाशमान है, क्योंकि सही मायने में वह प्रगतिशील विचार कविता है।"[1] विचार कविता के प्रमुख कवियों में बलदेव वंशी, नरेन्द्र मोहन, विनय, चन्द्रकान्त देवताले, हरीश पाठक और ऋतुराज प्रमुख हैं।

विचार कविता में प्रगतिशील विचार धारा वाले कवियों की कविताओं का समावेश है। यह धारा नई कविता से चलती चली आ रही है, किन्तु यहाँ आकर एक नया मोड़ ले लेती है। नागार्जुन रचित 'हरिजन-गाथा' डॉ0 माहेश्वर की 'अपना देश' तथा ओमप्रकाश निर्मल का 'कुछ हो रहा है' आदि कविताएँ इसी प्रगतिशील संचेतन से जुड़ी हुई हैं। इसमें 'हरिजन-गाथा' का विशेष उल्लेख होना चाहिए। भारत में सन् 1980-81 में हरिजनों को सामूहिक रूप से जिंदा जला देने के 'पैशाचिक नरमेघ' के पीछे जिस हिंसा का जन्म हुआ है, उसमें राजनीति का बहुत बड़ा हाथ है। इसके माध्यम से मराठी दलित-काव्य की पहली बार हिन्दी में गूँज सुनाई पड़ी है और एक सवर्ण कवि ने पहली बार गहराई में उतरकर दलित-वर्ग के दर्द, दर्प और विश्वास को न केवल पहचाना है, बल्कि ईमानदारी से उसका अंकन भी किया है-

"हिंसा और अहिंसा दोनों बहनें इसको प्यार करेंगी
इसके आगे आपस में वे
कभी नहीं तकरार करेंगी .... ।।"[2]

उपर्युक्त कविता में कवि की दृष्टि में 'हिंसा' बड़ी और 'अहिंसा' छोटी है, हिंसा को व्यापक अधिकार मिले है तथा अहिंसा को कम। कवि ने दोनो जुड़वा बहनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की है। इसी प्रकार लीलाधर जगूड़ी की लम्बी कविता 'बल्देव खटिक' में दलित आदमी के ठोस वास्तविक चरित्रों के माध्यम से सामाजिक और सत्ता सम्बन्धी विसगंतियों को एक सुगठित विचार के रूप में उभारा गया है। बलदेव की माँ बीमार है; तीसरे दिन उसे छुट्टी मिलती है; उसकी माँ आखिरी साँसों पर थी; अस्पताल की एम्बुलेन्स खराब थी; थाने से उसे पुलिस की गाड़ी नहीं मिलती; परिणामतः उसकी माँ दुनियाँ से चल बसती है। यहाँ भी एक ओर बलदेव खटिक का मानसिक दर्द है तो दूसरी ओर व्यवस्था का जनता से विश्वासघात। पुलिस विभाग की क्रूरता और निर्दयता उस समय और भी नग्न रूप में सामने आती है, जब बलदेव खटिक से कहा जाता है कि-

"तुम्हारी माँ का
हमारे पास कोई वारण्ट नहीं जो हम गाड़ी भेज दें।
आखिर मरने वाले को कौन पकड़ सकता है
अक्सर हमारे पकड़े हुए भी मर जाते हैं।"[3]

इसी प्रकार 'कुछ हो रहा है' (ओम प्रकाश 'निर्मल'),'कुआनो नदी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'उपनगर में वापसी' (बलदेव वंशी), 'ताप के ताए हुए दिन'(त्रिलोचन शास्त्री), 'विचार और लहू के बीच' (नरेन्द्र मोहन) आदि प्रगतिशील कविताओं में जीवन और जगत् को समझने व समझाने की गहरी संवेदना व्यक्त की गई है।

आठवें दशक की कविता को विस्तार-रूप देने में 'चौथा सप्तक'(1979) की भूमिका अपरिहार्य है।

---

1. *डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 116 पर उद्धृत*
2. *नागार्जुन : खिचड़ी विप्लव हमने देखा (हरिजन गाथा से) पृ0 124*
3. *लीलाधर जगूड़ी : बची हुई पृथ्वी(1977): बलदेव खटिक, पृ0 107*

कवि-जीवन की यथार्थता को लेकर जितना प्रचुर अनुसंधान 'चौथा सप्तक' में व्यक्त हुआ है, उतना पूर्व के अन्य किसी सप्तक में नहीं । संसार की स्वायत्तता का बोध इन कवियों में समवेत रूप से जाग्रत हुआ है, कुछ में अधिक परिपक्व तो कुछ में कम। लेकिन सर्वत्र काव्य के स्वर में अपनी एक विशेष गूँज मिलाए हुए।[1] कविता इनके लिए प्राण बनी,[2] आत्मा का सौन्दर्य बनी,[3] तथा मनुष्य को मवेशी होने से रोकने का एक समष्टिगत साधन बनी।[4] यहाँ पर कवि का पर्सोना रूप उभरकर समाने आया है। कवि ने पहली बार यह स्वीकार किया कि **"कवि के लिए रचना एक प्रकार का विरेचन है, जिसकी प्रक्रिया से वह अपने को शुद्धतम रूप में उपलब्ध करता है। यही 'स्वान्तः सुखाय' का अर्थ है।"**[5]

आठवें दशम में विचार कविता के अन्तर्गत 'अहम्' की तीव्र आलोचना हुई, क्योंकि अहम् ही वह तत्व है जो कविता को 'वयम्' होने से रोकता है और कवि पर्सोना नहीं बन पाता। समकालीन कवि व्यक्तिगत आग्रह की अपेक्षा सामाजिक आग्रह को ज्यादा महत्व देता है –

'अकेले से सब बन जाना
कितना बड़ा होता है
यह उँगली से उँगलियों तक पहुँचने पर
पता चलता है।"[6]

(ii) जनवादी कविता :

सन् 1973 में बाँदा जनपद (उ0प्र0) में होने वाले 'अखिल भारतीय प्रगतिशील साहित्यकार सम्मेलन' के विरोध में भारतीय साम्यवादी दल ने 'राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक-संघ' तथा मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने' जनवादी लेखक-संघ' की स्थापना कर डाली। इस संघ ने कविता के लिए एक नया नाम उछाला और पिछले दशक से आयातित वाम कविता को ही 'जनवादी कविता' नाम दे डाला।

जनवादी कविता का अपना कोई आन्दोलन नही है। यह कवि के हृदयस्थ भावों का एक उद्गार है, जो आठवें दशक में कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्थान पा सका है। इस कविता में लोहियावादी विचार धाराओं वाले कवियों को ही महत्वपूर्ण स्थान मिला है। ये अपनी बात बड़ी सीधी, साफ, स्पष्ट, खरी और तल्खी भरे शब्दों में करते हैं। इनकी कविताओं में वर्तमान बोलता है और वे अपने को किसी भी कल्पचेता से कम नहीं मानते। कबीर और निराला की श्रेणी में अपने को रख देना इनके लिए आम बात है। इस विचारधारा के कवियों में धूमिल, रमेश गौड़, शलभ श्रीरामसिंह, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, वेणु गोपाल, रमेश कुन्तल मेघ आदि का नाम प्रमुख है। इन कवियों ने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, घूसखोरी, दुर्व्यवस्था, घिनौनी राजनीतिक गतिविधि के खिलाफ तीखा आक्रोश व्यक्त किया है। धूमिल ने अपनी लम्बी कविता 'पटकथा' में कविता को शोषण के विरूद्ध हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है। एक उदाहरण देखें–

---

1. *अज्ञेय : चौथा सप्तक, पृ0 15*
2. *श्रीराम वर्मा : चौथा सप्तक, पृ0 224*
3. *स्वदेश भारती : चौथा सप्तक, पृ0 108*
4. *राजकुमार कुम्भज : चौथा सप्तक, पृ0 69*
5. *राजेन्द्र किशोर : चौथा सप्तक, पृ0 265*
6. *डॉ0 विनय : कई अन्तराल, पृ0 22*

"अपने यहाँ संसद-
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है।"[1]

आठवें दशक की कविता में हम सबसे बड़ा परिवर्तन और विस्तार यह देखते हैं कि वह कविता अपने जनतांत्रिक अधिकारों की माँग करती हुई दिखाई पडती है। नारी के अधिकार, जनस्वास्थ्य, पर्यावरण, मानवाधिकार आदि ऐसी माँगे हैं जो राजनीतिक दावपेंच से बाहर हैं। आठवें दशक में चाहे 'चिपको अन्दोलन' हो, कनकपुरा में आरम्भ किया 'ग्रेनाइट आन्दोलन' हो, छत्तीसगढ़ का खनिज- संघर्ष हो, महाराष्ट्र में किसान-नेता शरद जोशी का शेतकारी-सगंठन या फिर गुजरात और महाराष्ट्र में ही दलितों के नाना आन्दोलन ये सभी अभियान मात्र राजनीतिक और आर्थिक माँगों तक सीमित नहीं है, बल्कि ये आज के सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य संतुलित आहार, शुद्ध पेय जल, स्वच्छता, पर्यावरण-संरक्षण, सुपोषण, समुचित आवास आदि तक के मामलों को उठाते हैं और पाश्चात्य सभ्यता की असंगतियों पर हमला करते हुए 'स्वदेशी' का नारा बुलन्द करते हैं। यह जन-आंदोलन का गैर-राजनीतिक ढाँचा है।

आठवें दशक में सबसे विलक्षण बात यह है कि इसमें तीन-तीन पीढ़ियों के कवि एक साथ अपनी रचनाशीलता का परिचय दे रहे हैं। समकालीन कविता की पुरानी पीढ़ी में त्रिलोचन, शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, बीच की पीढ़ी में रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना तथा नई पीढ़ी में देवेन्द्र कुमार, वेणु गोपाल, मणि मधुकर, कुमार विकल, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, मलयज, सौमित्र मोहन, विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल, नीलाभ, राकेश जोशी, उदय प्रकाश, विनोद भारद्वाज, अक्षय उपाध्याय, अवधेश कुमार आदि कवियों की तीन पीढ़ियाँ एक साथ कार्यरत हैं।

आठवें दशक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कविता की आक्रामकता प्रायः कम होती गई और कविता अपने मूल की ओर उन्मुख होने लगी। विद्रोह, अस्वीकृति, संत्रास, असंतोष आदि की प्रवृत्तियाँ जो पूर्ववर्ती कविताओं में उभरी थी, उसका परित्याग करती हुई आज की कविता आगे की ओर उन्मुख दिखाई देती है। डॉ० अरुणकुमार ने लिखा है-**"आदमी एक बार फिर इन कविताओं में अपनी कुल्हाड़ी, अपने तीर-धनुष, गुफा, माँ की आवाज, जाँता-चक्की, चूल्हा, पत्थर, आग, जंगल, बैल,घोड़ा, जाल, मछली, नदी, लश्कर, सहेजता है और शायद अपनी स्मृति को सार्थक उद्देश्यों के लिए गहरा करता है। सौन्दर्य - चेतना का नजरिया भी बदलता है।"**[2]

(ग).नवें दशक की कविता:- (सन्1980 से 1990 तक)

नवें दशक की काल-अवधि सन् 1980 से 1990 के मध्य मानी जाती है। समकालीन कविता में हिन्दी-जगत् का यह वह दशक है, जिसमे काव्य-क्षेत्र की प्रतिस्पर्धा को लेकर न तो कोई नामधारी आन्दोलन हुआ और न हि कविता वादों के घेरे में रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार **"काव्यक्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे उसकी समरसता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न**

---

1. *धूमिल : संसद से सड़क तक ('पटकथा' से), पृ0 127*
2. *सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : दस्तावेज, साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका, अंक-13/14 पृं. 218*

लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं।"[1] इस दशक में कविता बिना किसी नारेबाजी और नाटकीय शोरगुल के केन्द्रीय विधा के रूप में सामने आई। कविता में पहली बार दल-निष्ठता के स्थान पर जन-निष्ठता तथा सैद्धान्तिक जड़ सूत्रवादिता की जगह स्वतंत्र चिन्तन की अभिव्यक्ति हुई। इसमें बयानबाजी को नहीं, बखानबाजी को महत्व दिया गया है। जब कविता केवल बयान करती है, तो वह सैद्धान्तिक सूत्रों से विजड़ित हो जाती है। बखानबाजी में ऐसा नहीं है, उसमें व्यावहारिकता के तन्तु समाविष्ट होते हैं। कवि को विश्वास हो गया है कि अपने समय के भयानक वैचारिक टकराव से अलग हटकर कविता नहीं लिखी जा सकती। वह जानता है कि काव्य-जगत में उसकी सहभागिता बाहर से नहीं, अन्दर से होनी चाहिए। व्यक्ति के हृदय में 'गढ़-गढ़ काढ़ै खोट' वाली उक्ति आभ्यान्तरिक होती है, बाह्य नहीं।

आज समकालीन कविता का मिजाज बदलता हुआ मालूम पड़ता है। कविता के इस मिजाज-परिवर्तन में पुरक्ता युग-जीवन की संगति है। अब कविता जीवन का शौकिया विद्रोह नहीं, बल्कि उसमें काव्य-जीवन का 'सद्यः पर निर्वृत्तये'[2] अर्थात् उत्कृष्ट आनन्द और प्रीतिपरक पक्ष सन्निहित है। डॉ० विनय का कथन है **"कला और जातीय जीवन के बीच के सूत्र, जो छूट रहे थे, फिर से कविता और जिन्दगी के रिश्तों को तय करने लगे हैं। यह कविता की वापसी नहीं, कविता में कवित्त्व की वापसी है।"**[3]

समकालीन कवि आश्वस्त करना चाहता है कि समाज में क्रान्ति लाने के लिए वैशाखी की आवश्यकता नहीं है। पिछले दशक और पूर्ववर्ती दशक में आई हुई मानसिक कुंठा कविता की टाँगे नहीं, वैशाखी थीं। आज का कवि 'पंडित वाद वदंते झूठा' पर विश्वास नही करता, वह कथनी और करनी की विभाजन-रेखा को समाप्त करना चाहता है। उसका विश्वास है कि जो हम करेंगे, बच्चे भी वैसा ही करेंगे; किन्तु जो हम कहेंगे, बच्चे वैसा नहीं करेंगे।

आज का कवि यह अच्छी प्रकार से जानता है कि अपने से बड़ों को सिर्फ गाली देकर बड़े नहीं हो सकते। कवि की यह समकालीन सोच व्यापक भविष्य की ओर संकेत करती हैं। नवें दशक में समकालीन कविता का बदलता हुआ यह स्वस्थ दृष्टिकोण दृष्टव्य है-

"अपनी गली के बुजुर्गों को
सिर्फ गाली देकर
बड़े नहीं हो सकते तुम।"[4]

आज का यथार्थवादी समाज न तो कवि पर विश्वास करता है और न उसकी कविता पर, यदि उसे विश्वास है तो केवल 'कवित्त्व शक्ति' पर। समकालीन कविता इसी कवित्त्व शक्ति की खोज करती है, जिसके कारण वह वस्तुपरकता और स्वायत्तता की बेजोड़ शक्ति अर्जित करने में समर्थ हुई है। आज वह किसी भी विषय अथवा थीम को सार्थक रुप में चरितार्थ कर रही है।

कभी-कभी लोगों द्वारा यह कहते सुना जाता है कि आज के समाज में खोट और कपट ज्यामितीय

---

1. *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-1 (साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद) पृ0 162*
2. *आचार्य मम्मट : काव्य प्रकाश : प्रथम उल्लास, कारिका सं. 2*
3. *डॉ0 विनय : धर्मयुग (पत्रिका), 10 से 16 मई, 1981, पृ0 43*
4. *धर्मयुग : पत्रिका, 22-28 अगस्त, 1982*

क्रम में इतना ज्यादा बढ़ गया है कि एक अकेला ईमानदार व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता। समकालीन कवियों ने उनकी इस दकियानूसी सोच को नकार दिया है और कहा है कि जंगल में सिंह एक ही होता है। आज तक एक व्यक्ति ने ही समाज में शक्ति-बोध और सौन्दर्य-बोध की ध्वजा फहराई है।

एक व्यक्ति के सुकर्मो से देश का मान बढ़ जाता है और एक व्यक्ति के दुष्कर्मो से देश का मान घट जाता है। अकेले चने ने इतना अधिक भाड़ फोड़ा है कि वह भाड़ खील - खील हो गया और पता नहीं चलता कि वह भाड़ कहाँ था। समकालीन कवि को विश्वास है कि यदि उसे " एकला चलो" की थीम में सफलता न मिली तो वह रिक्त हाथ कभी वापस नही होगा, कम से कम दो-चार चने मिलकर भड़भूँजे की आँख तो फोड़ ही सकते है। दो-चार चने का तात्पर्य यहाँ एकला प्रभाव से है, क्योंकि हर चने का प्रभाव अलग-अलग होगा -

"अकेला चना
भाड़ तो नहीं फोड़ सकता
पर तीन-चार
बम की तरह फूटकर
भड़भूँजे की आँख तो फोड़ ही सकते हैं।"[1]

सातवें दशक की कविता में पश्चिम का गहरा आतंक रहा, आठवें दशक में यह आतंक क्षीण हुआ और नवें दशक में इधर समकालीन कविता को देखते हुए लगातार हमारी आधुनिकता अब उतनी पश्चिमाभिमुख नहीं है। इस दशक के कवियों की संवेदना-दृष्टि बड़ी अचूक है, जो अपने भूगोल और इतिहास में ऊबड़-खाबड़पन को समेटती हुई अपने समय के मूल उत्सों तक जाती है। उनकी दृष्टि 'कालबद्ध' और 'पदार्थमय' है। इधर की कविता ने समाज की अनर्गल प्रभुसत्ता को हँसिये, कुदाल या बन्दूक से नहीं, संवेदना से तोड़ा है। उदाहरण के लिए पौराणिक आख्यानों में 'इन्द्र' प्रभुसत्ता का प्रतीक है। ऋषि पत्नी (गौतम) अहल्या के साथ उसके द्वारा किया गया व्यभिचार लोक-प्रसिद्ध है, लेकिन यह व्यभिचार उसकी मानसिकता को बार-बार धिक्कारता है। परिणामतः उसकी आत्म-ग्लानि और पराजय की वेदना एक नया रुपान्तर ग्रहण करती है। वह व्यष्टि-जीवन से निकलकर समष्टि के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लोकहित में अर्पित करने को व्याकुल है। वह अपने अपराधों की क्षमा माँगते हुए अहल्या और गौतम के चरणों में नत हो जाता है-

"आज गौतम और अहल्या के चरणों में मैं
नैवेद्य चढ़ाऊँ
कर्म-धर्म की ज्वाल जगाऊँ
करूँ इन्द्रियों का अर्पण यह
चपल वृत्तियों का तर्पण यह ।"[2]

समकालीन कविता की यह प्रेरणा भूमि, जिसमें पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से अपने आभिजात्य के अहं को तोड़ने और लोकोन्मुखी होने का मंजुल आवर्त रचा गया है, अति प्रशंसनीय है। वास्तव में

---

1. डॉ0 रणजीत : झुलसा हुआ रक्त कमल (1986), चार चने, पृ0 52
2. डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 79-80

"सच्चा कवि वहीं है, जिसे लोकहृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम 'रसदशा' है।"[1]

नवें दशक का कवि ग्लोबल चेतना (भूमण्डलीकरण) से पूरी तरह प्रभावित है। वह गागर में सागर भरता हुआ सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव के रुप में देखना चाहता है। पारमाणविक सर्वनाश के आसन्न खतरे के प्रति तथा पृथ्वी और उसके पर्यावरण के विनाश के प्रति उत्तरदायी विरोधी शक्तियों का सामना करने के लिए वह पूरी तरह सन्नद्ध है। भूमण्डलीकरण की मौलिक चेतना के परिणाम स्वरुप प्रकृति के प्रति एक नूतन विनम्रता उसमें आद्योपान्त दिखाई देता है-

"हर सुबह के वृत्त पर महका सुमन
साँझ होते धूल में मिल तो गया
पर जिया जब तक जिया जग के लिए
निज व्यथा को भूल खुशबू दे गया।"[2]

यहाँ पर प्रकृति प्रतीक पुष्प के माध्यम से लोकहित की जो सार्वभौमिकता संचेतना व्यक्त की गई हैं, वह आज के अलग-थलग पड़े समाज को नई दिशा दे सकता है।

सारांश यह है कि जो गुणात्मक अन्तर सातवें और आठवें दशक की कविता में था, वह अन्तर आठवें और नवें दशक की कविता में नहीं दिखाई देता, फिर भी चेतना की जो सार्वभौमिक अनुभूति इस दशक में हुई है, वह आठवें दशक में नहीं थी। इस दशक की कविता में 'सुन्दरम्' की परिवर्तित अवधारणा, सामाजिक - मानवीय चेतना, मूल्यपरक शिक्षा, भाषा और शिल्प की संप्रेषणीयता, वस्तुपरकता एवं स्वायत्तता आदि तत्वों को प्रमुखता के साथ उभारा गया है।

इस दशक के प्रमुख कवियों में चन्द्रकान्त देवताले (भूखण्ड तप रहा है :1982, आग हर चीज में बताई गई थी : 1987), शलभ श्रीरामसिंह (नागरिकनामा :1983, अपराधी स्वयं :1985), रघुवीर सहाय(लोग भूल गये हैं : 1982), रणजीत (इतना पवित्र शब्दः1985, झुलसा हुआ रक्त कमल :1986), केदारनाथ सिंह(अकाल में सारस :1988), डॉ0 सुमन राजे(उगे हुये हाथों का जंगलः1987, यात्रा दंश :1987), रमेश गौड़ (पतन गाथाः1983), कुन्तल कुमार जैन (समय का रास्ता :1986), गोरख पाण्डेय (जागते रहो सोने वाले :1983), त्रिलोचन (मैं उस जनपद का कवि हूँ :1981, अरधान :1984), नागार्जुन (पुरानी जूतियों का कोरस :1983, रत्नागर्भ 1984, ऐसे भी हम क्या,ऐसे भी तुम क्या :1985) तथा डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' (अभिशप्त शिला :1982) का नाम उल्लेखनीय है।1

(घ) नवें दशक के बाद से आज तक की कविता : (1990 से अब तक)

20 वीं शताब्दी का अन्तिम दशक कविता-लेखन की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक और वृहत्तर माना जाता है। हिन्दी-जगत का यह वह दशक है, जिसकी समाप्ति के बाद 21वीं शताब्दी का प्रथम दशक प्रारम्भ

1. *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-1, (संधारिणी और व्यक्ति वैचित्र्यवाद से) पृ0 155*
2. *सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक पत्रिका) डॉ0 देवेन्द्र आर्य की कविता, पृ0 96, जनवरी-मार्च, 2002*

हो जाता है। इस दशक में कवियों ने टटके-से-टटके प्रतीकों, बिम्बों, अलंकरणो एवं कथ्यगत चेतनाओं को अपनाकर कविता को एक नई दिशा देने का प्रयास किया है।

दशवें दशक की कविता में सामयिक बोध अत्यन्त प्रखर है, किन्तु यह सामयिक बोध अंशकालिक न होकर दीर्घकालिक है और सदैव प्रासंगिक बना रहने वाला है। समाज में परिवारगत सम्बन्धों- माँ- बाप, दादा-दादी, नाना-नानी, भाई-बहन, बेटा-बेटी को लेकर पहले भी कविताएँ लिखी गई हैं, किन्तु वहाँ 'दर्द की पुकार' और 'त्रासद की गुहार' ज्यादा है। यहाँ दर्द और त्रासद का विरेचन हुआ है।

सामयिक बोध से जुड़ी हुई कविताएँ प्रत्याशित परिणाम और वस्तुतः प्राप्त परिणाम के अन्तर को समाप्त कर देना चाहती है; समकालीन कवियों को राजा भोज और गंगू तेली का अन्तर ग्राह्य नहीं है। बसंत श्रीवास्तव की ' 'गधा प्रतिक्रिया', त्रिलोचन की 'गजस्तत्र न हुन्यते', डॉ0 उत्तिमा केशरी की 'मोनालिसा की तरह' राजा खुशगल की 'सामयिक बोध' आदि कविताएँ इसी का संकेतक हैं। एक बार पशुओं की सभा में गधे ने सभाध्यक्ष महोदय के सामने अपने दुःख-दर्द का बखान किया था, किन्तु वह पशु-समाज तक ही सीमित रह गया था। आज वह संकोच-मुक्त स्वरों में मानव-समाज से सीधा बयान करता है-

"बिकते रहे अभी तक, ना
हम आगे और बिकेंगे।
नाम दिया पुरखों ने पर
हम सच्चे और सधे हैं
हमें बेंचने वाले सचमुच
हमसे बड़े गधे हैं।"[1]

-बसंत श्रीवास्तव

नारी-स्वतंत्रता, नारी-मुक्ति, स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श आदि के नाम पर बुद्धिजीवी आन्दोलन चल रहे हैं। नारी-मुक्ति की अवधारणा पुरुषवाची सोच पर ही आधारित है। भारत हो या पाकिस्तान, स्थितियों में कोई खास अन्तर नहीं है। शोषण, घुटन, तिरसर, असुरक्षा, बदनामी और पीड़ा दलित की नियति बन गई है। इस विमर्श को लेकर समकालीन कथा-साहित्य तो खूब लिख जा रहा है और इस क्षेत्र में लेखिका रजिया फसीह अहमद का उपन्यास 'मता-ए-दर्द'(1990), राजेन्द्र मोहन भटनागर का 'राज राजेश्वर (1991), कमलापति त्रिपाठी का 'पट्टीघर' (1992), कृष्णा सोबती का 'दिलो दानिश' (1993), वीरेन्द्र पाण्डेय का 'युग-सूर्य'(1997), भगवती शरण मिश्र का 'शान्ति दूत'(1998), आदि इस नियति के दस्तावेज है, किन्तु कविता के क्षेत्र में समेकित ढंग से कोई दलित- विशेषोन्मुखी साहित्य नहीं लिखा जा रहा है। समकालीन रचनाकरों की गणितीय संख्या तो खूब बढ़ी है; किन्तु जिस अनुपात में यह वृद्धि हुई है, उस अनुपात में दलित-साहित्य के प्रति रुचि-सम्पन्नता का प्रायः अभाव है। यह उनके लिए एक प्रश्न चिह्न भी है।

अभी राजस्थान के प्रसिद्ध समाजवादी कवि एवं चिन्तक नंद चतुर्वेदी का 68 कविताओं का काव्य-संग्रह 'उत्सव का निर्मम समय' प्रकाश में आया है। ओम निश्चल ने इस काव्य-संग्रह के

---

1. प्रधान सं0 : विजयराय : उत्तर प्रदेश (मासिक पत्रिका), बसंत श्रीवास्तव की कविता पृ0 41, दिसम्बर 2002

सम्बन्ध में लिखा है :-"**यह कविता-संग्रह उत्पीड़ित, अन्दर से दरकते समाज का यथार्थ अन्वेषण और शक्तिहीन सामंतो के ऐश्वर्य के विरूद्ध एक नैतिक दस्तावेज है। उनकी कविता का पक्ष समता का पक्ष है। कविता की सबसे महत्त्व की लड़ाई गैर- बराबरी वाली दुनियाँ को बदलने की लड़ाई है।**"[1] नंद चतुर्वेदी की कविता उदासियों के दिनों में तेजस्वी दिनों की कौंध जगाये रखने के लिए प्रतिश्रुत दिखती है।

जनपद फतेहपुर (उ0प्र0) के प्रसिद्ध समतावादी लोहियावादी अवधारणाओं के हामी धनंजय अवस्थी का खण्डकाव्य 'शबरी'(1988) इस दशक की एक प्रसिद्ध दलितोत्थानपरक रचना है। मतंग मुनि के आश्रम मे रहने वाली अछूता शबरी अभिशप्त हो जाती है। वितण्ड मुनि के क्रोधानल से उनकी वर्ण-भेद-वृति से समूचा वन-प्रान्तर और जलाशय खौलने लगता है। भयभीत शबरी मतंग मुनि के समीप जाकर अभिशाप से मुक्ति पाने की याचना करती है। यह अभिशाप हठात् शबरी पर मढ़ा गया है। मतंग मुनि राम के प्रति शबरी के हृदय में आस्था जगाते हैं। अन्ततः राम का आगमन होता है। राम के निर्देश पर शबरी अपावन जलाशय में प्रवेश करती है, उसके पाद-स्पर्श से समस्त जल गंगा-जल बन जाता है। शबरी का पुण्य-स्पर्श पाने के लिए समस्त जनसमुदाय उमड़ पडता है। राम द्वारा शबरी को दिया गया यह युगबोधीय संदेश आज के वर्ग-लोलुप समाज के लिए एक महान दस्तावेज है-

"न, कोई जन्मना ऊँचा-
न नीचा है,
विभाजन कर्म की रेखा।
उठाती है, गिराती है विभाजित आचरण लेखा
नहीं वह नीच हो सकता
कि जिसका कर्म ऊँचा है।
बड़ा वह हो नही सकता
कि जिसका कर्म नीचा है।"[2]

हिन्दी-साहित्य के गिने-चुने समाजवादी चिन्तकों में विजयदेवनारायण साही और रघुवीर सहाय के बाद जिन अग्रगण्य कवियों और चिन्तकों का नाम सामने आता है, उनमे नंद चतुर्वेदी और धनंजय अवस्थी के नाम उल्लेख्य हैं।

इस दशक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसमें चित्र और संवेदना के नए-नए आयाम प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि चित्र-काव्य को हमारे यहाँ 'अधम काव्य' कहा गया है,[3] किन्तु यह वैसा चित्र-काव्य नहीं है, जिसमें विभिन्न एकाक्षरी छन्दों का संवल लेकर कमल-बन्ध, चक्र-बन्ध, पर्वत-बन्ध, हार-बन्ध, डभरू-बन्ध आदि रेखागणितीय चित्रों का निर्माण किया जाता है। यह प्रवृत्ति रीतिकालीन केशव आदि आचार्यो में ज्यादा थी। एक सफल चित्रकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए जब किसी विधा की तलाश करता है, तो उसे

---

1. प्रधान सं0 : विजयराय : उत्तर प्रदेश (मासिक पत्रिका), अक्टूबर 2003, पृ0 26 पर उद्धृत।
2. धनंजय अवस्थी : शबरी ('सिद्धि' सर्ग से) पृ0 109
3. 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यग्यं त्ववरं स्मृतम्।'
आचार्य मम्मट : काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास, पृ030

कविता सबसे नजदीक नजर आती है, क्योकि कविता और चित्रकला में कहीं-न-कहीं बिम्ब की प्रधानता अवश्य रहती है। यही कारण है कि इस दशक के अनेक चित्रकारों ने चित्रों के साथ-साथ अच्छी कविताएँ भी रची हैं। ये कविताएँ हमारे समय की मौजूदा स्थितियों का बिम्ब प्रस्तुत करती है। आज के दौर में आस्था और विश्वास का तेजी से विखण्डन हो रहा है। हर चमकीली सतह एक मुलम्मा साबित हो रही है और उसके नीचे छिपे विद्रूप तथ्य की सत्यता उजागार होने लगी है। ऐसे में खण्डहर होते समय में भी कविताओं में उम्मीद कायम है, हरेपन का विश्वास बना हुआ है। राजेन्द्र नागदेव एक ऐसे ही रचनाकार हैं। ये पेशे से पूर्णतः चित्रकार हैं। राजेन्द्र नागदेव का अभी हाल ही में एक नया काव्य-संग्रह आया है - 'गूँगी घंटियाँ'। नागदेव का यह तीसरा कविता-संग्रह है। इसमें कुल 35 कविताएँ संकलित हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है -

"खण्डहरों पर / हरियाली का काम तो नहीं होता
फिर भी देखो / झाँक रही है दरारों से
कुछ हरी-हरी कोमल-कोमल पत्तियाँ
जले हुए खण्डहर मन पर
ठंडे मरहम की तरह।"[1]

आज का जीवन्त साहित्य गाँवों, कस्बों और छोटे-छोटे शहरों में लिखा जा रहा है। बड़े नगरों में रहने या नौकरी करने से ही कोई अच्छा लेखक नहीं बन जाता। प्रो0 नामवर सिंह ने कहा है- **"आज ज्यादातर रचनाकार गाँवों और कस्बों के लोग हैं, भले ही वे दिल्ली जैसे महानगरों में रहते हों।"**[2] इधर पहल सम्मान प्राप्त करने वाले कवियों - विजेन्द्र 1990, कामतानाथ 1991, कुमार विवेक 1992, हृदयेश-1993, ऋतुराज-1994, मंगर एहते शाम-1995, कमलेश डबराल-1996 ने देश और गाँव के अच्छे चित्र खींचे हैं। गाँव की प्राकृतिक चेतना को लेकर प्रकृति के मनोरम और व्यंग्य पूर्ण चित्र खींचने वाले कवियों मे सविता मिश्र, श्रीकान्त शास्त्री, रमेश तिवारी 'नीरज', रश्मि बड़थ्वाल, शिव दोयले, प्रदीप पंत आदि का नाम प्रमुख है।

इस दशक में राष्ट्रीय बोध से जुड़ी हुई कविताएँ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्रीय चेतना से प्रतिबद्ध कवियों में नरेन्द्र मिश्र, संन्तोष बंसल, शिवाकन्त 'विद्रोही', अशोक 'अंजुम', विजय किशोर, रवि सक्सेना आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने ऐतिहासिक, पौराणिक और राजनीतिक प्रतीकों के माध यम से व्यंग्य का पुट देते हुए राष्ट्रीय चेतना में नया प्राण फूँकने का प्रयास किया है। रवीन्द्र कुमार पाठक की 'संभवामि युगे-युगे'[3] अशोक 'अंजुम' की 'कबिरा खड़ा उदास'[4], शिवाकान्त विद्रोही की 'हैं रसना के स्वाद कसैले'[5], नरेन्द्र मिश्र की 'शत-शत नमन करूँ' बलदेव वंशी की 'हत्यारे समय में कबीर की याद'[6]

1. *राजेन्द्र नागदेव : गूँगी घंटियाँ, खण्डहर-1 से*
2. *प्रधान सं0 : विजयराय : उत्तर प्रदेश (मासिक पत्रिका), फरवरी 1997, पृ0 37 पर उद्धृत।*
3. *सं. आनन्द मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0-5, अगस्त 2003*
4. *सं. आनन्द मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0-52, अगस्त 2003*
5. *सं. आनन्द मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0-54, अगस्त 2003*
6. ***सं0 : विजयराय : उत्तर प्रदेश (मासिक पत्रिका), पृ0 45, अक्टूबर 2003***

आदि कविताएँ इस दिशा का नया आयाम प्रस्तुत करती हैं। युवा कवयित्री संतोष बंसल का '21वीं सदी का उजियारा सूरज' तथा अटल बिहारी वाजपेयी का 'न दैन्यं न पलायनम्' कविता-संग्रह इसी राष्ट्रीय चेतना की जीवंत धरोहर हैं। ये कविताएँ सहजता को सहेजती हैं। डॉ0 दयाकृष्ण विजय ने 'मधुमती' के संपादकीय (प्रसंगवश) में लिखा है –**"समकालीन कविताओं में सहजता वाली कविताएँ अच्छी होती हैं, जिनमें बनावट की कृत्रिमता है, प्राध्यापकीयता है, वे सहज कविताएँ नहीं है, भले ही वे समकालीन हों।"**[1] ये कब युद्ध नहीं चाहते। इनकी कविताओं मे जंग सम्बन्धी जो आक्रोश व्यक्त हुआ है, वह प्रकारान्तर से युद्ध न करने की एक मुहिम है, क्योकि समकालीन कवि युद्ध के अनिष्टकारी परिणामों को कई बार देख चुका है। रति सक्सेना की कविता 'जंग के वक्त' का एक उदाहरण दृष्टव्य है –

"शुक्रिया युद्ध!
याद दिला देते हो शान्ति
सिला देते हो
शहीदों का लिबास।"[2]

नवें दशक की भाँति इस दशक में भी 'एकला चलो' का संदेश दोहराया गया है, किन्तु कुछ और जिजीविषा और मजबूती के साथ। किसी भी कार्य को पुरस्कर्ता के रुप में प्रारम्भ करने हेतु प्राथमिकी एक व्यक्ति की ही होती है; वीणा एक व्यक्ति ही उठाता है; बाद में सहकर्मियों का ताँता तो लग ही जाता है। इस दृष्टि से इस दशक की रचनाएँ पाठकों को असंभव से संभव, जटिल से सरल, दुरुह से सहज और अन्त्योदय से सर्वोदय की ओर ले जाने का पाथेय प्रदान करती हैं। हिम्मत और जिन्दगी का प्रतीक 'चना' एक बार क्रान्ति का शंखनाद कर बैठता है। लंगोटा कसकर भाड़ से दो-दो हाथ करने के लिए कूद पड़ता है और लोक-प्रचलित असंभव मान्यता को सम्भव करके दिखला देता है –

"अकेला ही तो था चना
पहल करने वाला
साथ देने वाले बहुत मिल जाएँगे
किसी काम को शुरू तो करें।"[3]

इससे सिद्ध होता है कि कवि 'एकला चलो' का समर्थक है। उसे अपने चलने पर अटूट विश्वास है, यही विश्वास उसका संवल है, जिसका अनुसरण करने के लिए वह अपने पाठकों को भी अनुप्रेरित करता है।

समकालीन कविताके विस्तार और लेखन-सामग्री को ध्यान में रखते हुए कुछ प्रमुख रचनाओं का उल्लेख इस प्रकार है-

1.	असीम शुक्ल	:	कल्पवृक्ष गमले में : 1991
2.	राजेश शर्मा	:	जो सुनना तो कहना जरुर :1992
3.	कैलाश नाथ तिवारी	:	अँजुरी भर प्यास :1994

---

1. सं. दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), संपादकीय, पृ. 8, नवम्बर 1992
2. प्रधान सं0 : विजयराय : उत्तर प्रदेश (मासिक पत्रिका), पृ0 57, दिसम्बर 2002
3. डॉ0 हरी सिंह पाल : पुनरावृत्ति ('अकेला चना' से) पृ. 10

4.	अनूप अशेष	:	हम अपनी खबरों के भीतर	: 1997
5.	धनंजय अवस्थी	:	शबरी (खण्ड काव्य)	: 1998
6.	हरिराम मीणा	:	हाँ, चाँद मेरा है	: 2000
7.	यतीन्द्र मिश्र	:	यदा-कदा	: 2000
8.	मोती भुविनया	:	मैला दर्पण	: 2000
9.	विजय किशोर मानव	:	राजा को सब छमा है	: 2000
10.	सुषमा मुंजाल	:	जब्त व्यथाएँ	: 2001
11.	डॉ0 राम प्रसाद मिश्र	:	पुरुषोत्तम (महाकाव्य)	: 2001
12.	अरुण कमल	:	नए इलाके	: 2001
13.	ओम भारती	:	जोख से कम नहीं	: 2001
14.	नंद चतुर्वेदी	:	उत्सव का निर्मम समय	: 2002
15.	राकेश वत्स	:	जरा और कविता	: 2002
16.	अंशु मालवीय	:	दक्खिन टोला	: 2003
17.	वीरेन्द्र मिश्र	:	अन्तराल	
18.	राजेन्द्र मिश्र	:	समय के सामने	
19.	कुसुम अंचल	:	समय की निरन्तरता में	
20.	अटल बिहारी वाजपेयी	:	न दैन्यं न पलायनम्	

इसके अलावा नवोदित रचनाकारों में विष्णु खरे, नवीन सागर, देवीप्रसाद मिश्र, लीलाधर मडंलेई,अरुण कमल, इन्दिरा राठौर, कात्यायनी, संजय चतुर्वेदी, विजय उपाध्याय, आलोक धन्वा, प्रेमरंजन अनिमेष, विनोद भारद्वाज, कुबेरदत्त, महेश आलोक, प्रयाग शुक्ल, कुमार विकल, वीरेन्द्र डंगवाल, नर्मदा प्रसाद तिवारी, डॉ0 सादिक, डॉ0 वन्दना केगंरानी, हेमन्त कुकरेती, देवेन्द्र आर्य, प्रमोद दीक्षित'मलय', डॉ0 अश्विनी कुमार शुक्ल, धर्मचन्द्र मिश्र 'कट्टर' आदि के नाम प्रमुख रुप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार समकालीन कविता विगत पैतीस वर्षो से लगातार अपनी अनमोल जीवन यात्रा तय करती हुइ चली आ रही है। आज वह 21 वीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रवेश कर चुकी है और सन् 2050 (सन् दो हजार पचास ई0) तक का ब्राह्म मुहूर्त सपना अपनी चक्षुओं में आवेष्ठित किए हुए है। इससे आगे की प्रागामी संभावनाएँ भी वह अपने आप तय करेंगी। शरद रंजन 'शरद' के काव्य शब्दो में -

"अरबों पैरों से लग-लगकर
फट रही इस पृथ्वी की बिवाइयों में
भर रहा हूँ मोम-सा विश्वास
कि देख सके यह दुनियाँ
सन् बीस सौ पच्चास"।[1]

-शरद रंजन'शरद' ('सन् बीस सौ पचास' से)

1. सं. अरुणपुरी : इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी - 1996, पृ0 134

4. समकालीन कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :

समकालीन कविता की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है- 'सामाजिक यथार्थ'। समाजवाद और यथार्थवाद का मिनजुमला स्वरुप ही सामाजिक यथार्थ कहलाता है। इसके समुच्चय में आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक शक्तियाँ शामिल हैं। ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरण का निर्माण करती है, जिनसे हमारे संस्कारों की सर्जना होती है।[1] आज की समकालीन कविता सामाजिक यथार्थ के साथ अनेक अनकहे और अनछुए बिन्दुओं को स्पर्श करती हैं। अतः उसके कथ्य और शिल्पगत कलेवर को देखते हुए निम्नलिखित प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा सकता है-

1. मानवीय और सामाजिक चेतना।
2. स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श
3. राजनीतिक चेतना और वामपंथी रुझान के बदलते तेवर
4. राष्ट्रीय चेतना और वैज्ञानिक बोध
5. नगर और ग्राम-चित्रण
6. प्राकृतिक-चित्रण : आदर्श और यथार्थ
7. शिल्प के प्रति नवीनता का आग्रह

1. मानवीय और सामाजिक चेतनाः

मानवीय 'अस्तित्व' और उसकी 'अस्मिता' मानव-चिन्तन की दो महत्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं। पहले के द्वारा व्यक्ति सोचता है कि वह कैसे जीवित रहे और दूसरे के द्वारा वह यह सोचता है कि वह क्यों जीवित रहे। ये दो संकट राहु और केतु की तरह उसे आक्रान्त करते रहते हैं। वर्तमान समय में मनुष्य और मानवता की पहचान का सकंट सर्वाधिक त्रासद के रुप में हमारे समाने उपस्थित है। जहाँ तक मानवता का सवाल है, वह तो हमारे समय में एक अर्मूत धारणा का रुप ले चुकी है। न तो उसकी ओर कोई ध्यान देता है और न हि आमजन में उसके प्रति कोई उल्लेखनीय चिन्ता ही है। जो लोग ध्यान देते हैं, वे मानवता शब्द को इतनी बार दोहराते हैं कि उसके अर्थ में कोई ऊर्जा नहीं रह जाती है। इन सब के बावजूद समकालीन कविता अपने अस्तित्व को कायम रखते हुए समाज और परिवार के बीच समरसता चाहती है, तादात्म्य नहीं। दूध का दूध के साथ मिलना अथवा नीर का नीर से मिलना सामरस्य है, किन्तु दूध का दूध से मिलना तादात्म्य कहलाता है क्योंकि यहाँ जल दूध का रूप धारण कर लेता है और अपना अस्तित्व खो देता है, जब कि दूध में दूध के मिलने पर दोनों में जो एकरूपता होती है, उसमें कोई भी अपने रूप को किसी में नहीं खोता ।

समकालीन कवि अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति पूर्ण सतर्क है, लेकिन अस्तित्ववादियों की तरह अपने हर क्षण को क्षणवादी मानकर चिन्ताकुल नहीं है। क्षण के प्रति व्यामोह होना और अपने अस्तित्व की पहचान के प्रति सजग रहना दोनों में अन्तर है। कवि इस पहचान के प्रति सचेष्ट है। वह पहचान चाहे राजा भोज की हो या फिर गंगू तेली की।[2] आज रचनाकार के सामने एक मुखौटा है, पहचान की पड़ताल

---

1. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ0 758

2. "चाहे मैं दो टके का आदमी होऊँ, फिर भी मुझे मेरे नाम से ही जाना जाय।" - प्रधान सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) अजय प्रकाश की कविता, दिसम्बर 2002, पृ. 20 पर उद्धृत।

है। कुमार विकल की निम्न कविता से पहचान का रुप कितना सटीक उजागर होता है-

"यह शेर का मुखौटा है। और भालू ने पहन रखा है
यह भालू का मुखौटा है। और बन्दर ने पहन रखा है
यह आदमी का मुखौटा है। किसने पहन रखा है?
फिर आदमी के चेहरे पर किसका मुखौटा है।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियाँ पुरानी पीढ़ी को फाँदने में सफल हैं। मानव के इस मुखौटे का पता लगाने के लिए पाठ्कों के पास निर्णय सुरक्षित हैं।

समकालीन कविता की मानवीय चेतना स्वस्थ है। आज के नवोदित रचनाकारों द्वारा माता-पिता, भाई- बहन, पुत्र-पुत्री, लड़का-लड़की, नाना-नानी, दादा-दादी, चाचा-चाची, आदि परिवारिक सम्बन्धों तथा घर, मकान, चौपाल, गाँव, शहर आदि परिवेशगत वातावरण को लेकर विभिन्न प्रकार की चिन्तन और चेतना प्रधान कविताएँ लिखी जा रही हैं। सामाजिक टूटन के चलते हुए दौर में संयुक्त परिवार के स्थान पर एकल परिवार को तरजीह दी जाने लगी है। **"मनुष्य के चिन्तन में नए-नए विचारों का समावेश हुआ है और संसार की परिवर्तित होती हुई मान्यताओं से परिवार की नींव, व्यक्ति का चिन्तन और दृष्टिकोण युगबोध से प्रेरित हो चुका है।"**[2] संयुक्त परिवार में दर्द, घुटन, गुहार,अनास्था आदि की जो पुकार बलवती थी, यहाँ एकल परिवार में आकर वह समाप्त हो गई हैं। इसके बावजूद भी भारत में अनेक ऐसे परिवार हैं, जहाँ थकान, कुंठा और निराशा की आपाधापी तथा पीढ़ियों के वैचारिक संघर्ष ने जीवन का रस सोख लिया है, आत्मिक स्नेह तिरोहित हो गया है; मात्र मौखिक रह गया है-

" माँ/ बहिन/ बीबी
ये सब रिश्ते पवित्र हैं
क्योंकि मुँह जबानी हैं।"[3]

शलभ श्रीरामसिंह, चन्द्रकान्त देवताले, रंजना श्रीवास्तव, श्यामसुन्दर दुबे, नीलेश रघुवंशी, प्रीति श्रीवास्तव आदि न जाने कितने कवियों ने पत्नी, बच्चों, घर, और आस-पास के वातावरण को लेकर विविध कविताएँ लिखी हैं। इन कवियों को वर्तमान की खोखली राजनीति, साम्प्रदायिक झण्डे, त्रिशूल और शिला-पूजन, शांति के कृत्रिम जुलूस आदि पर विश्वास नही है। आज की माँ अपने बेटे को इन मजहबी खुरेंजों से उमड़ी हुई उन्मादी भीड़ में जाने का निषेध करती है -

"अपने दो बरस के बेटे का हाथ पकड़
होती हूँ शामिल शांति-यात्रा में
पकड़ती हूँ नन्हे हाथ में तख्ती शांति अपील की,

---

1. *प्रधान सं0 : विजयराय : उत्तर प्रदेश (मासिक पत्रिका) संभावना विशेषांक, जुलाई 2002 पृ0 35 पर उद्धुत।*
2. *चन्द्रभूषण सिन्हा : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति पृ0 53*
3. *लीलाधर जगूड़ी : नातक जारी है, पृ. 54*

करती हूँ प्रार्थना

कभी न शामिल हो मेरा बेटा उन्मादी भीड़ में।"[1]

-नीलेश रघुवंशी

व्यक्ति की सामाजिक चेतना उपेक्षित, शोषित और लघुमानव का समर्थन करती है, क्योंकि वह इस अन्त्यज वर्ग के दुःख-दर्द को अच्छी प्रकार से जानती है। इसके लिए वह व्यक्तिवाद का विरोध करती है क्योंकि उसे पूरी तरह विश्वास हो गया है क्योंकि यह वही व्यक्तिवाद है, जो लघु मानव के परिश्रमजन्य रक्त को चूस-चूस कर अपनी कोठरियाँ भरता है। समकालीन कविता विषमता के इस कैंसर को समाप्त करना चाहती है। सामाजिक न्याय को स्थायित्व प्रदान करने के लिए विषमता के हर स्वरूप का उन्मूलन आवश्यक है। कालिदास जिस डाल पर बैठे थे, उसी को काट करहे थे, तब हमने उन्हें मूर्ख की संज्ञा दे डाली थी। आज हम स्वयं कालिदास हैं; जो अपना है, उसे ही विभाजित कर रहे है, अपने आप को बाँट रहे है। कालिदास ने तो एक ही डाल काटी थी, सम्भवतः वह कट भी नही पाई थी, किन्तु आज हम न जाने कितनी सामाजिक डालियाँ काट-काटकर अपने को ही छिन्न कर रहे हैं:-

"हम हो गए हैं कालिदास कि

जिस डाली पर बैठे हैं

उसी को काट रहें हैं

हम अपने को ही, आपस में बाँट रहे हैं"।[2]

- अजय प्रकाश

2. स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श :

स्त्री और दलित-विमर्श हिन्दी-जगत के लिए नए नहीं है। हिन्दी के आदिकाल से लेकर अब तक इन पर प्रचुर साहित्य लिखा जा चुका हैं; किन्तु वह विमर्श के रूप में अभिधेय नहीं प्राप्त कर सका था, जिसकी चर्चा समकालीन कविता में प्रायः उठाई जा रही है। आज इसे 'ट्रेन्ड साहित्य' का भी नाम दिया जा रहा है। ट्रेन्ड साहित्य वह साहित्य होता है, जिसमें रचनाकार अपने समय के यथार्थ की जटिलताओं को सधैर्य देखता व परखता है और उनका सम्यक् विवेचन एवं विश्लेषण करके समाज और पाठक के सामने प्रस्तुत कर देता है।

सातवें दशक के काव्य-चिन्तन में फ्रायड, एडलर और युंग जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों का प्रभाव होने के कारण नारी को यौनिमात्र समझा गया और वह एक जिस्म के रूप में लिपट कर रह गई। सातवें दशक की परिसमाप्ति के बाद नारी के प्रति एक नवीन दृष्टि और एक नया बोध दिखाई देता है। इस दशक के बाद अर्थात् समकालीन नारी न तो पलँग और हिंडोले का जीवन जीती है और न हि उसके पास इतना अवसर है कि वह प्रिय-वियोग में जलती-फुँकती रहे। उसके पास नायक द्वारा उड़ाई गई पतंग की प्रतिच्छाया के पीछे-पीछे दौड़ते रहने के लिए भी समय नहीं है। यद्यपि उसके मुख-मण्डल पर पहले की तुलना में आनन-ओप-उजास ज्यादा है, फिर भी उसके जीवन में परिश्रमजन्य स्वेदकण की प्रधानता है। वह अपने पति

1. सं. राजेन्द्र यादव : हंस (मासिक), पृ0 50, दिसम्बर 2002, अक्षर प्रकाशन प्रा.लि. 2/36, असरानी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।

2. प्रधान सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) , पृ0 20, दिसम्बर 2003

के साथ नगर जाती है और नागर-जीवन से परिचित हो गई है। शिक्षा के दमकते अभियान ने उसे साक्षर कर दिया है। आज उसमें सरकारी तौर पर अर्थोपार्जन की क्षमता भी है। आज के इस नारी-आरक्षण-युग और पंथ-निरपेक्ष राज्य में वह न तो अछूता है, न अपूता और न हि शूद्रा। उसे केवल प्रसाधन और आभूषण का ही उपयोग नहीं, कमरे में मैग़ज़ीन भी पढ़नी है। आज की नारी के पास एक महान दायित्व है। उसे गृहस्थी सँभालनी है, रोते हुए बच्चों की देखभाल, कपड़ो की सिलाई और आलू छीलने से लेकर पति के आने पर रमणी बनकर रिझाने का भी दायित्व है।

नारी के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्तर को उन्नत करने के लिए विगत पौने दो सौ वर्षों में अनेक कारगर प्रयास हुए हैं। सन् 1829 ई0 में 'सती-प्रथा', सन् 1929 में ' बाल-विवाह', 1955 में 'हिन्दू -विवाह एक्ट' और 1976 में 'दहेज-प्रथा' से सम्बन्धित महत्वपूर्ण नियम बनाए गए। नारियों को वोट देने से लेकर राष्ट्रपति बनने तक में संवैधानिक दृष्टि से कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इतना होने के बावजूद भी जब हम वर्तमान समाज की यथार्थमयी स्थिति पर विचार करते हैं तो पातें हैं कि आज भी स्त्री पारिवारिक जीवन की ऊब और समाज की संकीर्णताओं से विमुक्त नहीं हो पाई है। उसके चारो ओर अनचाहा जीवन है। पारिवारिक सदस्यों की बहुत सारी उपेक्षाएँ उसे झेलती पड़ती हैं। अधिकांश परिवारों में नारियों के लिए घर की चहार-दीवारी आज भी लक्ष्मण-रेखा है। सास-श्वसुर, ननँद, देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी की दुनियाँ आज भी वर्तमान है-

"ओह माँ! तुम
सहती हो पिता की/ डाँट फटकार
उनके फुफकारते हुए/ क्रुद्व अभिमान को
सास को, श्वसुर को, भाई- भतीजों को
लिजलिजे परम्परावादी/ बदरंग आदर्शों को।"[1]

- रंजना श्रीवास्तव 'माँ' शीर्षक कविता से

रघुवीर सहाय जैसे कवि ने 'औरत की जिन्दगी', 'अकेली औरत', 'नंगी औरत' जैसी कविताएँ लिखकर नारी की विसंगति पूर्ण परिस्थितियों का अच्छा चित्रण किया है। डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' ने 'अभिशप्त शिला' में नारी-जगत की सम्पूर्ण संवेदनाओं को ऋषि पत्नी अहल्या में समावेष्ठित करके उसे परान्तः जगत् से जोड़ने की कोशिश की है और इस समष्टिपरक प्रयास मे सफल हुए हैं। स्त्री- विमर्श की महत्ता और समाज में प्रतिकूल सोच का एक मर्मान्तक चित्रण इस प्रकार है-

" नारी से ही पुरूष रहा गरिमा मण्डित है
नारी के अभाव में मनुज मूर्ति खण्डित है
\+ + +
जननी ने ही जन्म दिया धरती में जन को
जन ने ही जाना, न कभी जननी के व्रण को।"[2]

समकलीन कविता की पुरानी पीढ़ी में रघुवीर सहाय, धूमिल, त्रिलोचन शास्त्री, लीलाधर जगूड़ी,

---

1. सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) , पृ0 43, सितम्बर 2002

2. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 62, 64

चन्द्रकान्त देवताले, डॉ0 रणजीत, डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित', शांता सिन्हा, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी आदि कवियों ने तो नारी-विषयक स्फुट रचनाएँ लिखी ही हैं, साथ ही आज की नवोदित रचनाओं में सविता मिश्र की 'तुम नहीं आए'[1], राजन स्वामी की 'भ्रूण-परीक्षण',[2] नंद चतुर्वेदी की 'बसंत सेना'[3], श्रद्धा सिंह की 'तिलिस्म'[4], रमेश मयंक की 'लड़कियाँ'[5], प्रीति श्रीवास्त की 'वे लड़कियाँ'[6] आदि कविताएँ नारी की दशा-दिशा का समुचित बोध कराती हैं।

सारांश यह है कि आज के इस उत्तर आधुनिकतावाद में नारी सम्मानित तो है, किन्तु उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकृत नहीं है। समकालीन कविता में स्त्री-जगत् को लेकर कवियों के लिए एक चुनौती भरा विमर्श-सूचक चिह्न आज भी बना हुआ है। नारी के प्रति लोगों का अन्धपरक मोह इतना बढ़ गया है कि वह मर करके भी नहीं मर पाती, उसके मुस्कराते हुए चित्र आज भी दीवारों पर फड़फड़ाते हैं-

"मरकर भी/ मरती नहीं है
ठोंक दी जाती है/ लोहे के कीलों से
चित्र के रूप में/ सदैव मुस्कराने के लिए।"[7]

हिन्दी-जगत् में उपेक्षित और दलित के प्रति करूणा व संवेदना के भाव सदैव से व्यक्त किए जाते रहें हैं। काव्य-जगत् में कबीर तथा कथा-साहित्य में मुंशी प्रेमचंद को दलित-चेतना का उन्नायक माना जाता है। किन्तु यहाँ पर सामंत वर्ग सदैव हावी रहा है, परिणामतः अन्त्यज वर्ग की चीख और पुकार अनसुनी हवा में विलीन हो गई है।

समकालीन कविता से अनेक कवियों ने दलित-संवेदना को लेकर अपनी कलम की नोक को तीक्षणता प्रदान की है। नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' कविता आठवें दशक की प्रतिनिधि रचना है, जिसमें मराठी दलित-चेतना का चित्र अक्स किया गया है। एक दिन ऊँची जाति के लोग अपनी पूर्व योजना के आधार पर एक गड्ढ़ा खोदते हैं। उसमें मोटे-मोटे लक्कड़ और उपलों का ढेर जुटाते हैं तथा तेरह निम्नवर्गीय मनु-पुत्रों को जिंदा जला देते हैं। निम्नवर्ग की नींद उड़ जाती है, किन्तु पुलिस के कानों में जूँ नहीं रेंगती। उसी गाँव में उन्ही भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के घर में एक होनहार शिशु का जन्म होता है। उस बच्चे के लम्बे कान,चौड़ा माथा और तेज आँखे देखकर बिरादरी के लोग निश्चय करते हैं कि गाँव के खदेरन गुरु से इस कलुवे की किस्मत के बारे में पूछा जाए। वे बच्चे को गुरु-चरणों में ले जाते हैं। गुरु द्वारा उसे कृष्ण जैसा होनहार बताया जाता है। ऊँची जाति के लोगों में कृष्ण के मिथक का कौंध जाना स्वाभाविक है। उधर निम्नवर्ग के लोगें में बच्चे को धीरे-धीरे बढ़ता हुआ देखकर अपने त्राण की आशा बँधती है। कवि ने विमर्श के रूप में उस बच्चे के माध्यम से क्रान्ति का जो चित्र अनुरेखित किया गया है, उसका

---

1. सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) , पृ0 57, नवम्बर 2002
2. सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) , पृ0 45, सितम्बर 2003
3. नंद चतुर्वेदी : उत्सव का निर्मम समय, बसंत सेना, पृ0 48
4. सं. डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ0 77, जनवरी-मार्च 2001
5. सं. डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), पृ0 27 नवम्बर 1992
6. सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) , पृ0 33, फरवरी 1997
7. सं. विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक) , पृ0 44, सितम्बर 2003

एक दृश्य इस प्रकार है :-

"श्याम सलोना यह अछूत शिशु
हम सब का उद्धार करेगा,
आज वही सम्पूर्ण क्रान्ति का
बेड़ा सचमुच पार करेगा।"[1]

धनंजय अवस्थी कृत 'शबरी' 20 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक की प्रसिद्ध रचना है। इसमें कवि ने कर्मो की उच्चाशयता को प्रमुखता दी है। उदात्त कर्मो का संबल लेकर निम्न वर्गीय व्यक्ति भी वरेण्य पद का अधिकारी हो जाता है और तुच्छ कर्मो के आग्रही व्यक्ति चाहे जितने अभिजात्य वर्ग के हों, अपूज्य और निंदित हो जाते हैं। शबरी जैसी अछूता नारी की कार्मोदात्तता से प्रभावित होकर वितण्ड मुनि जैसे अभिमानी धर्माधिकारी भी शबरी के सामने अपने घुटने टेक देते हैं। किसी समय दलितों का पूजागृहों में जाने से निषेध था, पूजा और संध्योपासना की मनाही थी। कवि ने इन सभी दकियानूसी अंध परम्पराओं को छिन्न भिन्न कर दिया है। मानवीय सेवा और संवेदना जैसे महार्ध मूल्यों के समक्ष जगत् का हर तंत्र-मंत्र छोटा है-

"विधि सम्मत आराधन
'गायत्री'
संध्योपासन!
इनसे भी ऊँचा है
मानवीय संवेदन।"[2]

समकालीन कवितामें अभावपरक धरातल का महत्वपूर्ण स्थान है। किसी अभाव को सूचित कर देना उस अभाव के प्रति श्रद्धा का ही भाव जगाता है। इससे कम-से-कम यह तो एहसास हो ही जाता है कि यदि निम्नवर्ग के प्रति प्रेम और सौहार्द्र का अनुपालन हो जाए, तो जीवन और समाज में शांति की संभावना काफी बढ़ सकती है। समकालीन कविता में ऐसी मनःस्थितियाँ कई जगह रूपायित हुई हैं। नवोदित कवयित्री वंदना केंगरानी का एक उदाहरण देखिए, जिसमें दलित-समाज की ओर से मानवाधिकार का उल्लंघन दिखाया गया है; किन्तु यह उल्लंघन की नौबत क्यों आई? यह एक विचारणीय बिन्दु है, जो दलित-वर्ग को बार-बार कचोटता है। इसी अभाव को दूर करना ही दलित-विमर्श का मुख्य लक्ष्य है -

"लड़कियाँ थाप रही हैं उपलें
तोड़ रही हैं पत्थर
खट रही हैं चूल्हे की आग में
उठा रही हैं मातृत्व का बोझ कच्ची उम्र में।"[3]

दलित-चेतना के अन्तर्गत बलदेव वंशी की 'उपनगर में वापसी', सोमदत्त की 'हरिजन-हत्याकाण्ड', लीलाधर जगूड़ी की 'बलदेव खटिक', त्रिलोचन शास्त्री की 'नगई महरा', कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की 'भंगी

---

1. नागार्जुन : खिचड़ी विप्लव हमने देखा (हरिजन गाथा से) पृ0 124
2. धनंजय अवस्थी : शबरी, पृ0 71
3. सं. रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ. 77 जुलाई-सितम्बर 2001

कालोनी', प्रताप सिंह सहगल की 'सवाल अब भी मौजूद है', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'पोस्टर और आदमी', रघुवीर सहाय की रामदास,मैकू, खुशीराम, आमार सोनार दिल्ली; धूमिल की 'मोचीराम' आदि कविताएँ सामाजिक दुख दर्द की कथा कहती हैं। इनके सभी पात्र समीक्षात्मक शब्दावली में 'लघुमानव' हैं। नवें दशक के बाद की रचनाओं में 'बहस जारी है'(वन्दना केंगरानी), 'महानगरों के बीच' (सुरेन्द्रचन्द्र पाल), 'उत्सव का निर्मम समय' (नंद चतुर्वेदी), 'सोच की हत्या' (त्रिलोकी शर्मा), 'वह सच नहीं था'(फौजदार माली) तथा 'क्रांति' (रमेश तिवारी 'नीरज'), आदि का प्रमुख स्थान है। ये सभी रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। इन रचनाओं से मानवीयता का साक्षात्कार होता है। दलित-विमर्श के अन्तर्गत उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग को मात्र सताया जाना ही शामिल नहीं है, अपितु निम्नवर्ग की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और मानवीय जगत् की वे त्रासद परिस्थितियाँ संश्लिष्ट हैं, जिनके चक्रव्यूह में फँस कर वह दहशत और दमन की चक्की में घुटता-पिसता रहता है। इस दमन भरी चक्की से निकलकर वह गर्व से अपना मस्तक उठाए, उसके हृदय में पुलक बढे, आँखो में चमक आए, स्वयं को निहारे और मुस्कराए; यही दलित-विमर्श की मुख्य अवधारणा है।

3. राजनीतिक चेतना और वामपंथी रुझान के बदलते तेवर :

कोई भी रचनाकर हिंसा, अनीति और कट्टरता जैसे तत्वो का समर्थन नहीं करता। समाज में जब ये तत्व हावी होने लगते हे तो रचनाकार का इनके विरोध में वाम हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार कोई भी रचनाकार वाम हुए बिना नहीं रह सकता। किन्तु वाम विश्वासी होने का अर्थ देश की वाम राजनीतिक पार्टियों के पीछे चलना नहीं है। नई कविता और उससे पार्थक्य-बोध जताने वाले विभिन्न अल्पजीवी काव्यान्दोलन राजनीति की कठोर सच्चाइयों और उसकी कटुता का बोझ सँभालने में असमर्थ हो गए; परिणामतः सच्चाइयों का यह जीवन्त बोझ समकालीन कविता ने अपने कंधो पर लिया। समकालीन कविता के सम्पूर्ण राजनीतिक दस्तावेज में वाम कविता के दो स्वर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं-

क - वाम कविता का आरोही स्वर (प्रारंभ से आठवें दशक के अन्त तक)

ख - वाम कविता का अवरोही स्वर (आठवें दशक के बाद से अब तक)

क. वाम कविता का आरोही स्वर :

राजनीति और वामपंथी चेतना को तीव्रतर करने में सातवें और आठवें दशक की राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं का प्रमुख हाथ है। यथा; 1962 ई0 में चीन-भारत युद्ध एवं संघर्ष समाधान हेतु छः देशों का कोलम्बो सम्मेलन, 1965 में पाक-भारत युद्ध एवं ताशकन्द (शास्त्री व अयूब खाँ के मध्य) समझौता[1] 1967 में चतुर्थ आम चुनाव में कांग्रेस का सामान्य बहुमत से केन्द्र-सत्ता में आना ओर कुछ राज्यों में पदच्युत नक्सलवादी (प0 बंगाल) कम्युनिष्ट आन्दोलन, 1969 में राष्ट्रपति के पद के चुनाव में पहली बार कांग्रेस के उम्मीदवार की पराजय, कांग्रेस का दो भागों में विभाजन एवं अगले चुनाव में इन्दिरा

---

1. *"जब दुनियाँ के स्याह और सफेद चादरों ने*
   विस्मय से देखा कि ताशकन्द में
   सफेद चादर के नीचे
   एक शांति यात्रा की लाश थी।"

   – धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 108

गाँधी का अधिक मजबूती के साथ सत्तारूढ़ होना, 1970 में साम्यवादी दल का दो भागों में बँटना, तरुण-विद्रोह का एक नया रूप नक्सलवाद के रूप में उभरना एवं पश्चिमी बंगाल में हिंसा करना।

इसी प्रकार आठवें दशक में 1971 में पाक-भारत युद्ध, 1972 में पाक-भारत शिमला-समझौता, 1974 में पोखरन (जैसलमेर) में प्रथम भूमिगत परमाणु विस्फोट,1975 में आपात्कालीन घोषणा, 1977 में जयप्रकाश नारायण के आह्वान पर जनता पार्टी का गठन व कांग्रेस की हार, 1980 में इन्दिरा-शासन का पुनरागमन, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर 1976 में चीनी प्रधान मंत्री चाऊ-एन-लाई तथा राष्ट्रपति मओत्से-तुंग का निधन, कम्पूड़िया का वियतनाम पर आक्रमण आदि नाना प्रकार की राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं एवं घटनाओं ने वामपंथी राजनीतिक चेतना को एक नया स्वर दिया।

उपर्युक्त दो दशकों की राजनीतिक गतिविधियों ने वामपंथी चेतना को आगे बढाया। इनमें नक्सलवाद का स्वर उग्र, तीखा और राजनीतिपरक माना जाता है, जिसने 1970 मे प0 बंगाल में खूनी क्रान्ति कर डाली थी। इस सम्बन्ध में यदि एक तरफ डोलार्ड जे0 का मनोवैज्ञानिक मुहावरा 'फ्रस्टेशन लिड्स एग्रेसन' (Frustration lids aggression)[1] सच निकला तो दूसरी तरफ धूमिल का यह कथन उससे ज्यादा तर्कसंगत लगता है- **"और भूख में तनी हुई मुट्ठी का नाम नक्सलवाड़ी है।"**[2]

वामपंथी को उग्र और पुष्ट करने में चीन के राष्ट्रपति माओत्से-तुंग के राजनीतिक दर्शन की भी भूमिका रही है। यदि प्रगतिवादी चेतना का साहित्यिक आन्दोलन रुस की सर्वहारा क्रान्ति से प्रेरित हुआ था, तो समकालीन कविता के बदलते तेजाबी तेवर और वामपंथी रुझान को चीन की कृषक-क्रान्ति को माडल का अनुकर्ता कहा जा सकता है। माओ का यह कथन उद्धरण के योग्य है- **'राजनीति चाहे क्रान्तिकारी हो या प्रतिक्रान्तिकारी, विभिन्न वर्गो के बीच का एक संघर्ष है, मात्र कुछ व्यक्तियों की कार्यवाही नहीं।"**[3]

इस प्रकार वामपंथी चेतना राजनीति की स्वतंत्र इकाई नहीं है और न हि यह किसी दलगत नीतियों तक सीमित है, बल्कि यह चेतना सम्पूर्ण परिदृश्य के साथ दृष्टिगत होती है।

वामपंथी कवियों में धूमिल, रघुवीर सहाय, रमेश गौड़, वेणु गोपाल, आलोक धन्वा, नागार्जुन, बलदेव वंशी, केदारनाथ सिंह, ऋतुराज,अशोक बाजपेयी, अश्वघोष आदि सभी राजनीतिक चेतना से आक्रान्त दिखाई देते हैं। इनमें धूमिल, रघुवीर सहाय, रमेश गौड़, वेणु गोपाल आदि कवि लोहियावादी है, इन सभी कवियों ने छल, प्रपंच, धूर्तता, मक्कारी से प्राप्त सत्ता और उससे जुड़े हुए सत्ताधीशों पर तीव्र प्रहार किए हैं।

रघुवीर सहाय की कविता राजनीति का सीधा साक्षात्कार प्रस्तुत करती है। उनकी कविता में सम्पूर्ण शासन तंत्र नंगा हो गया है। उनकी कविता को पढ़ना एक भीड़ भरे बाजार में चलना है। उनके राजनीतिक तर्क सीधे, किन्तु पैने हैं। उनकी कविता में राजनीति को सीधे और अखबारी लहजे में अभिव्यक्ति दी गई है। इस अखबारी शब्द को लेकर कही-कहीं उन्हें आलोचना का शिकार भी होना पड़ा है। श्रीराम वर्मा ने उनकी कविता को 'अखबारी कविता' तथा सुरेन्द्र चौधरी ने' काव्य रिपोर्ताज' की संज्ञा दी है। कवि इन सब

---

1. डोलार्ड जे0 : फ्रस्टेशन एण्ड एग्रेशन - न्यू हीवेन, कान चेले, 1939
2. डॉ0 अरुण कुमार : नई कविता : कथ्य एवं विमर्श, पृ0 260 पर उद्धृत।
3. पहल - 10-11, मार्क्सवादी सौन्दर्य शास्त्र अंक, पृ. 22

आलोचनाओं से परे है। स्वयं उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा है-'**लोकतंत्र मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमे इंसान की शानदार जिन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाप लिया है।**''[1]

अधिनायक, भीड़ में मैं और मैकू, लोकतंत्रीय मृत्यु, आत्महत्या के विरुद्ध, एक अधेड़ भारतीय आत्मा शीर्षक कविताओं में उनकी राजनीतिक रूझान बिल्कुल साफ और गहरी मालूम पड़ती है -

"पूछेगा संसद मे भोला भाला मंत्री
मामला बताओ हम कार्रवाई करेंगे
हाय-हाय करता हुआ,हाँ -हाँ करता हुआ, हें-हें करता हुआ
दल-का-दल
पाप छिपा रखने के लिए एक जुट होगा
जितना बड़ा दल होगा, उतना ही खाएगा देश को।"[2]

धूमिल एक ऐसे कवि है, जिनमें नक्सलवाद का प्रभाव अपनी चरमसीमा पर है। जो व्यक्ति पूरी तरह से निरपराध है, जिसका नाम भी अपराधों की सूची में दर्ज नहीं है, वह व्यक्ति सरकारी तांत्रिको द्वारा सताया और कुचला जाता है। जो सचमुच हत्यारा है, राजनीति की आड़ लेकर बच जाता है। इन्हीं विसंगतियों का सामूहिक पर्यवेक्षण करने के बाद धूमिल ने कहा था कि सच्चे अर्थो में आज की परिभाषा में प्रजातंत्र के अन्तर्गत न तो कोई प्रजा है और न कोई तंत्र, क्योंकि प्रजातंत्र के मानक विचलन में आदमी का खुलासा षड़यंत्र दृष्टिगोचर होता है।[3]

धूमिल वाम-कविता के पुरोधा हैं, जिन्होंने अपने काव्य संकलनों, - 'संसद से सड़क तक'(1972), 'कल सुनना मुझे'(1977) और ' सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र (1984) में राजनीति के वीभत्स रुपों को पूरी अभिव्यक्ति दी है और उनके तेवर अश्लीलता के हद तक विद्रोही रहे हैं। पटकथा, रोटी और संसद, किस्सा जनतंत्र, मोचीराम, रात्रिभाषा आदि उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जिनमें समाज बनाम राजनीति का सीधा मुकदमा दायर किया गया है।

आज देश के सामने सबसे बड़ी समस्या रोटी की है, उसी रोटी पर राजनीति का सम्पूर्ण व्यापार टिका हुआ है। समकालीन कवियों ने रोटी से खेलने वाले राजनेताओं पर तीखा व्यंग्य किया है-

"राजनीति जब/ खेलने लगी है
रोटी से/ बहुत दूर हो गई
हमसे रोटी।"[4]

---

1. रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध ('वक्तव्य' से)
2. रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध (एक अधेड़ भारतीय आत्मा से), पृ0 79
3. "न कोई आदमी है / न कोई तंत्र है
यह आदमी के खिलाफ
आदमी का खुलासा
षड़यन्त्र है।" - धूमिल : सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र, पृ018
4. सं. रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, शिवडोयले की कविता, पृ. 68, जनवरी-मार्च2001

सुदामा पाण्डेय की अत्यन्त चर्चित कविता देखिए, जिसमें उन राजनेताओं पर व्यंग्य किया गया है जो अपनी आँख में बटमारी का चश्मा लगाए हुए हैं, कीचड़ आँख में है, किन्तु पोछते चश्मा हैं। रोटी से खेलने वाले तीसरे आदमी का पता लग गया है। आज की कविताएँ बराबर शिनाख्त कर रही हैं -

"एक आदमी रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है/ एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ राटियाँ खेलता है
मैं पूछता हूँ -
यह तीसरा आदमी कौन है?
मेरे देश की संसद मौन है।"[1]

इसी प्रकार नागार्जुन, रमेश गौड़, वेणु गोपाल, आलोक धन्वा, बलदेव वंशी, ऋतुराज आदि अनेक कवियों ने व्यवस्था की नब्ज को पहचानते हुए भाषा और मुहावरों का प्रयोग किया है। धूमिल की मृत्यु के बाद आठवें दशक के अन्त तक2 पहुँचते-पहुँचते वाम-कविता का आरोही स्वर मन्द पड़ता गया और कविता विद्रोह एवं अस्वीकृति का रास्ता छोड़कर अवरोही क्रम में कलात्मक प्रतिभा की ओर अग्रसर होने लगी।

ख. वाम-कविता का अवरोही स्वर :

समकालीन कविता के लम्बे इतिहास में आठवें दशक के बाद कविता का तेवर कुछ बदलता हुआ नजर आने लगा। कवि के बदलते हुए मिजाज के सम्बन्ध में धूमिल की यह भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य निकली। 'संसद से सड़क तक' का प्रकाशन उनके जीवन-काल में ही हो गया था। इसके बाद वे लम्बे समय के लिए बीमार हो गए। वे अपने आगामी काव्य संग्रह के बारे में बातचीत करने के दौरान अपने पुत्र रत्नशंकर से कहा करते थे - *"इसके पढ़ने के बाद लोग या तो अपनी लेखनी बन्द कर देगें या फिर नया रुख अख्तियार करेंगे। और भाषा 'संसद से सड़क तक' की काव्य-भाषा से आगे की होगी।'[2]*

धूमिल का उपर्युक्त कथन आगे की समकालीन कविताओं के लिए सत्य चरितार्थ हुआ। जहाँ' चाँद का मुँह टेढ़ा है' पढ़कर लोगों की रुचि राजनीति के प्रति बढ़ी थी, वहीं आठवें दशक के अन्त में 'कितनी नावों में कितनी बार' पढ़कर लगभग समाप्त हो गई। राजनीतिक सन्दर्भ को लेते हुए आठवें दशक के बाद से लेकर 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक के पूर्वार्द्ध तक जितनी भी कविताएँ लिखी गई हैं या लिखी जा रही हैं, उनमें राजनीति के प्रति बगावत तो है, किन्तु वह बगावत 'आक्रामक' अथवा 'हल्ला बोल रैली' के स्वरों में न होकर व्यंग्य-बाणों के मधुर प्रहार के रुप में हुई है। उनके चिन्तन में एक विनयशीलता है, जो राजनीति की बुनियादी मानसिकता पर चोट करती है और एकबार फिर से इंसान की जिन्दगी से रिश्ता तय करने का अवसर देती है। इन कवियों में दल-निष्ठा नहीं, जन-निष्ठा है। 'दृष्टि बदल जाने से, सृष्टि बदल जाती है'[3] का आश्रय लेते हुए इन बाद के कवियों ने अपनी दैनिकी बदल डाली ।

---

1. धूमिल : कल सुनना मुझे : 'रोटी और संवाद' से
2. धूमिल : सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र; दो शब्द, भूमिका से
3. धनंजय अवस्थी : शबरी ('संघर्ष' से) पृ0 52

ऐसे कवियों में डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित', धनंजय अवस्थी, अशोक 'अंजुम', शिवकान्त 'विद्रोही', बलदेव वंशी, रामानुज त्रिपाठी, वन्दना केंगरानी, देवेन्द्र आर्य, वसंत श्रीवास्तव, राजेश जोशी, रति सक्सेना, वीरेन्द्र डंगवाल, मंगलेश डबराल आदि के नाम प्रमुख हैं। जब कभी कवियों को राजनीतिक विसंगतियों के विरूद्ध व्यंग्य दर्शाना होता है, तब वे या तो ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रतीकों का सहारा लेते हैं या फिर अपनी नपी तुली और मँजी हुई बात को सीधे सरल शब्दों में कह देते हैं। एक उदाहरण देखिए, जहाँ कवि ने राजनीति की तुलना 'वर्णभेद' से की है-

"नैतिकताहीन राजनीति सदा
बनती युग त्रासदी
आज यहाँ -
घट-घट में वर्ण-भेद फैला है
समता का आँचल कुछ
इसलिए मैला है।"[1]

इस प्रकार ये कवि नवें दशक से लेकर आज तक समकालीन परिवेशगत वातावरण को ध्यान में रखते हुए अपनी लेखनी को अविरामगति से परिचालित किए हुए हैं। इनकी कविताओं में वामपंथी कठमुल्लापन नहीं है। उनकी धारणा है कि जो रचनाएँ कलात्मक प्रतिभा की दृष्टि से दुर्बल हैं, वे शक्तिहीन मानी जाती हैं; राजनीतिक दृष्टिकोंण से वे चाहे जितनी बढ़ी-चढ़ी हों।

4. राष्ट्रीय चेतना और वैज्ञानिक बोध :

(क) राष्ट्रीय चेतना :

राष्ट्रीय चेतना का व्यापक प्रयोग देशभक्ति की कविताओं के लिए किया जाता है। इनमें देश और जाति के प्रति एक समता का भाव रहता है। समकालीन कविता स्वतंत्रता आन्दोलन और आजादी के बाद की कविता हैं। आजादी के बाद प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता आदि कई काव्ययुग बीत चुके हैं। अतः समकालीन कवियों में राष्ट्रीय चेतना स्वतंत्रता प्राप्ति के सन्दर्भ में विकसित नहीं हुई है। सच्चाई तो यह है कि समकालीन कविता में राष्ट्रीय भाव-बोध का स्वरूप अधिक निखरा नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि संविधान लागू होने के बाद यहाँ के राजनेताओं का कुर्सी-लोभ इतना प्रबल हो गया कि वे परकाय को भूलकर स्वकाय में केन्द्रित हो गए, कृषि प्रधान देश कुर्सी-प्रधान देश हो गया। परिणामतः समकालीन कवि समसामयिक अन्तर्विरोधों, विषमताओं और विडम्बनाओं में फँस गया, राष्ट्रीय चेतना पीछे रह गई। समकालीन कवियों में अन्तरराष्ट्रीय चेतना जितनी मुखर है, उतनी राष्ट्रीय भावना नहीं। फिर भी राष्ट्रीय चेतना के विविध पक्षों में अनेक पक्ष ऐसे भी हैं, जिनका संस्पर्श समकालीन कवियों ने किया है। अतः राष्ट्रीय चेतना से इनकार नहीं किया जा सकता।

जब कभी किसी देश पर विदेशी आक्रमण होता है, तो उस अवसर पर युद्ध-गीतों के रूप में राष्ट्रीय चेतना का उदय होता है। जब-जब देश पर संकट आया है, सेना ने अपने बलिदान और लोमहर्षक संघर्ष के द्वारा राष्ट्र की रक्षा की है। चाहे वह 1971 का पाक-भारत युद्ध हो, चाहे 1999 का पाक-भारत के बीच होने वाला कारगिल युद्ध। भारत युद्ध लड़ना नहीं चाहता, किन्तु उस पर युद्ध हमेशा थोपा गया है।

---

1. धनंजय अवस्थी :शबरी ('सिद्धि' से) पृ0 105

यह बात बिल्कुल साफ और स्पष्ट है कि विदेशियों ने जब-जब भारत को समझने की भूल की है, शान्ति-प्रेम और अहिंसा को निर्बलता समझा है; तब-तब भारत के जवान शत्रु-सेना के लिए खुली तलवार बन गये हैं :-

"और तभी सुलग उठा पश्चिमी सीमान्त
-ध्वस्त-ध्वस्त-ध्वस्त-ध्वान्त
मैं दोबारा चौंककर खड़ा हो गया
जो चेहरा आत्महीनता की स्वीकृति में
कन्धों पर लुढ़क रहा था
किसी झनझनाते हुए चाकू की तरह
खुलकर कड़ा हो गया।"[1]

राष्ट्रीय चेतना का एक पक्ष सुधारवादी भी होता है, जिसमें कवि अपने देश की वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट होकर उसमें आमूल-चूल सुधार और परिवर्तन लाना चाहता है। हिन्दी में भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के अधिकांश कवियों का काव्य सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखा गया है। समकालीन कवि इस सुधार के प्रति पूरी तरह सचेष्ट हैं। आज देश की सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न "संसद" क्षुद्र राजनीति से ग्रस्त है। वहाँ करनी और कथनी में अन्तर है। देश को दर-किनार करके सत्ता प्राप्त करना ही प्रत्येक राजनीतिक दल का उद्देश्य बन गया है। देश में दल-बदल की राजनीति हावी है; लाल फीता शाही और नारेबाजी का शोर है; पराजित विरोधी- दल के सदस्यों को रुपये अथवा सत्ता का प्रलोभन देकर मिला लिया जाता है और इस बेमेल गठबंधन की राजनीति का दुष्परिणाम जनता को भोगना पड़ता है। फलतः देश के विकास और सामाजिक सुधार का नामोनिशान मिट जाता है। आज देश को पर्यवेक्षण के नाम पर दौरे से नापा जा रहा है। सरकारी योजनाओं के लाभ को जनता तक नहीं पहुँचने दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में देश और समाज के ह्रास को देखकर राष्ट्रीय चेतना का उदय होना स्वाभाविक है -

" हमारी ओर आने वाली नदी से जो समझौता कर चुके
वे नेहरू को अठन्नी पर छाप रहे हैं
और देश को दौरे से नाप रहे हैं।"[2]

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पक्ष राष्ट्रीय चेतना का महनीय पक्ष है; जिसमें देश के प्राचीन इतिहास के प्रति आदर का भाव प्रकट किया जाता हैं। देश के प्रति शहीद होने वाले शहीदों को समकालीन कवियों ने 'अक्षय-बिन्दु' के नाम से संबोधित किया है। ये 'अक्षय-बिन्दु' जब देश के लिए बलिदान हो जाते हैं तो वे अपार और अनन्त ज्योति में अपनी ऊर्जा को बिखेर देते हैं। देश-प्रेमी कभी मरता नहीं है, बलिदानियों का प्रकाश-सौन्दर्य कभी धूमिल नहीं होता। डॉ0 रमासिंह ने अपनी कविता 'शहीदों के प्रति' में भावांजलियाँ अर्पित करते हुए लिखा है -

"इन अज्ञात और ज्ञात शहीदों को
मत कहना बुझा हुआ दीपक

---

1. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ. 52
2. लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ. 54

ये तो, ज्योति के अक्षय बिन्दु हैं
और इनका कृतित्व ध्रुव की तरह
मार्गदर्शन करना।"[1]

राष्ट्रीय चेतना का एक अन्य पक्ष है, जिसमें प्रगतिशीलता का अंश प्रमुख माना जाता है। इन कवियों में सामाजिक विषमता के प्रति विक्षोभ का भाव दिखाई देता है। सामाजिक तथा आर्थिक समता को ही वे सच्ची स्वतंत्रता मानते हैं। समकालीन कविता इसी प्रगतिशीलता को अपना प्रमुख आधार मानती है। नागार्जुन, नरेन्द्र मिश्र, शिवाकांत विद्रोही, अशोक 'अंजुम', रति सक्सेना आदि कवियों ने प्रगतिशीलता को मानक मानकर राष्ट्रीय चेतना में नया प्राण फूँकने का काम किया है। डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' जैसे कवियों ने अभिधापरक शैली में राष्ट्र-रक्षा हेतु 'वीरव्रती' बनने का अभिनव संदेश दिया है, किन्तु आवश्यकता और सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए हिंसा-अहिंसा का पारस्परिक अनुपात आवश्यक है -

" राष्ट्र-रक्षा के लिए हिंसक बनो
आयुध उठाओ, युद्ध में हिंसा करो
हिंसा अहिंसा से बड़ी है
पर अहिंसा ही हमारे धर्म की मौलिक कड़ी है।"[2]

(ख) वैज्ञानकि बोध :

समकालीन कवियों को धर्म और अध्यात्म की तुलना में वैज्ञानिक बोध ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। वे विज्ञान की वरदायिनी शक्ति के प्रति कृतज्ञ हैं। विज्ञान के बढ़ते हुए अनंत परिदृश्य ने सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव में परिवर्तित कर दिया है। अथ से इति तक, अन्त से अनन्त तक तथा भूलोक से अन्तरिक्ष लोक तक उसी का राज है। विज्ञान के इस बढ़ते हुए साम्राज्य के प्रति समकालीन कवियों ने आह्लाद और संतोष व्यक्त किया है,[3] किन्तु विज्ञान की न्युक्लियर विभीषका और मानव-निर्मित हथियारों की नृशंसलीला पर महान चिन्तित हैं। इस नाश-निर्माण के पीछे उनकी चिन्ता स्वाभाविक है।

समकालीन कवियों ने आणविक अस्त्रों के विरुद्ध चेतावनी दी है क्योंकि 'नागासकी' और 'हिरोशिमा' पर फेंके गये 'लिटिल ब्वाय' नामक बम का कुप्रभाव किसी से छिपा नहीं है। यदि अणुबम और परमाणु बम के प्रयोग पर अंकुश न लगाया गया, तो सम्पूर्ण मानवता समाप्त हो जाएगी। आणविक ऊर्जा का दुरुपयोग करने वाले नर-पशु को समकालीन कवि इन शब्दों में चेतावनी दे रहा है-

"बारूदी घर-आँगन में अंगारो से रिश्ते
विस्फोटों की दुविधा से फिर कैसे बचिएगा।"[4]

- डॉ0 किशोरी लाल त्रिवेदी

---

1. सं. डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), पृ.12 नवम्बर : 1992

2. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ. 51

3. 'वैसे उनके नक्शे पर
पृथ्वी और आकाश के बीच जो भी जगह खाली है
उसके प्लाट्स कट चुके हैं और उन पर
ताले डाले जा चुके हैं।' - सं. अरुणपुरी : इंडिया टुडे (भगवत रावत की कविता)
साहित्य वार्षिकी - 1996, पृ. 136 पर उद्धृत।

4. सं. डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), पृ.31, नवम्बर : 1992

आजकल वैज्ञानिक उपस्कर – रेड़ियो, ट्रांजिस्टर, घड़ी, रेफ्रिजरेटर, वाशिंग मशीन, दूरदर्शन, कार, आदि मानव – दम्पति का वैवाहिक संस्कार सम्पन्न कराते हैं। दूरदर्शन का अश्लील और निर्वस्त्र प्रदर्शन नैतिकता की पराकाष्ठा लाँघ चुका है। रघुवीर सहाय ने व्यंग्य करते हुए कहा है कि नाम उसका दूरदर्शन है, किन्तु वह आज दुर्दशन बना हुआ है।[1]

आजादी के बाद सन् 1962 ,1965,1971, और 1999 में होने वाले विनाशकारी युद्धों ने मानव के हृदय में खौफनाक स्थिति पैदा कर दी है। अब वह असमंजस में पड़ गया है कि शायद युद्ध एक बार आने के बाद दुबारा कभी जाने का नाम नहीं लेता। युद्ध एक विनाशक क्रिया है, उससे देश की कमर टूट जाती हैं; आर्थिक विकास अवरूद्ध हो जाता है; फिर भी युद्धों की परम्परा का अन्त नहीं दिखता।[2]

थोड़ी देर के लिए हम युद्ध की बात टाल भी दें तो संसार के पर्यावरण के जहरीले बनते जाने का खतरा तो है ही। बड़े- बड़े तेल के टैंकरों के टकराव से समुद्र में बड़ी मात्रा में तेल गिरता रहता है। इस तरह बहता हुआ समुद्र के खूबसूरत किनारों को तो बरबाद करता ही है, साथ-साथ समुद्र के आन्तरिक जीवन को भी तहस-नहस करता है।

इस वैज्ञानिक-बोध के कारण समकालीन कवियों का विश्वास ईश्वर से हट गया है, किन्तु ईश्वर से विश्वास हटने का तात्पर्य नास्तिकता नहीं है। आज ईश्वर इन मनुष्येतर आततताइयों को सजा देने हेतु अपने कोप का एक अंश भी प्रक्षेपित नहीं करता। अतः ईश्वर की वर्तमानता से कवियों की आस्था हट गई है। तभी तो केदारनाथ सिंह जैसे समकालीन कवियों ने व्यंग्य के रूप में ईश्वर को आड़े हाथों लेते हुए कहा है–

"ईश्वर आया है
सुनो मेरे छोटे- से शहर के महान नागरिको!
वह खड़ा है बाहर
एक लम्बे दुर्भिक्ष के बाद की
धुँधली-सी भूरी रोशनी में।"[3]
– केदारनाथ सिंह 'ईश्वर के जूते' से

डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित', डॉ0 रणजीत, जुगमिंदर तायल, वेणु गोपाल, चन्द्रकान्त देवताले, केदारनाथ सिंह, राजीव सक्सेना, प्रदीप पंत आदि सभी कवि विज्ञान के अभिशप्त स्वरूप को समाप्त कर

---

1. *'ऐसी दुर्भावना लिए है जन के प्रति जो टेलीविजन*
नाम दूरदर्शन है उसका काम किन्तु है दुर्दशन।'
–रघुवीर सहाय : हँसो हँसो और हँसो ('टेलीविजन' से) पृ0 47
2. *"युद्ध फिल हाल चला गया है*
नहीं, युद्ध एक बार आकर
कभी वापस नहीं जाता।"
– डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर जुगमिन्दर तायल की कविता, पृ. 244 पर उद्धृत।
3. *सं. अरुणपुरी : इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी – 1996, पृ. 134 पर उद्धृत।*

से मना कर सकता है। फिर भी वह कवि है, उसे लेखनी चलानी है। यद्यपि वह नगर में रहता है; नगर कम, गाँव ज्यादा भाता है। अतः नगरों के प्रतिकूल और गाँव के अनुकूल उसकी काव्य-लेखनी बराबर चलती रहती है।

नगरों में, नगर के जीवन और समाज पर ऐसे लोगों का अधिकार है, जिनकी संकुचित मनोवृत्ति ने पूरे जीवन को विषैला कर रखा है। अज्ञेय ने तो नई कविता के उदयकाल के समय ही 'साँप'' नामक कविता के माध्यम से महानगरों के विषैलेपन को उजागर कर दिया था। समकालीन कवियों को नागर-सभ्यता का पूरा अनुभव है। आज वे नगर की भीड़, आतंक, अभाव और वैषम्य को झेल रहे हैं। पहले आकर्षण और प्रलोभन देने वाले नगर अब मनुष्य के लिए उलझन और षड़यंत्र से भरे हैं -

> **"और हाँ, वह जगंल**
> **जिसके एक-एक पौधे ने दरवाजा खोला था**
> **अब बेहद उलझा हुआ और षड़यंत्र पूर्ण**
> **बनिये की लिखावट की तरह बेतरतीब**
> **घना और सांकेतिक हो गया है।"[2]**

आज ग्राम्य जीवन लाचारी का पर्याय बन गया है। सारे देश को भोजन देने वाला किसान आज भी शोषण का शिकार है। संसद से पारित होने वाले विधान, न्याय-पालिका की चहारदीवारी में घिरकर रह गए हैं। गाँव में स्वार्थ सिद्ध करने वालों की एक प्रथक जाति बन गई है। ये लोग जवाहर या अम्बेदकर योजना से प्राप्त आर्थिक सहायता का बहुलांश आपस में बाँट लेते है और गाँव की भोली-भाली अपहुँच जनता इनकी पदाधिकारियों से मिली-भगत के कारण चुपचाप देखती रह जाती है। बन्दर-बाँट की इस प्रवृत्ति को गाँव का गंगू तेली भी जानता है और सरकारी तंत्र का राजा भोज भी। समकालीन कवि ने भी इस षड़यंत्र को अच्छी प्रकार से देखा और परखा है। त्रिलोचन शास्त्री के काव्य-शब्दों में-

> **"झूरी बोला कि बाढ़ क्या आई,**
> **लीलने अन्न को सुरसा आई।**
> **अब के श्रीनाथ तिवारी का घर,**
> **पक्का बन जाने की सुविधा आई।"[3]**

---

1. *"साँप।*
   तुम सभ्य तो हुए नहीं
   नगर में बसना भी/तुम्हे नहीं आया
   एक बात पूछूँ......... (उत्तर दोगे?)
   तब कैसे सीखा डसना..........
   विष कहाँ पाया?"
   अज्ञेय : इन्द्रधनुष रौंदे हुए ('साँप' से)
2. *लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ. 28*
3. *डॉ0 चन्द्रभूषण सिन्हा : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ. 31 पर उद्धृत।*

नगर और गाँव का यथार्थ चित्रण कर चुकने के बाद समकालीन कवि की दृष्टि आज भी गाँव के रहन-सहन की अमराइयों और लहलहाती फसलों पर जा टिकी है। आज का जीवंत साहित्य भी गाँवों, कस्बों और छोटे-छोटे शहरों में लिखा जा रहा है। बड़े नगरों में रहने या नौकरी करने से ही कोई अच्छा लेखक या कवि नहीं बन जाता। इधर 'पहल'[1] सम्मान प्राप्त करने वाले कवियों (विजेन्द्र, कामतानाथ, कुमार विवेक, हृदयेश, ऋतुराज, मगर-एहते-शाम, मंगलेश डबराल आदि) ने देश और गाँव के अच्छे चित्र खींचे है। गाँव की प्राकृतिक चेतना को लेकर व्यंग्य पूर्ण चित्र खींचने वाले कवियों में सविता मिश्र, श्रीकान्त शास्त्री, रमेश तिवारी,'नीरज' रश्मि बड़थ्वाल, शिव डोयले, प्रदीप पंत आदि का नाम प्रमुख है।

ग्रामीण जगत् के प्रति उदात्त लालसा और असाधारण लगाव का पता कथाकार शिवमूर्ति के उस कथन से चलता है, जहाँ पर उन्होंने अपने एक साक्षात्कार में कुछ प्रश्नों का जवाब देते हुए प्रश्नकर्त्ता अनुपम एवं नीरज से कहा था **'हम 1974 से शहरों में रह रहे हैं। अट्ठाइस साल हो गए हैं। पर मैं आज भी शहर से जुड़ नहीं पाया। मुझे मौका मिले तो मैं भागकर गाँव ही जाऊँगा। आज भी खाने में मुझे दाल-भात न मिले, तो 700 रू0 की थाली मेरे लिए व्यर्थ है। गर्मियों में दो-चार दिन सत्तू न मिले, तो चाहे आप मुझे न्यूयार्क में बिठा दें, बेकार है।"**[2]

अशोक कुमार जोशी की 'गाँव' शीर्षक कविता का एक उदाहरण अवलोकनीय है, जिसमें गाँव की तुलना एक आकर्षक बटुए से दी गई है। कवि ने अपने सिक्के रुपी यादों को उसमें सँजो रखा है। जब कभी यादों के सिक्के खनकते हैं, कवि का मन और ध्यान गाँव की तरफ दौड़ जाता है -

> **"मेरा गाँव--- प्यारा बटुए-सा गाँव**
> **जिसमे चंद सिक्के मैने सँजोए हैं**
> **जब कभी भी ये सिक्के खनखनाते हैं**
> **मैं अतीत से जुड़ जाता हूँ**
> **उस समय खुद को/ शहर में नहीं**
> **गाँव की मिट्टी में पाता हूँ।"**[3]

सारांश यह है कि नगर और ग्रामीण चित्रण में समकालीन कवियों का शरीर शहर में है और मन गाँव में। समझना यह है कि शरीर का महत्त्व है अथवा मन का। यदि शरीर को महत्त्व दिया जाए, तो उन्हें अपने मन को गाँव से खींच कर शहरी वातावरण में टिका देना चाहिए और यदि गाँव के प्रति ममत्व है,

---

1. *यह हिन्दी का अकेला पुरस्कार है, जो एक हिन्दी पत्रिका द्वारा दिया जाता है, जिसके संपादक ज्ञानरंजन हैं। यह किसी सरकार या तंत्र का पुरस्कार नहीं है। यह संघर्ष में विश्वास करने वाले साहित्यकारों की ओर से शुरु किया गया पुरस्कार है। उसका प्रारम्भ सन् 1990 में हुआ और प्रतिवर्ष अपने समय के श्रेष्ठ साहित्यकारों को दिया जाता है।*
2. *सं. विजय राय : उत्तर प्रदेश (संभावना विशेषांक, जुलाई 2002) साक्षात्कार, पृ. 72 पर उद्धृत।*
3. *डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), पृ. 21, नवम्बर 1992, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर।*

तो उन्हें अपने शरीर को गाँव पहुँचा देना चाहिए; जहाँ गोपियों ने 'ऊधौ मन नाहीं दस-बीस' का अभिनव संदेश दिया था। किन्तु मनसा-कर्मणा ये दोनों बातें असंभव हैं। समकालीन कवि या यह कहिए कि समकालीन कवि ही क्यों, हर कवि अपने विचारों का दृष्टा व सृष्टा है। वह शरीर से कहीं भी रहता हुआ अपने सच्चे मन से समकालीन यथार्थ को जगाता रहे, इसी में उसकी सारवत्ता है और इसी में प्राणवत्ता भी।

6. प्राकृतिक चित्रण : आदर्श और यथार्थ :

समकालीन कविता के सम्पूर्ण फलक पर प्रकृति-सर्जना को लेकर दो प्रकार के चित्रण हुए हैं- आदर्शपरक चित्रण और यथार्थपरक चित्रण। आदर्शपरक चित्रण को विशुद्ध प्रकृतिपरक चित्रण कहा जा सकता है। यथार्थपरक चित्रण में प्रकृति का यथार्थ स्वरुप चित्रित हुआ है और कहीं कहीं-प्रकृति-प्रतीकों के सहारे वर्तमान यांत्रिकी और राजनीति पर तीखा व्यंग्य किया गया है।

आदर्शपरक चित्रण में कल्पना को प्रधानता दी गई है, यहाँ पर यदि जगत् और प्रकृति का कोई कोना क्षत-विक्षत हो गया है तो कवि की सकारात्मक कल्पना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आज खगोल -शास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चन्द्रमा में कोई सौन्दर्य नहीं है; वह बड़ा ऊबड़-खाबड़ और उजाड़ है, फिर भी आदर्शवादी कवियों के लिए वह 'सुन्दरम्' का केन्द्र बना हुआ है। समकालीन कविता में ऐसे चित्रण केवल प्रासंगिक हैं, आधिकारिक नहीं। आधिकारिक तो उसका यथार्थ स्वरुप ही है। समकालीन कवि जब किसी प्राचीन ऋषि- मुनि के आश्रम अथवा इन्द्रादि लोकों के वैभव का वर्णन करता है तो वह कुरवक, किंजल्क, कनेर, कुन्दुरुवन, कदम्ब, करील, ढाक, कर्णिकार करवीर, केतकी, जूही-जाही आदि न जाने कितने प्रकार की पुष्प-दृश्यावलियों की सतरें बिछा देता है। मतंग मुनि के आश्रम का एक चित्रण देखिए-

"कुन्दरू-वन/ करेंबुओं की झुरमुट से तना-तनी
कदम्ब से/ करील से। रियाँ बबूल ढाक आक
करते थे महाजनी।"[1]

प्रातः और सायंकाल का सौन्दर्यानुरेखन तो प्रकृति-परम्परा के आधार पर पुराकाल से होता आया है, किंतु सायं के बाद और भोर के पूर्व का शुद्ध चित्रण बहुत कम कवियों ने किया है। नवें दशक की प्रसिद्ध सांकेतिक रचना 'अभिशप्त शिला' में काव्य रुपककार ने प्रकृति का बड़ा ही प्रीति-रीतिपरक चित्रण किया है, जिसे पढ़कर सहृदय एक बार फिर नगरीय सभ्यता से हटकर ग्राम ओर घरांचल की ओर उन्मुख हो जाता है-

"अभी आग सोई गुरसी में
जगी नहीं चूल्हे- चौके में
तमचर के तमचूर न जागे
कलगी अभी न हिलती आगे
अभी दूब में ओस न ढलकी
अभी धरा में दूब न दलकी।"[2]

---

1. धनंजय अवस्थी : शबरी, ('चेतना' से) पृ. 55
2. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 23

प्रकृति के यथार्थपरक चित्रण में वास्तविक स्वरुप का तटस्थ भाव से मूल्यांकन किया गया है। सरंक्षण से लेकर क्षरण तक, सुपोषण से लेकर कुपोषण तक, भूषण से लेकर निर्भूषण (प्रदूषण) तक प्रकृति के जितने भी मुद्रापरक स्वरुप हो सकते हैं, उन सब की बेबाक़ अभिव्यक्ति कविता में हुई है। इस श्रेणी के कवियों में डॉ0 रणजीत, वेणु गोपाल, आलोक धन्वा, चन्द्रकान्त देवताले, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, डॉ0 सादिक आदि के नाम प्रमुख हैं।

आज का प्राकृतिक वातावरण इतना विषाक्त है कि आम आदमी के लिए उसकी छाया में श्वास लेना अत्यन्त दूभर हो गया है। अल्लम-गल्लम भोजी पक्षियों की श्वास, उनके डैनों और बीट की गंध तथा औसाई हुई घास की तरह तरु-छाया की गरमाहट पथिक जनों का जी मिचला देती है, इससे पथिकों में सदिच्छा, रतिभाव अथवा वात्सल्य-भाव नहीं; निर्वेद और जुगुप्सा-भाव जाग्रत होता है। आलोक धन्वा की 'आम का पेड़' शीर्षक कविता का एक अंश इस प्रकार है-

"रात में इसके नीचे
सूखी घास जैसी गरमाहट
नीड़, पक्षियों की साँस
उनके डैनों और बीट की गंध
काली मिट्टी जैसी छाया।"[1]

समकालीन कवि प्रत्येक क्षण को ईमानदारी से ग्रहण करता है। वह कबीर की तरह गहरे पानी में पैठने का खतरा मोल लेने से नहीं हिचकता। 'बकरी पाती खात है' कबीर की इस प्रकृति संवेदना ने पशु-संवेदना का तो गला-घोंट दिया, किन्तु मानव की चेतना आज भी पथराई हुई है। आज मानव प्रकृति को बाँधकर उसका विदोहन कर रहा है, जब कि प्रकृति बिना दोहन के ही सब कुछ प्रदान करती है। दुर्भाग्य से आज भारतवर्ष में केवल 23 प्रतिशत वन रह गए हैं। अधाधुंध कटाई के कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गई है। प्रकृति के दिनोदिन हो रहे क्षरण के प्रति कवि ने जो संवेदना व्यक्त की है, वह एक सच्चा सामाजिक यथार्थ है।[2]

मनुष्य का मनुष्य पर तथा यंत्र का दबाव जितना अधिक होता है, जीवन में प्रकृति का एहसास कवि के लिए उतना ही तीव्र होता है। आज का मनुष्य एक तरफ स्वार्थपरक राजनीतिक दबाव से संत्रस्त है तो दूसरी तरफ कारखानों के धुएँ, तेजाबी रसायन, विषैली गैसों, रेडियोधर्मी किरणों और कार्बन डाइआक्साइड की घुटन भरी पीड़ा से व्यथित है। भारतीय राजनीति में लूट का बाजार गर्म है। जेब भरने की हाय-तोबा मची हुई है। सभी अपने-अपने ढंग से जनता का शोषण कर रहे हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

---

1. सं. अरुणपुरी : इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी -1996, पृ. 148 पर उद्धृत।

2. "लेकिन आज
जब मैंने एक जवान पेड़ को कटते हुए देखा
तो मैंने अपने भीतर सुनी
एक हरी-भरी चीख।"

सं. विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक) राजेन्द्र राजन की कविता, फरवरी-1997, पृ0 26 पर उद्धृत।

ने 'कुआनो नदी' में मछली, जोंक, पनियल साँप आदि जलजीवियों के माध्यम से वर्तमान राजनेताओं पर जो व्यंग्य किया है, वह समकालीन कविता की अमूल्य निधि है।[1] इसी प्रकार यांत्रिक सभ्यता द्वारा दी गई ढेर सारी समस्याओं से मानव घिरा हुआ है। टूटी हुई सड़कों से उठने वाली धूल, प्रदूषित तालाबों से निःसृत दुर्गन्ध, कल कारखानों से निकला हुआ मटमैला धुआँ पर्यावरण के चारो ओर छाया हुआ है, वायु-प्रदूषण के कारण आँखो में जलन, त्वचा में एलर्जी, साँस में कष्ट, प्लेग, डेंगू आदि कितनी ही प्राणघातक बीमारियाँ जन्म ले रही हैं। नगरों और शहरों के चारो तरफ विद्युत और टेलीफोन के तार खिंचे हुए हैं। पक्षियों के लिए बैठने की जगह नहीं है। यदि जगह मिल भी जाए तो चहचहाने की इज़ाज़त नहीं है। चारो तरफ नाकाबन्दी हैं। परमाणविक प्रयोगों के कारण विश्व भर का मौसम-चक्र बिगड़ गया है। यह सब प्रकृति-विरोधी प्रवृत्तियों के कारण हुआ है। समकालीन कवि ने यह संकेत दिया है कि प्रकृति और पर्यावरण का गहरा सम्बन्ध है। प्रकृति का संतुलन बनाए रखने के लिए 33 प्रतिशत भाग पर वनों का होना आवश्यक हैं। ये वन नमी को अपने भीतर सुरक्षित रखते हैं। इससे वे सारे जगत् को फल-फूल हरियाली और सुखद शीतलता प्रदान करते हैं। प्रकृति-सम्पदा से लाभ लेना ममानियत नहीं है, ममानियत है उसका हठात् विदोहन करने से ; यथा-

"हरा पता कभी मत तोड़ना
और अगर तोड़ना तो ऐसे
कि पेड़ को जरा भी
न हो पीड़ा।"[2]

इस प्रकार समकालीन युवा कवियों ने कविता रूपी मार्ग के किनारे जिन वृक्षों को लगाने की तरजीह दी है, उनके प्रति उनका विश्वास है, संभावनाए हैं। उन वृक्षों के युवा पालनहार -प्रीति श्रीवास्तव, राजेन्द्र राजन, देवेन्द्र आर्य, ब्रजनाथ श्रीवास्तव, पकंज राग, वीरेन्द्र गोयल, निलय उपाध्याय, मोहन राणा, सुभाषचन्द्र कुशवाहा और प्रदीप तिवारी आदि अमिट हस्ताक्षर बन चुके हैं। अजित कुमार राव, अभय कुमार पाण्डेय, भास्कर चौधरी, पद्मेश गुप्ता, तरूण प्रकाश, रेणुका वर्मा, अश्विनी कुमार शुक्ल, प्रमोद कुमार दीक्षित 'मलय', धर्मचन्द्र मिश्र 'कट्टर' आदि उसी वृक्ष तले बैठे नजर आते हैं। इनकी लेखनी रूपी मथानी काव्य के सरोवर में अनवरत् चल रही है। समय इनकी प्रतीक्षा कर रहा है। **चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' जैसे पुरानी पीढ़ी के कवि इन नए रचनाकारों के साथ मिलकर आज भी प्रकृति-पक्ष में बयान देते हुए यह घोषणा करते हैं कि जिस दिन प्रकृति न रहेगी, उस दिन न तो कवि रहेगा और न उसकी कविता।[3]**

---

1. *'मछलियाँ, जोंक, पनियल साँप*
   सबके अलग-अलग ढंग हैं पानी में चलने के।'
   - सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 12
2. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 18*
3. *"प्रकृति-शून्य जीवन ही पाषाणी जड़त्व है*
   करुणा से हो शून्य सृष्टि तो क्या महत्त्व है?"
   - चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला('वृत्ति' से) पृ.35

7. शिल्प के प्रति नवीनता का आग्रह :

आधुनिक काल में 'शिल्प के प्रति नवीनता' को लेकर शीर्ष के रूप में तीन कवियों का नाम लिया जा सकता है- निराला, अज्ञेय, और जगदीश गुप्त। इनमें निराला और अज्ञेय को मूर्धन्य की कोटि में तथा जगदीश गुप्त को तालव्य की कोटि में रखा जा सकता है। छन्दों को तोड़ने का श्रेय महाप्राण निराला को दिया जाता है, जिन्होने अपनी रचना 'जूही की कली'(1916 ई0) को छन्दो की पायलों से मुक्त किया और साहस पूर्वक स्वीकार किया कि 'मनुष्यों की मुक्ति कर्मो के बन्धन से छुटकारा पाना तथा कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।'[1]

प्रयोगवाद के जनक अज्ञेय ने प्रतीकों, उपमानों, मुहावरों आदि सभी शिल्प -पद्धतियों को नए सिरे से बदल डालने की पुरजोर वकालत की, क्योंकि उनकी दृष्टि में पूर्ववर्ती सभी प्रतीकों का[1] देवत्व समाप्त हो चुका है, उपमान मैले हो गए हैं तथा भाषा एवं मुहावरों का सम्पूर्ण मुलम्मा इस युग में आकर छूट चुका है।[2]

डॉ0 जगदीश गुप्त ने मुक्त छन्द के अन्तर्गत नवीनता का एक शोधपरक आग्रह प्रस्तुत किया। उन्होंने कविता में 'शब्द-लय' को उपेक्षित करके 'अर्थ की लय' ढूढ़ने का प्रयास किया और विभिन्न पाश्चात्य मनीषियों का उदाहरण देकर एक नई राह निकालते हुए कहा है कि 'मुक्त छन्दों में विराम का कोई क्रम नहीं होता। जहाँ एक भाव पूर्ण हो जाता है, वहाँ लय भी विराम ले लेती है। इसी को 'अर्थ की लय' कहतें हैं।'[3]

समकालीन कविता ने निराला और अज्ञेय के शिल्प-परिवर्तन को तो स्वीकार किया, किन्तु जगदीश गुप्त के 'अर्थ की लय' को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि डॉ0 गुप्त ने 'अर्थ की लय' की प्राप्ति के लिए जितने भी पाश्चात्य मनीषियों का उद्धरण दिया है, वे सभी अर्थ की लय तो क्या, अर्थ की स्वतंत्र सत्ता का भी प्रतिपादन नही करते। अतः समकालीन कविता के लिए 'अर्थ की लय' निराधार हो चुकी है। लय अपने आप में प्रमाण है, इसे किसी भी सह-अर्थ की आवश्यकता नहीं हैं। कविता तुकान्त हो या अतुकान्त, लय से विमुक्त नहीं हो सकती है। जिस दिन कविता लयात्मकता से वंचित हो जाएगी, उसी दिन से कविता का अन्त हो जाएगा। समकालीन कविता शब्द और अर्थ लय के प्रथक-प्रथक विवाद में न पड़कर 'वागर्थाविव

---

1. *निराला : परिमल की भूमिका, पृ0 10*
2. *''अगर मैं तुमको ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका*
   अब नहीं कहता
   + + + + +
   नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या सूना है
   या कि मेरा प्यार मैला है।
   बल्कि यही; ये उपमान मैले हो गए हैं।
   देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच
   कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।''
   -अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर (कलगी बाजरे की) पृ0 57
3. *डॉ0 जगदीश गुप्त : कवितान्तर, पृ0 21*

सम्प्रक्तौ' तथा 'गिरा-अरथ जल-बीचि सम' की तरह शब्दार्थ का संयुक्त रूप से लयाश्रित होना आवश्यक मानती है।

समकालीन कवियों ने काव्यभाषा को लाक्षणिक बनाने और काव्यगत सौन्दर्य को यथार्थ रुप देने के लिए इतिहास, पुराण, राजनीति, विज्ञान आदि में पाए जाने वाले विभिन्न व्यक्तिवाचक नामों को प्रतीक के रुप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा करने से कहीं-कहीं मुहावरों की भी सृष्टि हो गई है। प्रतीक के रुप में एकलव्य, विश्वामित्र, इन्द्र, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, त्रिशंकु, दुर्योधन, जयचंद, जरासंध, भगीरथ, भस्मासुर, होलिका, प्रह्लाद, सूर्यरथ, टियरगैस आदि का प्रयोग करके शिल्पगत सौन्दर्य की वृद्धि की गई है। बानगी के तौर पर एक-दो उदाहरण इस प्रकार हैं-

(1)'इन्द्र-सभा के पीछे पागल
विश्वामित्र हुए।'[1]

-राजेन्द्र वर्मा

(2)'यदि चुनौती होलिका की आज भी, तय है-
आग में प्रह्लाद-सा निशदिन दहूँगा।'[2]

-देवेन्द्र आर्य

(3)'सूर्यरथ के चौबीस खण्डित पहिए
उन्मत्त क्षत-विक्षत अश्व
भागने को तैयार खड़े हैं।'[3]

- प्रदीप पंत

प्रथम उदाहरण के अनुसार 'इन्द्र-सभा' वर्तमान सन्दर्भ में 'संसद' तथा विश्वामित्र प्रमादी राजनेता का प्रतीक है। हर राजनेता गाँव की सड़क पार करके संसद पहुँचने के लिए पागल है। 'पागल होना' एक मुहावरा भी है। द्वितीय उदाहरण में 'प्रह्लाद 'धर्म' का तथा होलिका 'अधर्म का प्रतीक है। तृतीय उदाहरण में'सूर्यरथ' और इसमें जुते हुए घोड़े धार्मिक प्रतीक का केन्द्र रहे हैं, किन्तु यहाँ विज्ञान के अभिशापित प्रभाव को दर्शाने के कारण 'वैज्ञानिक प्रतीक' बन गए हैं।

अभी तक नायिका के नाक की तुलना के लिए तोते की चोंच उपमान स्वरुप काम में लाई जाती रही है। कहीं-कहीं अलकांरवादियों के यहाँ व्यतिरेक के माध्यम से तोते की चोंच (उपमान) को निकृष्ट और कहीं-कहीं अप्रस्तुत प्रशंसा के माध्यम से उत्कृष्ट घोषित कर देने का विधान भी सामने आया है। यही नहीं; 'भ्रान्तिमान' तो काव्यशास्त्रियों का प्राण है। भ्रमर को शुक की रतनारी चोंच पर पलास-पुष्प का तथा शुक को भ्रमर पर काले रंग की जामुन का भ्रम भी बखूबी दिखाया गया है। समकालीन कविता में आकर परम्परित उपमान फीके पड़ गए हैं। आज का कवि उपयोगितावादी है। वह सामाजिक व्यवस्था का हिमायती है। उदाहरणार्थ गाँव में कृषक द्वारा अपने उर्वर खेत में उगाए गए मिर्च पककर लाल हो गए हैं, उनमे से बहुत से मिर्च बंकिम और हंसुलाकार हैं, उनका यह बंकिम स्वरुप लाल टुइयां (तोता) को पराभूत कर देता

---

1. *सं. विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ० 57, जुलाई 2002*
2. *सं. रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ. 98, जनवरी-मार्च 2002*
3. *सं. रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ. 100, जनवरी-मार्च 2002*

है। पराभूत ही नहीं, परभूत तो बहुत छोटी-सी चीज है; पराभूत करने के उपरान्त उसकी नाक काट लेता है। 'नाक काटना' एक मुहावरा भी है। नाक कटने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति या जाति अपने विकृत स्वरुप को समाज में दिखाना पसंद न करेगी, क्योंकि उसकी हेठी हो जाएगी। लाल मिर्च का खेत स्वयं इस बात का गवाह है कि शोषक वर्ग का प्रतीक तोता जो समाजवादी व्यवस्था के प्रति कुचक्र रचता था, अब वह दुबारा मुड़कर इस खेत की ओर नहीं आएगा। ऐसे सिद्धहस्त तर्क और बदलते हुए उपमान समकालीन कविता के लिए एक धरोहर स्वरुप हैं।[1]

तर्क-बोध और उपमान-परिवर्तन की बेजोड़ परम्परा प्रगति-प्रयोगवाद से ही प्रारम्भ हो गई थी। वहाँ भी कवि छन्दों की सीमाएँ तोड़कर मुक्त शब्द-प्रवाह के रुप में अपने उद्‌गार व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है। मयूर की वाणी को सभी प्रिय मानते रहे हैं, किन्तु वहाँ भी पंत जैसे कवियों ने मयूर की बोली का निषेध करके श्वान की आवाज को ज्यादा तरजीह दी है और कहा है कि श्वान का भौंकना उसे ज्यादा कर्णप्रिय लगता है, क्योंकि उससे मुहल्ला गूँजता है, जब कि मयूर बिल्ली के समान दबी आवाज में बोलता है, मानो भीख माँग रहा हो।[2] कुत्ते का यही स्पृहणीय स्वरुप समकालीन कविता में और अधिक विश्वास के साथ प्रकट हुआ है। किसी समय निशाकाल में यदि किसी राहगीर को दिशा-भ्रम हो जाता था तो वह ध्रुवतारे का सहारा लेता था। समकालीन कवि आज के दिग्भ्रमित व्यक्ति को सुझाव देता है कि उसे ध्रुवतारे पर नहीं,श्वान की आवाज पर विश्वास करना चाहिए क्योंकि जिधर से आवाज आ रही है, उधर कोई न कोई गाँव या बस्ती अवश्य होगी। ध्रुवतारे पर विश्वास करके सारी रात चलते रहने से कोई लाभ नहीं है –

"कभी अँधेरे में
अगर भूल जाना रास्ता
तो ध्रुवतारा पर नहीं
सिर्फ दूर से आने वाली
कुत्तों के भूँकने की आवाज पर
भरोसा करना ।"[3]

समकालीन कविता में प्रतीक बदले, बिम्ब बदले, उपमान बदले; अब इधर कुछ विद्वान समीक्षक मुहावरा बदलने पर जोर डाल रहे हैं। उन्हें पुराने मुहावरों में प्रयोग किए शब्दों से डर लगता है। यहाँ तक

---

1. *"लाल मिर्च के खेत*
लाल ढुंइयाँ की नाक काटने वाले
ये मकई के खेत
जड़े थे जिनके ऊपर / दाने-दाने।"
– डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 43

2. *"क्यों माँ? बिल्ली कैसे बोलती है।*
जैसे भीख माँगती हो–म्याऊँ, म्याऊँ
चापलूस कहीं की।
+ + + +
– सुमित्रानंदन पंत : कला और बूढ़ा चाँद ('वाचाल' से) पृ0 205

3. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 19*

कि उन्हें पुराना मुहावरा एक फटे कपड़े की भाँति दिखाई देता है। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है' अज्ञेय के मुहावरापरक काव्योक्ति को पूरी सारवत्ता देने के लिए वे पुराने मुहावरों की खेती उजाड़कर उस पर नए मुहावरों की खेती करना चाहते हैं। डॉ0 दामोदर पाण्डेय जैसे विद्वान् लेखक ने उत्तरप्रदेश मासिक पत्रिका में (अपने एक लेख में) इस प्रकार के बहुत सारे प्रश्न उठाए हैं। उदाहरण के लिए उन्हीं के शब्दों में – 'गूलर का फूल होना', बड़ा आश्चर्य होता है कि पहले भी गूलर में फूल नहीं दिखाई देता था। अब तो उसका पेड़ ही नहीं दिखाई देता। उसका स्थान कैक्टस, गुलमोहर ने ले लिया । अतः 'कैक्टस का फूल होना' मुहावरा ज्यादा उपयुक्त लगता है।''[1]

बात असंगत नहीं है। समकालीन कविता में यदा-कदा कुछ कविताएँ ऐसी मिल जाती हैं, जिनमें नए परिवर्तित मुहावरों का प्रयोग किया गया है। समाज में उपेक्षित व्यक्ति पहले 'कुत्ते की मौत' मरते थे, किन्तु आज इस यांत्रिक युग में हाइड्रोजन के बढ़ते प्रभाव के कारण 'कबूतर की मौत' मरते हैं। 'कबूतर की मौत मरना' भी एक नया मुहावरा आ गया है।[2] किन्तु जो व्यथा कुत्ते की मौत मरने में होती है, वह कबूतर की मौत मरने में नहीं। अतः यह एक नया मुहावरा तो हो सकता है, किन्तु पुराने मुहावरे का स्थान नहीं ले सकता ।

समकालीन कविता में अधिकाशतः जितने मुहावरों का प्रयोग किया गया है, उनका उद्देश्य किसी न किसी कथन को लाक्षणिक सन्दर्भ में सार्थक सिद्ध करना है। उनका नए मुहावरों के रुप में स्वतंत्र प्रयोग कहीं नहीं किया गया क्योंकि मुहावरा वह वाक्यांश है, जिसका स्वतंत्र प्रयोग असंभव है। यदि स्वतंत्र प्रयोग कहीं पर हुआ भी है तो पुराने मुहावरों को बर्खास्त करने के लिए नहीं। अभी इस मानसिकता को बदलने में सदियों लगेंगी। भाषा अपनी प्रकृति के अनुरुप समय की गति के साथ पुराने शब्दों को छोड़ती चलती है और नए शब्द ग्रहण करती जाती है। आज छटाँक का स्थान ग्राम, सेर का स्थान किलो, दमड़ी का स्थान रुपया, पिता का स्थान पापा और माता का स्थान मम्मी ने ले लिया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पुराने शब्दो के प्रयोग से साहित्य की छटा कम हो जाएगी। प्रयोजन मूलक हिन्दी भले ही इन पुराने शब्दों को दर-किनार कर दे, किन्तु साहित्य का अपार क्षेत्र आज भी इन शब्दों का गुलाम है। अज्ञेय जैसे साहित्यकार 'बर्तन' के स्थान पर 'बासन' जैसे शब्दो का प्रयोग करना क्यों उचित समझते हैं? यह स्वतः सिद्ध है।

अतः'ताक पर रखना' जैसे मुहावरों के स्थान पर 'लाकर में रखना', 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' के स्थान पर 'मन चंगा तो स्टील प्लेट में गंगा' और 'अक्ल के पीछे लाठी लिए घूमना' की जगह 'रिवाल्वर लिए घूमना' जैसे मुहावरों के रखने की जो तार्किक दलील दी जा रही है, वह असंगत है। इस गड़बड़ झाले से शब्दों की प्रामाणिकता सन्देह के घेरे में आ जाएगी। **अतः विद्वान लेखकों और सृजन धर्मियों से**

---

1. *सं. विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), रम्य रचना : बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है' अक्टूबर 2003, पृष्ठ-17 पर उद्धृत।*
2. *'हाइड्रोजन बम परीक्षण में पंख फड़फड़ाते हुए*
कबूतरों की मौत मर जाते हैं।'
– डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान(राजकमल चौधरी की कविता) पृ0 87

आग्रह है कि वे प्रथक से नए-नए मुहावरों का सृजन करके समकालीन कविता का उपकार करें, पुराने मुहावरों के साथ छेड़छाड़ न करें। लोढ़े का स्थान मिक्सी नहीं ले सकती और न मिक्सी का स्थान लोढ़ा। आज भी दूल्हा के परछावन में 'लोढ़ा ही काम आता है, मिक्सी नहीं। मुहावरे ग्राम-जगत् की उपज हैं। आज भी कवि-समाज नगर से भागकर गाँव की ओर जाने का मन बनाए हुए है।

समकालीन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए सारांश रुप में कहा जा सकता है कि आज का युवा रचनाकार वादों और आन्दोलनों से ऊपर उठकर सोंचता है। वह किसी तनाव, दबाव या प्रतिबन्धन में नहीं है। वह विचारों के काव्य- सरोवर में डूबकर वही पुराना पत्थर नहीं ढूढ़ता, वरन् अन्य वस्तुएँ जो किसी कारण से दबी कुचली पड़ी थीं, उन्हें निकाल कर आलोक में लाता है। इसी कारण शिल्प बदल गए है; शैली परिवर्तित हो गई है; भाषा सहज सरल, सपाट और संप्रेषणीय हो गई है। जो वस्तुएँ अस्वीकृत हो गई थीं अथवा अस्वीकृत हो गई हैं; उन्हें स्वीकार किया जा रहा है।
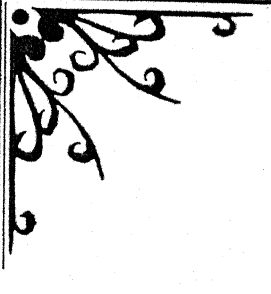
द्वितीय अध्याय
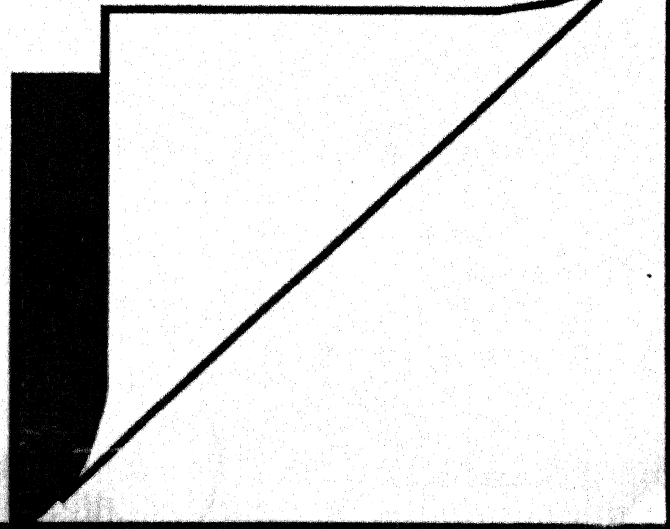
द्वितीय अध्याय

सौन्दर्य-बोध की सैद्धान्तिक अवधारणा

1. सौन्दर्य का अर्थ एवं स्वरूप

2. सौन्दर्य-बोध तथा काव्य का सम्बन्ध

3. सौन्दर्य-बोध के विविध रूप

4. साहित्य में सौन्दर्य की उपादेयता
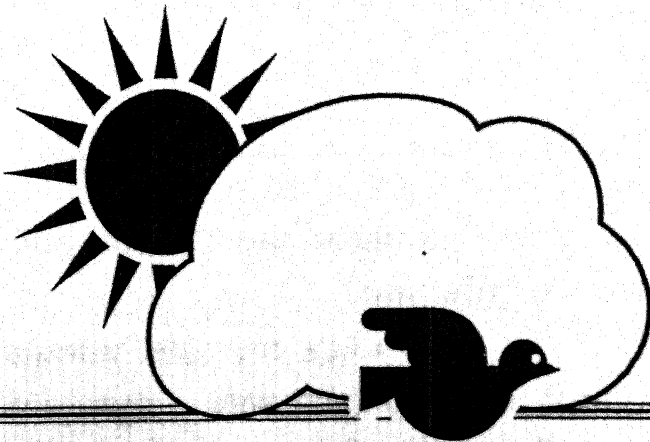
द्वितीय अध्याय

सौन्दर्य-बोध की सैद्धान्तिक अवधारणा

सौन्दर्य या सुन्दरता 'सुन्दर' शब्द से बनी भाववाचक संज्ञा है। कोई भी भाववाचक संज्ञा किसी वस्तु का वह अन्तर्निहित गुण है जो उस वस्तु को स्वाभाविक रूप में सार्थकता प्रदान करता है। पानी में शीतलता, आग में उष्णता और मनुष्य में देवत्व-पशुत्व इत्यादि का होना आवश्यक है। इसी प्रकार सुन्दर में 'सौन्दर्य' का होना स्वाभाविक है। 'बोध' शब्द 'तसल्ली' या 'आत्मतोष' का पर्याय है। 'सौन्दर्य-बोध' आधुनिक साहित्य में एक पारिभाषिक शब्द बन गया है; यह एक ऐसा आत्मबोध है, जिसकी प्राप्ति के लिए जगत् का हर चेतनशील प्राणी सचेष्ट दिखाई देता है। कोई इसे 'श्रेयस्' के रुप में ग्रहण करता है तो कोई 'प्रेयस्' रूप में। इसी बोध को आत्मसात् करने का सूक्ष्मोपदेश कठोपनिषद् के यम ने धैर्य-धन नचिकेता को दिया था। तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य-बोध की सैद्धान्तिक अवधारणा अनादि काल से ही प्राणि-जगत के साथ 'पूरक' और 'रेचक' की भाँति जुड़ी हुई है। इसका अखण्ड विभावन हमारी ऋषि-वाणी में पुराकाल से ही अभिव्यंजित है, किन्तु साहित्य-जगत में यह इतिहास की कतिपय सरणियों को पार करता हुआ आज समकालीन कविता के 'विमर्श-पटल' पर 'कर्म -सौन्दर्य' का वाचक बन गया है। स्वयंभू रचनाकार इसी विकसित सौन्दर्य-बोध को विभाव या आलम्बन मानकर काव्य की एक सधी हुई 'निर्मेय' तैयार करता है और उसे 'मंगल' तक पहुँचाकर इतिसिद्धम् रूप प्रदान करता है। सौन्दर्य-बोध की सैद्धान्तिक अवधारणा के अन्तर्गत निम्नांकित 'विचार-बिन्दु' रखे जा सकते है :-

1. सौन्दर्य का अर्थ एवं स्वरूप :-

'सुन्दर' शब्द के अनेक पर्याय संस्कृत-वाङ्मय में मिलते हैं। सुन्दर, रुचिर, चारु, सुषमा, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रुच्य, मनोज्ञ, मंजु और मंजुल शब्द अमरकोश में उद्घृत हैं।[1] इसकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। वाचस्पत्य कोश के अनुसार 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'उन्द्' धातु में 'अरन्' प्रत्यय जोड़कर सुन्दर शब्द की सिद्धि हुई है।[2] इसका अर्थ है- 'अच्छी तरह आर्द्र करने वाला'। इसीलिए सौन्दर्य शब्द का अर्थ हुआ *"सुष्ठु उनत्ति आर्द्रो करोति चित्तमिति।"*[3] मनोहारि, सौम्यम्, भद्रकम्, रमणीयम्, रामणीयकम्, बन्धुरम्, पेशलम्, वामम्, रामम्, अभिरामम्, नन्दितम, सुभनम्,वल्गु, हरि, स्वरुपम् अभिरुपम, दिव्यम्, ललित,सुष्ठु, काम्य, कमनीय आदि शब्द भी सुन्दरता के व्यंजक शब्द है। इन शब्दों से सौन्दर्य की अवध ारणाओं के संकेत मिलते हैं - सौन्दर्य एक गोचर तत्व है; सुन्दर में 'सुदर्शन' या 'नयनाभिराम' का भाव निहित है। शोभन में गोचर आभा का आकर्षण प्रमुख है। सौन्दर्य वस्तु या आलम्बन का गुण है; किन्तु उसकी सत्ता सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, प्रमातृ सापेक्ष है। 'रुचिर' और 'चारु' में प्रमाता की चेतना व्यंजित है। सौन्दर्य के मूल में अंग-साम्य अथवा सामंजस्य की धारणा निहित है। 'सुष्ठु' शब्द इसका प्रमाण है। ललितम् के दो अर्थ हैं - श्रृंगारिक हाव-भाव से युक्त और अभिलषित। अतः सौन्दर्य का श्रृंगार के साथ सम्बन्ध है। ललित शब्द इसका प्रमाण है। 'लावण्य' में सौन्दर्य के प्रतीयमान स्वरुप पर अधिक बल है।[4]

---

1. *सुन्दरं रुचिरं चारु, सुषमं साधु शोभनम्।*
   कान्तं, मनोरमं, रुच्यं, मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।।
   अमर कोश, तृतीय का0 52 । ।
2. *वाचस्पत्य कोश, पृष्ठ 5314*
3. *शब्दकल्पद्रुम : पंचम खण्ड, पृष्ठ 373 (1961)*
4. *भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका : डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 32*

अंग्रेजी में सौन्दर्य का वाचक शब्द 'ब्यूटी'(Beauty) है। 'ब्यूटी की एक व्युत्पत्ति यों है-(Beau+ty) 'बी' का अर्थ है- प्रिय अथवा रसिक या श्रृंगारी पुरुष। 'टी' एक भाववाचक प्रत्यय है। अतः ब्यूटी का अर्थ है- रसिक का भाव या रसिकता अथवा श्रृंगारी पुरुष का गुण।'[1] ब्यूटी का कोशगत अर्थ इस प्रकार है-"वह गुण या गुणों का संश्लेष जो इन्द्रियों को तीव्र आनन्द प्रदान करता है, प्रधानतः चाक्षुष आनन्द तथा अन्य इन्द्रियों और बौद्धिक भावनाओं को आनन्द प्रदान करता है।"[2]

"फ्रांसीसी भाषा में इसका समानार्थी शब्द है-'बैल'; लतीनी में ' पुलक्रुम'; यूनानी भाषा में 'कलौस' और रूसी में 'क्रसौता'। बैल का अर्थ है 'सुन्दरी', पुलक्रुम का अर्थ 'प्रीतिकर', कलौस का अर्थ 'सुन्दर के निकट' प्रतीत होता है। रूसी शब्द 'क्रसौता' का वाच्यार्थ सुदर्शन अर्थात् देखने में सुन्दर।"[3]

इस प्रकार देखा जा सकता है कि कुछ शब्दों में लालित्य तत्व की प्रधानता है और कुछ में रुप या चाक्षुष सौन्दर्य का द्योतक है। मानव-सौन्दर्य के अतिरिक्त ललित कलाओं में भी सौन्दर्य छिपा हुआ है। ललित कला(चारुकला) की तरह उपयोगी कलाओं में भी सौन्दर्य-बोध का अपूर्व महत्त्व है।

भारतीय एवं पाश्चात्य कवियों तथा विचारकों ने अपनी- अपनी परिभाषाओं के माध्यम से सौन्दर्य के स्वरुप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, किन्तु रुचि-वैभिन्य के कारण वे एक मत नहीं हो सके। एक ओर सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, (यूनानी) चर्नाशेव्स्की, ब्लैलिन्स्की(रूसी) जैसे दार्शनिकों ने सौन्दर्य को अपार्थिव, अगोचर सत्ता न मानकर वस्तुनिष्ठ माना तो दूसरी ओर कान्ट, हीगेल, शीलिंग (जर्मनी) शेफ्ट्सबरी, टामसरोड (इंग्लैंड), क्रोचे (इटली) जैसे दार्शनिकों ने सौन्दर्य को प्रत्यक्ष जगत् का आत्मनिष्ठ रुप माना। अतः सौन्दर्य दो अतिवादी बिन्दुओं के बीच बाजरे की कलँगी की तरह इधर- उधर दोलायमान होता रहा। कोई भी दो विचारक एक मत नही हो सके। फलतः सौन्दर्य अनेकानेक परिभाषाओं के साथ 'चन्द्रकला' की भाँति संक्षेपण और विस्तारण के घेरे में पल्लवित होता रहा।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक सौन्दर्य को परिभाषाबद्ध नहीं किया जा सका; भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से उसके बोध की अवतारणा होती रही। इधर ईशा की प्रथम शताब्दी से कालिदास के समय से संस्कृत-साहित्य में सौन्दर्य की व्यापक चर्चा होने लगी थी। महाकवि माघ उस रूप को रमणीयता की संज्ञा देते हैं, जिसमें क्षण-क्षण में नवीनता की प्राप्ति हो।[4] श्रीमद्गोस्वामी के विचार से अंग-सौष्ठव से सौन्दर्य की सृष्टि होती है।[5] महाकवि कालिदास की उक्ति है-" प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता[6] सौन्दर्य का यह मनोहारी स्वरुप शनैः शनैः पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से होता

---

1. *भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका : डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 23*
2. **Combination of qualities as shape, proportion, colour in human face or form or in other objects, that delights the sight, combined qualities delighting the other senses, the moral sense or the intellect.**

   - The concise Oxford Dictionary, P. 84.
3. *डॉ0 नगेन्द्र : भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 23*
4. *माघ : 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।"*

   - शिशुपालवधम्, 4/17
5. *श्रीमद् रूप गोस्वामीः "भवेत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्।"*

   - उज्ज्वल नीलमणि, उद्दीपन प्रकरण, 19
6. *कालिदास : कुमारसंभवम् (पंचम सर्ग)*

हुआ जब हिन्दी-जगत् में उतरा तो इसे भिन्न-भिन्न कोणों से देखने का प्रयास किया गया। डॉ० रामविलास शर्मा का विचार है, *"प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है।"*[1] रवीन्द्रनाथ टैगोर सौन्दर्य में शिव-तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हैं। पूर्ण सौन्दर्य शिवत्व की मूर्ति हैं और पूर्ण शिवत्व ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरुप है।[2]

जो हमें अच्छा लगता है, वह हमारे लिए सुन्दर है। इसीलिए अमरता अमृत की प्रशंसा करती है और मृत्यु विष की। दोनों के लिए ये दोनों ही वस्तुएँ अपने लक्ष्य या कार्य के लिए अनुकूल है; अतः सुन्दर हैं। सर्पदंश से मरणासन्न व्यक्ति को सर्प-विष का इंजेक्शन देकर प्राणदान दिया जाता है, इसीलिए उसकी दृष्टि से सर्प-विष सुन्दर बन जाता है। इसका वास्तविक कारण यह है कि सौन्दर्य आधारगत नहीं होता, वह एक मानसिक अवस्था है। अद्यतन उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि कविता के आदिकाल से ही सौन्दर्य-बोध को लेकर वस्तुवादी और भाववादी विचारकों के बीच नोंक-झोंक चलती चली आ रही है। वस्तुवादी विचारक सौन्दर्य की सत्ता वस्तु में तथा भाववादी विचारक सौन्दर्य की सत्ता उस वस्तु से हटाकर मनुष्य के मन या आत्मा में मानने का दावा करते हैं। वस्तुगत सौन्दर्य भिन्न-भिन्न देशों और समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जैसे अफ्रीका की कुछ जातियों में मोटे होंठ सुन्दर माने जाते हैं, परन्तु अन्यत्र भारत आदि देशों में पतले होंठ सौन्दर्य के प्रतीक समझे जाते हैं। इसके विपरीत भावगत सौन्दर्य के अनुसार संसार में न तो कोई सुन्दर है और न कोई असुन्दर। *"जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जाएगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर और बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है, वही बाहर है।"*[3]प्रसाद सौन्दर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानते हैं।[4] समय की परिस्थिति के अनुरूप दृष्टा के मन में किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति लगाव या दुराव होता है। इसी कारण संयोगावस्था में सुन्दर लगने वाला चन्द्रमा वियोगावस्था में दाहक शत्रु के समान दिखाई पड़ने लगता है। इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए कविवर बिहारी ने कहा था-

"समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रूचि जेती जितै,तित तेती रूचि होइ।।[5]

कविवर पन्त ने पीले पत्तों, टूटी टहनियों, छिलकों, कंकड़-पत्थरों तथा कूड़ा-करकट आदि को भी सुन्दर घोषित किया -

'पीले पत्ते टूटी टहनी, छिलके कंकड़ पत्थर।
कूड़ा-करकट सब कुछ भू पर, लगता सार्थक सुन्दर'।।[6]

सारांश यह है कि भावगत सौन्दर्य के कारण ही संसार में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' का

---

1. *डॉ० रामविलास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ-19*
2. **Rabindranath Tagore : "Beauty is good in its fullness as fullness of beauty is good in incarnate."** **- On Art and Literature, P. 5**
3. *रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृष्ठ-29*
4. *जयशंकर प्रसाद : "उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।"*
   - कामायनी; लज्जा सर्ग, पृ0 44
5. *जगन्नाथदास 'रत्नाकर' : 'बिहारी-रत्नाकर' से*
6. *सुमित्रानन्दन पंत : युगवाणी, पृष्ठ 17*

सिद्धान्त चलता है। अंग्रेजी मे भी 'Minds differ as rivers differ' की कहावत प्रसिद्ध है। 'भिन्न रुचिः लोकः' की उक्ति तथा 'जितने मुँह उतनी बातें' आदि कहावतें भी इसी तथ्य की अभिव्यंजक है। फिर भी सौन्दर्य के विभिन्न स्वरुप काव्य के अस्तित्व के लिए परमावश्यक हैं।

2. सौन्दर्य- बोध तथा काव्य का सम्बन्ध :

परमात्मा की सृष्टि मानव और मानव की सृष्टि काव्य है। मानव परमात्मा के दरबार में जवाबदेह हो या न हो, किन्तु काव्य मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए उसके सामने कानून है, जिससे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। काव्य या साहित्य सामाजिक और साहित्यिक मर्यादाओं से बँधा हुआ है। यहीं पर मानव का एक अनुसंधानपरक कार्य और है, और वह यह कि उसकी सर्जनात्मक बुद्धि आदिकाल से'आनंद' की अनवरत् खोज में लगी हुई है; लेकिन चेतनागत संस्कार के भिन्नत्व के कारण किसी को शानदार हवेली में आनंद मिलता है; किसी को कच्चे खपरैल में; किसी को हीरे के स्वाद में, किसी को लोहे के स्वाद में, किसी को अम्बर के चाँद में और किसी को धरती की गाँद में। समवेत रूप में कोई 'श्रेय' में मस्त है तो कोई 'प्रेय' में। लेकिन साहित्य का आनन्द इन सबसे परे और ऊँचा है, क्योंकि उसका आधार है- 'सौन्दर्य-बोध'। सौन्दर्य-बोध से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखण्ड और अमर है। साहित्य में मनोवृत्ति के आधार पर रसों की संख्या चाहे जितनी बढ़ जाए, किन्तु इन सबका आधार है-'श्रृंगार', जिसका अर्थ है-'सुन्दर'। जो रचना श्रृंगार विहीन या असुन्दर है, वह साहित्य नहीं हो सकती है। *''जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमे सुन्दर का समावेश हो। खूनी का पता लगाने के लिए सतत् उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों को झेलना, न्याय मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव हैं जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते है।''*[1] इससे स्पष्ट है कि सौन्दर्य-बोध ा और काव्य का कदम्ब-कोरक सम्बन्ध है। किसी सौन्दर्य के प्रति एक नहीं, हजारों रीझने वाले मिल सकते हैं; किन्तु जब तक उनमें लोभ की वृत्ति बलवती रहेगी, तब तक वह सौन्दर्य उपभोग और वासना का ही विषय बना रहेगा। रीतिकाल में दरबारी साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यही रही कि उसने सौन्दर्य को शारीरिक रूप तक ही सीमित रखा। जो लोग सौन्दर्य को उपयोग की वस्तु मानते है; उनके लिए सौन्दर्य मस्तिष्क की नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल हो जाता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है कि उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों को साहित्य की सहायता लेनी पड़ती है। इन धर्म-ग्रन्थों को उपयोगी सिद्ध करने के लिए मानव के सुख-दुख से सम्बन्ध रखने वाली सौन्दर्य-बोध से जुड़ी हुई नाना अवान्तर कथाओं का सहारा लेना पड़ता है। यदि यह सौन्दर्य यहाँ से निकाल दिया जाए तो धर्म की महत्ता या तो बेबुनियाद हो जाएगी या उसका अस्तित्व ही मिट जाएगा।

'सौन्दर्य-बोध' वह भावभूमि है, जहाँ हम प्रथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ पर सौन्दर्य की सत्ता वस्तु और प्रमाता दोनों पर निर्भर रहती है। सौन्दर्य-चिन्तन में प्रमाता निःस्वार्थ भाव से अपने आप ऊपर उठता है, उसके आवेग प्रशमित हो जाते हैं और मंगल के प्रत्यभिज्ञान से उसे प्रसन्नता की अनुभूति होती है। 'अभिशप्त शिलाा' नवें दशक की एक सशक्त रचना है, जिसमें चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' के अनुसार गौतम के लिए अहल्या भोग की नहीं, योग की वस्तु है। यही बात अहल्या के सन्दर्भ में भी है, उनके लिए गौतम विषयानन्द के नहीं, ब्रह्मानन्द के प्रतीक हैं। गौतम और अहल्या एक ही नदी के दो पाट

1. प्रेमचंद : कुछ विचार ('जीवन में साहित्य का स्थान' निबन्ध से)

या तट हैं। अहल्या का भक्ति रूपी सौन्दर्य गौतम को साधना, प्रेम और तपश्चर्या की उदात्त भूमि तक पहुँचा देता है, जहाँ दोनों मिलकर एकमेक हो जाते हैं-

"वही चारुता जो प्रियतम को भा जाती है,
और बल्लभा वही कि जो, बल्लभ भाती है,
\+ \+ \+
एक प्राण ही व्याप्त हुआ है- दो शरीर में,
उपवन में ज्यों पुष्प/ गन्ध बहता समीर में ।"[1]

काव्य और सौन्दर्य-बोध का यही वह संगम है, जहाँ आभिजात्य और अन्त्यज, भले और बुरे का भेद मिट जाता है। साहित्य इसी प्रकार के सौन्दर्य-बोध की अनवरत् खोज में लगा रहता है। राम ने गरीब गुह को गले क्यों लगाया; भीलनी के हाथ से उसके जूठे बेर क्यों खाए; लीला पुरुषोत्तम कृष्ण ने घबराए हुए पार्थ को अनासक्ति योग का उपदेश क्यों दिया; विदुर के मामूली शाक को नाना व्यंजनों से रुचिकर क्यों समझा; भगवान बुद्ध ने एक वेश्या के हाथ से भिक्षा क्यों ग्रहण किया; ईसा मसीह ने घिनौने कोढ़ियों के घाव क्यों धोये? क्योंकि इन सब में एक अद्भुत आत्मिक सौन्दर्य झलकता था और उन्होंने नीचोच्च के पार्थक्य को मिटा दिया। उनकी आत्मा विशाल है, आत्मा आत्मा से मिल गई है। सौन्दर्य-बोध की उदात्तता केवल काव्य-जगत् में ही निहित है।

मनुष्य स्वभाव से ही देवतुल्य है, किन्तु तत्कालीन युग की आपाधापी के कारण वह छल, प्रपंच, छद्म, वाद आदि के तिलस्मी घेरे में फँसकर अपना देवत्व खो बैठता है। सौन्दर्य-बोध इसी देवत्व की खोज करता है। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है, किन्तु हम कितने ही दलित और पतित क्यों न हो जाएँ; असुन्दर की तरफ आकर्षण कभी नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने बुरे करें, पर यह असंभव है कि करुणा और दया, प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों में असर न हो। कहते हैं कि दिल्ली में कत्ले-आम कराने वाला नादिर शाह बड़ा खूंख्वार और निर्दयी था। उसके आदेश से दिल्ली निवासियों के खून की नदी बहती चली जा रही थी। किसी की मजाल नहीं थी कि उसके इस कुकृत्य को रोकने का साहस करता। दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था । उसने अपनी जान हथेली में रख उसके पास पहुँचकर यह शेर पढ़ा-

"कसे न मॉंद की दीगार व तेगे नाज कुशी।
मगर कि जिन्दा कुनी खल्क राव बाज कुशी।।"[2]

अर्थात् तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिन्दा नहीं छोड़ा। अब तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दो को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरु करे। इस शेर ने उसके हृदय को क्या से क्या बना दिया; कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा और उसने तुरन्त कत्ल-ए-आम बन्द करा दिया। यह विराट सौन्दर्य ही है, जिस पर विश्व की आत्मा टिकी हुई है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है-"साहित्य"। जिस दिन साहित्य और सौन्दर्य दोनों एक दूसरे से किनारा कर लेंगे, उस दिन एक नहीं, बल्कि दोनों ही पंगु और मूक हो जाएंगे।"काव्य-सौन्दर्य को व्यक्त करता है, साहित्य मानव-मन अथवा बाह्य

---

1. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : 'अभिशप्त शिला' ('चर्या' सर्ग से) पृ0 12
2. प्रेमचंद : कुछ विचार ('जीवन में साहित्य का स्थान' निबन्ध से)

संसार के सौन्दर्य को शब्द रूप प्रदान कर संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है। जो कवि या साहित्यकार काव्य के इस तत्त्व को सफलता पूर्वक व्यक्त करता है, उसे हम सफल साहित्यकार का पद प्रदान करते हैं।''[1]

यहाँ पर यह स्पष्ट देना असंगत न होगा कि सौन्दर्य-बोध का जो अन्योन्याश्रित सम्बन्ध साहित्य से है; काव्य से है; वह विज्ञान, इतिहास और दर्शन से नहीं है। इसे यों भी कह सकते हैं कि साहित्य का सौन्दर्य विज्ञान, इतिहास और दर्शन के सौन्दर्य से सर्वथा भिन्न है। विज्ञान का विषय तर्क और अनुसंधान पर, इतिहास तथ्यों के वर्णन पर तथा दर्शन विचार व जिज्ञासा पर आधारित होता है, जबकि साहित्य का आधार हृदयस्थ रागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यंजना है। तुलसीदास की पंक्ति 'कनक भूधराकार शरीरा' (अर्थात् कुंभकर्ण का शरीर सोने के पहाड़ के सदृश था।) को चारो ही पारखी व्यक्ति भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। एक वैज्ञानिक के लिए सोने का पहाड़ अनुसंधान का, इतिहासकार के लिए वर्णन का तथा दार्शनिक के लिए विचार का विषय हो सकता है। किन्तु एक साहित्यिक के लिए आनन्द व विह्वलता का विषय होगा और उसका अनुरेखन सौन्दर्य-युक्त कल्पनाश्रित होगा । कल्पना पूर्व-संचित अनुभवों के सहयोग से कवि के सामने मनोहारी चित्र प्रस्तुत करती है, जिसका आशय केवल यही है। कि *''सोने के पर्वत को देखकर हमारे हृदय में जो चित्र अंकित होता है, कुंभकर्ण के उस शरीर को देखकर उसकी लम्बाई, चौड़ाई और भीमकाय ऊँचाई का प्रभाव हमारे मनः पटल पर वैसा ही होता है।''*[2] पाठक या श्रोता इसे देख या सुनकर आनंद-सागर में निमज्जित हो जाता है।

सौन्दर्य-बोध और काव्य का सम्बन्ध एक रहस्य को और उद्घाटित करता है और वह है-'भावना मिश्रित सत्य'। यह भावना जब करुण रस की सीमा पर पहुँच जाती है तो मानव-मन विकलता से रो उठता है। उसे उचित-अनुचित का ख्याल नहीं रहता। कैलाश वाजपेयी के शब्दों में *''संवेदना एक प्रकार से अनिश्चित और धुंध की अवस्था है, जिसमें काल और समय के ज्ञान का अभाव होता है।''*[3] किन्तु उसकी यह तीव्र विकलता एकान्तिक न होकर सार्वभौमिक होती है; स्वान्तः न होकर परान्तः होती है। रामचरितमानस में लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग में राम ने कहा कि लक्ष्मण मेरा सहोदर भ्राता है तथा वे सुमित्रा के इकलौते पुत्र हैं। दोनों ही कथन असत्य हैं क्योंकि राम अपनी माता के इकलौते पुत्र थे, तब सहोदर भ्राता का औचित्य ही नहीं रह जाता है। इसके अलावा सुमित्रा के दो बेटे थे- लक्ष्मण और शत्रुघ्न। यही नहीं, उसी प्रसंग में राम ने यह भी कहा कि यदि मै जानता कि वन में इस प्रकार की विपत्ति आएगी, तो पिता के वचनों का पालन न करता -

''जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू।।[4]
\+ + + + +
अस बिचारि जिय जागहु ताता
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।।[5]

---

1. *डॉ0 राजकिशोर सिंह : साहित्यालोचन, पृष्ठ - 100*
2. *डॉ0 राजकिशोर सिंह : साहित्यालोचन, पृष्ठ - 97*
3. *कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृष्ठ 16*
4. *गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस 6/61/3*
5. *गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, 6/61/4*

\+ + + + +

निज जननी के एक कुमारा।

तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ।।"[1]

किन्तु राम के इन वचनों को असत्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ये वचन करुणा-व्यथित बन्धु-वियोगी के हैं। साहित्य में उद्वेग, प्रलाप और उन्माद तीन स्थितियाँ ऐसी है, जिनमें हृदय का मानसिक संतुलन नहीं रहता। यह केवल एक हृदय की बात नहीं, बल्कि इस धारा से जुड़ने वाले अनगिनत हृदयों की बात है। मुंशी प्रेमचंद के अनुसार-"दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होती। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत है, जैसे आदि कवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित अनंत समय तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नए हैं।"[2]

निष्कर्षतः मानव-जीवन का प्रारंभिक उद्देश्य कुछ भी हो, किन्तु अंतिम उद्देश्य आनन्द की खोज है। इस आनन्द का आधार सत्य है; यह सत्य सौन्दर्य के अभाव में मटमैला और निष्प्रभ रहता है। अतः सौन्दर्य जैसे अमोलक हीरे की संस्थापना केवल साहित्य में ही हो सकती है; विज्ञान, दर्शन या इतिहास में नहीं। हमारा साहित्य अथवा हमारी कविता अगर आज उन्नति नहीं करती, तो इसका कारण यही है कि हमने सौन्दर्य-बोध की उपेक्षा की है।

3. सौन्दर्य-बोध के विविध रूप :-

यह सर्वथा सिद्ध है कि सौन्दर्य एक भाववाचक संज्ञा है। इस संज्ञा का मनसा, वाचा, कर्मणा बोध प्राप्त कर लेना ही' सौन्दर्य-बोध' है। जिस प्रकार काव्य के शारीरिक ढाँचे को दृढ़ करने के लिए'शक्ति-बोध' की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसकी आत्मा को लावण्य और लालित्य से परिपूर्ण करने के लिए सौन्दर्य-बोध' की अनिवार्यता समझी गई है। जातिवाचक संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय आदि शब्दों के माध्यम से भाववाचक संज्ञा का निर्माण कर लेने की एक सुनिश्चित परियोजना हमारे व्याकरण-शास्त्र में रही है। भावमूलक सौन्दर्य-बोध भी इस प्रकार के वर्गीकृत व्याकरणिक इकाई से अछूता न रहा। जब सौन्दर्य के बाह्य और अन्तः स्वरूप को अभितः परितः देखने के सूक्ष्म प्राणायाम किए गए तो देखने के कई नजरिये उभर कर सामने आए। इन नजरियों के अपने-अपने 'वाद' बनें; वादों के अलग-अलग विचारक बनें; विचारकों में आपसी नोंक-झोंक भी हुई, किन्तु सभी विचारक एक मत न हो सके। विचारकों का यह मत-वैभिन्य ही सौन्दर्य-बोध के विविध रूपों का कारण बना। इसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत दर्शाया जा सकता है:-

(क) वस्तुगत सौन्दर्य :-

वस्तुवादी अथवा वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के समर्थकों की अवधारणा है कि सौन्दर्य न तो आत्मगत होता है और न भावगत, बल्कि वह वस्तुगत सत्ता एवं पदार्थ में निहित रहता है, जिसमें यथार्थ की प्रधानता रहती है। वस्तुगत सत्ता कोई अपार्थिव अगोचर सत्ता नहीं है। सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह उस वस्तु की

---

1. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, 6/61/7

2. प्रेमचंद : कुछ विचार (जीवन में साहित्य का स्थान' निबन्ध से)

पराकाष्ठा में सन्निहित रहता है।

पाश्चात्य सौन्दर्य चिन्तकों में अरस्तू, सिसिरो, हर्बर्ट, विलियम होमार्थ, एडमण्ड बर्क, डी0एच0 पार्थर आदि में सौन्दर्य की सत्ता वस्तु विशेष में मानी है। हर्बर्ट ने सौन्दर्य का अर्थ सौन्दर्य माना है।[1] विलियम होमार्थ ने सौन्दर्य के तीन तत्वों पर बल दिया है- उपयुक्तता, विभिन्नता और सम्मात्रा।[2] एण्डमण्ड वर्क ने आकार की लघुता, मसृणता, क्रमिक परिवर्तन, कोमलता, वर्णदीप्ति और शुद्धता को सौन्दर्य के उपकरण के रुप में प्रस्तुत किया है।[3] अतः इन सौन्दर्य-चिन्तकों के अनुसार सौन्दर्य चेतना नहीं है, पदार्थ है।

भारतीय साहित्य में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल में छायावाद तक सौन्दर्य को कभी आत्मगत रूप में, कभी भावगत रूप में और कभी उदात्तगत रूप में देखने की कोशिश की गई है, किन्तु इधर प्रगतिवाद से लेकर अद्यावधि समकालीन तक के साहित्य में सौन्दर्य को वस्तुगत सत्ता के रूप में देखा जा सकता है। मुंशी प्रेमचंद, रामविलास शर्मा, डॉ0 नगेन्द्र, डॉ0 रणजीत, धूमिल, बलदेव वंशी, रमेश गौड़, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' आदि सभी काव्य-चिन्तकों का दृष्टिकोण समाजोपयोगी है। उन्होंने कविता को शोषण के विरूद्ध हथियार के रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ0 रामविलास शर्मा के अनुसार-" सौन्दर्य की वस्तुतगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है। मानव-जीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौन्दर्य की वस्तुगत सता होती है, इसलिए शुद्ध सौन्दर्य नाम की कोई चीज नहीं होती।"[4]

वस्तुगत सौन्दर्य के समर्थकों के अनुसार आज के इस वर्गहीन समाज में सौन्दर्य मानव के कर्मसंकुल जीवन में है, क्योंकि आज का मानव "दैव-दैव आलसी पुकारा" की प्राक्तन् उक्तियों से दूर होता चला जा रहा है, आज वह स्वयं की मेहनत पर जीने का अभ्यासी है, दूसरे के श्रमफल पर जीने का सपना नहीं देखना चाहता। वस्तुवादी सौन्दर्य-चिन्तकों का मानना है कि सुन्दर वस्तुओं का सृजन मानव की सेवा के लिए हुआ है, मानव उनकी सेवा के लिए नहीं है। सौन्दर्य मानव की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं है, वरन् उसकी वस्तुगत सत्ता है। यदि किसी को ताजमहल, तारों-भरी रात, भाद्रपद की उमड़ती कालिन्दी, जयपुर का गुलाबी शहर या काश्मीर का निशात बाग अच्छा नहीं लगता तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन वस्तुओं का सौन्दर्य नौ-दो ग्यारह हो गया है। यथार्थ में दोष तो सौन्दर्य पारखियों की उन बोध-ग्रन्थियों का है, जो उन वस्तुओं के अन्दर समाहित गुणों को नहीं पहचान पा रही। 'चुपाइ रहौ दुलहिन मारा जाई कौआ' यह नियम सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता के खिलाफ नहीं जाता। कभी-कभी किसी दीवाने को किसी कुरूप स्त्री पर रीझते देखकर कुछ लोग आश्चर्य करते हैं; किन्तु यह आश्चर्य का विषय नही है, वह दीवाना उस नारी के अन्दर छिपे सौन्दर्य कों देखता व पहचानता है। सौन्दर्य केवल इन्द्रिय-बोध तक सीमित नहीं है, वह भावों और विचारों में भी निहित है।

जायसी कृत पद्मावत के रत्नसेन ने जब पद्मावती को पहली बार देखा, तो वह बेहोश हो गया, बेहोश होने के कारण पद्मावती उसकी समझ में कम आई। पद्मावती के सौन्दर्य-गुण रत्नसेन की इच्छा

---

1. *रमेश कुन्तल मेघ : साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक, पृ0 119*
2. **The first element in beauty is fitness, the second variety and the third regularity.**
   - E.F. Carritt : Philosophy of Beauty. p. 88
3. **E.F. Carritt : Philosophy of Beauty. p. 92.**
4. *डॉ0 रामविलास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य, पृ033*

– अनिच्छा पर निर्भर न थे, बल्कि पद्मावती में स्वयं निहित थे; जिन्हें सचेत होने पर रत्नसेन ने पहचाना और पद्मावती को सर्वदा के लिए जीवन-संगिनी बना लिया। वास्तव में सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता मनुष्य के व्यवहार पर नहीं; वरन् उन गुणों पर निर्भर है, जिन्हे पहचान कर हम सुन्दर की संज्ञा दे डालते हैं।

भाववादी विचारक मनुष्य की कुछ भावनाओं को चिरन्तन मानकर चलते थे, जिसके कारण सौन्दर्य की सत्ता वस्तुओं से हटाकर मनुष्य के मन और आत्मा में कर दी गई थी, दरबारी राजाओं ने इस पर अपना पुश्तैनी अधिकार मान लिया था। आज के वर्गहीन समाज में कविता की अगुवाई का कार्य जनता के हाथ में है। आज कविता की कसौटी बदल गई है। पीले पत्ते, टूटी टहनियों, छिलकों, बनैले कलछौंहे सूअरों और उनके द्वारा खोदकर खाई जाने वाली दूब की जट्टियों आदि में असीम सौन्दर्य झलकता है। साहित्य का रस कोई भी हो, जब वह अपनी सीमा या पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तो वहाँ असीम सौन्दर्य की सृष्टि अपने आप हो जाती है। वहाँ वीभत्स रस का प्रश्न कोई मायने नहीं रखता, क्योंकि वीभत्स में भी सौन्दर्य होता है।

(ख) आत्मगत सौन्दर्य :-

आत्मगत विचारक सौन्दर्य का अधिष्ठान मानवीय आत्मा में मानते हैं। वे स्थूल और मांसल-सौन्दर्य के स्थान पर सूक्ष्म व आत्मिक सौन्दर्य को प्रधानता देते हैं। सौन्दर्य-बोध के आत्मगत परिधि के अन्तर्गत इनकी विचारणा प्रायः गोचर से अगोचर, प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष और बहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर उन्मुख हुई है। यही कारण है कि इन्होंने सौन्दर्य के भौतिक अस्तित्व को नकार दिया और उसके स्थान पर आत्मिक अस्तित्व की स्थापना की। उनके अनुसार बाह्य पदार्थों का गोचर सामंजस्य, आन्तरिक सामंजस्य का प्रतिबिम्ब मात्र है; आन्तरिक रूप ही सौन्दर्य है।

पाश्चात्य जगत में इंग्लैण्ड के आइडियालिस्टिक विचारकों – शेफ्ट्सबरी, टामसरोड और रस्किन आदि ने सौन्दर्य और परमविभु को एक ही कोटि में रखा है। इसी प्रकार संत आगस्टीन एवं एकिबनान जैसे विचाराकों ने सौन्दर्य को ईश्वरीय सत्ता माना है। उनका विचार है कि विश्व-सौन्दर्य उसी ईश्वर के शुद्ध चरम सौन्दर्य का आभास है।[1] कांट ने तर्कशास्त्र का सहारा लेते हुए सौन्दर्य के दो रूप माने –निरपेक्ष और सापेक्ष। निरपेक्ष का सम्बन्ध रूप से तथा सापेक्ष का सत्य एवं शिव से जोड़ा। इसी प्रकार हीगेल ने विज्ञान के आधार पर अपने विचारों को पल्लवित किया है। उनके मतानुसार परमसत्ता की गोचर या ऐन्द्रिय रूप में प्रस्तुति ही काव्य है।[2] प्रकारान्तर से इसी प्रकार के विचार प्लेटो, प्लेटिनस, क्रोचे, शीलिंग ने भी व्यक्त किए हैं। क्रोचे ने तो यहाँ तक कह दिया है कि सौन्दर्य की बाह्य सत्ता नही होती, सौन्दर्य-भावना ही सौन्दर्य या सुन्दर होती है।[3]

पाश्चात्य देशों की तरह भारत में आत्मगात सौन्दर्य की एक व्यवस्थित परम्परा रही है। प्रकृति के साहचर्य में जीवन बिताते हुए ऋषियों ने वैदिक प्रकृति के उस अनन्त सौन्दर्य की ओर संकेत किया था, जो रहस्यमय ईश्वरीय प्रभा से आलोकित हो उठा है। भारत के सर्वश्रेष्ठ प्राचीन सौन्दर्यवादी कवि कालिदास ने

---

1. *डॉ0 नगेन्द्र : भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका पृ0 22*
2. *डॉ0 नगेन्द्र : भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका पृ0 29*
3. **Croce Benadeto "The beauty is not a physical fact. It does not belong to things but to the activity of man, to spiritual energy" - Aesthetic p. 159**

'इन्दुमती' को 'संचारिणी दीपशिखा' कह कर सौन्दर्य की स्वरूपगत आन्तरिक ज्योति की ओर मार्मिक संकेत प्रस्तुत किया है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में कबीर, सूर, तुलसी, तथा जायसी की समासोक्तिपरक व्यंजनाओं में बाह्य सौन्दर्य से हटकर आत्मतत्व या आत्मराग की प्रधानता है। हिन्दी-साहित्य के छायावाद-युग में आत्मगत सौन्दर्य सर्वाधिक रूप में मिलता है, जहाँ मानव और प्रकृति-सौन्दर्य के माध्यम से अलौकिक प्रेमभावना, वेदनाभाव, रहस्यमयभाव तथा दार्शनिक भावों की प्रतिष्ठा हुई है। उन्हें प्रकृति के कण -कण में अगोचर प्रियतम के दिव्य दर्शन होते हैं। छायावादी कवियों पर यूरोप के प्राचीन सौन्दर्य का प्रभाव है। पन्त ने सौन्दर्य को 'शुभ्र चेतना' और 'नव सौन्दर्य-बोध' कहा है तो प्रसाद ने इसे 'चेतना का उज्ज्वल वरदान' माना है। निराला ने इसे 'ज्योति' की संज्ञा दी है; महादेवी वर्मा के अनुसार 'सौन्दर्य सत्य-प्राप्ति का साधन' है। नारी का बाह्य सौन्दर्य-चित्रण छायावादी सौन्दर्य भावना का उतना महत्वपूर्ण पक्ष नहीं है, जितना महत्वपूर्ण है- 'नारी के आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण'। कामायनी में श्रद्धा के शील का अत्यन्त विशदता के साथ चित्रण हुआ है-

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।[1]

इसीप्रकार आत्मवादी सौन्दर्य की व्याख्या के अनुसार सौन्दर्य प्रत्यक्ष जगत् का आत्मनिष्ठ रुप है। रबीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार - *"भारत की वैचारिक दृष्टि में केवल सौन्दर्य ही शुद्ध है, ब्रह्म-भावना से युक्त सौन्दर्य ही आकर्षक एवं उत्कृष्ट होता है। यह ऐन्द्रिय नहीं; उसमें आत्मतत्व की प्रधानता है।"*[2]

(ग) भावगत सौन्दर्य :-

भाववादी सौन्दर्य को अगोचर, अपार्थिव और इन्द्रियातीत न मानकर उसे प्रत्यक्ष और पार्थिव मानते हैं तथा उसका सम्बन्ध मानव के संवेग, भावना और इच्छा (काम) से जोड़कर उसे ऐन्द्रिय मानसिक अनुभूति मानते हैं। मानव और मानवेतर जगत् के भाव, विभाव, अनुभाव, और संचारीभाव ही रस-निष्पत्ति के मूल कारक बनकर सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। यह सौन्दर्य मानव की भावनाओं पर निर्भर रहता है, जिसके अनुसार सौन्दर्य मन की वस्तु है, दृष्टा की सृष्टि है। विषय और वस्तु चाहे जितने सुन्दर हों, किन्तु भाव और मानसिक व्यापार के सामने तुच्छ और नगण्य हैं। यह मानव की भावना पर निर्भर है कि वह उक्त सौन्दर्य-प्रधान वस्तुओं को कितना महत्व देता है। पाश्चात्य दार्शनिक फैखनर, जानलॉक, एडीसन, सार्त्र, रिचर्ड्स आदि इसके समर्थक हैं।

मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य-चिन्तक फैखनर के अनुसार-*"सौन्दर्य एक प्रकार की प्रीतिकर या सुखात्मक अनुभूति है और प्रत्येक वस्तु जो केवल भावन करने पर या अपने अनुकूल परिणामों के कारण ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष रुप से और तत्काल प्रीति का संचार करती हैं; सुन्दर मानी जा सकती है।"*[3] अनुभववादी दार्शनिक जॉन लॉक सौन्दर्य को सुखद मानते हुए भी उसे भ्रान्ति के रुप में देखते हैं और उसे एक जटिल प्रत्यक्ष बताते हैं।[4] एडीसन ने भावगत सौन्दर्य की उत्पत्ति के लिए कल्पना को प्रमुख माना और

1. *जयशंकर प्रसाद : कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ0 45*
2. *डॉ0 रामेश्वरलाल खण्डेलवाल : आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, पृ0150*
3. *डॉ0 नगेन्द्र : भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की भूमिका, पृ0 24*
4. *निर्मला जैन : रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 53*

कहा कि कल्पना बाह्य वस्तुओं को बिम्ब के रुप में ग्रहण करती है। इन बिम्बों के द्वारा मस्तिष्क में सुप्तभाव उद्बुध होते हैं और उस भावोद्बोधन से सुखानुभूति ऐन्द्रिय-बोध से अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक-बोध से अधिक स्थूल होती है।[1]

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सौन्दर्य दो प्रकार के माने हैं-वस्तुगत और भावगत। भावगत सौन्दर्य के अन्तर्गत उन्होंने स्वीकार किया है कि यह सौन्दर्य मानव मात्र में समान रुप से मिलता है, उसमें विश्व-व्यापी आवेदन होता है। क्षमा, करुणा, दया, प्रेम, बलिदान आदि को सारे विश्व में सम्माननीय माना गया है। इसी कारण साहित्य का मूल उद्देश्य भावगत सौन्दर्य का ही चित्रण करना है। यह भावगत सौन्दर्य कुरुप को भी सुन्दर बना देता है। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है - 'एक रोग से क्षीणकाय फटे चिथड़ों में लिपटा मैला-कुचैला भिखारी जब हमारी नजर के सामने पड़ जाता है, तो हमें उसमें कोई सौन्दर्य नहीं झलकता। परन्तु उसी को जब हम काव्य, चित्र या मूर्ति कें रूप में अंकित देखते हैं, तो उसमें हमें अनन्य सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगता है। इस सौन्दर्य को देखने के लिए भावुक और संवेदनशील होना बहुत आवश्यक है'।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावगत सौन्दर्य की जो शीलप्रधान और नैतिक रूपरेखा निर्धारित की थी, उससे हटकर इस सौन्दर्य को देखने के प्रयास साहित्य में कई स्थानों पर किए गए और कहा गया कि भावगत सौन्दर्य मानव की इच्छा, अनिच्छा और व्यापार पर निर्भर नहीं है। समय और परिस्थिति सौन्दर्य के निर्माता हैं। एक माँ को अपना कुरुप बेटा संसार का सुन्दरतम् बालक दिखाई दे, यह अच्छी बात है। किसी नायिका को वियोग-काल में कोयल की कूक नकारा लगे या चन्द्रमा दाहक शत्रु के समान दिखाई दे, यह भी अच्छी बात है। यह हमारी मानसिक अवस्था है, किन्तु इसी मानसिक (भावगत) अवस्था का अवलम्बन लेकर आदिकाल के श्रृंगारी कवि विद्यापति ने नायिका के हावभावों, चेष्टओं और विलास-लीलओं का जो रंगीन चित्र प्रस्तुत किया है, वह इस सौन्दर्य की उदात्तता में प्रश्न-चिह्न लगाने के लिए पर्याप्त है। इसीप्रकार रीतिकालीन कवि-चितेरों और अवकाश-भोगी राजाओं के लिए सम्पूर्ण संसार नायिकामय था। उनके लिए नारी न तो भगिनी के रूप में प्रिय थी, न मातृरूप में और न हि पत्नी के रूप में। बल्कि एक प्रेयसी और भोग्या के रूप में आजीवन आलम्बन और उद्दीपन की कठपुतली बनी रही। रीतिकाल में पार्थिव और ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है। किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य के संकेत नहीं है।[3] इस प्रकार भावगत सौन्दर्य मानव के रुचि-वैचित्र्य पर निर्भर है। इसी रुचि - वैचित्र्य के कारण भाववादी विचारक का मनुष्य की कुछ भावनाओं को चिरन्तन और शाश्वत मानते है। जैसे 'व्यक्तिगत सम्पत्ति पर उच्चवर्ग का इजारा होना'; जब कि आज के प्रजातांत्रिक समाज में यह इजारा क्षत-विक्षत और खील-खील हो चुका है।

सारांश यह है कि आत्मवादी चिन्तक सौन्दर्य को आत्मा में अधिष्ठित करते हैं। उनकी दृष्टि प्रायः शील और मर्यादा की ओर रहती है, जिससे सौन्दर्य लांछित नहीं होता; किन्तु भाववादी चिन्तक सौन्दर्य को मन में स्थिर करने की तरजीह देते है, उनकी दृष्टि परिस्थितिजन्य होने के कारण सुन्दर-असुन्दर

---

1. निर्मला जैन : रस सिद्धान्त और सौन्दर्य शास्त्र, पृ0 53

2. रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ0 28

3. डॉ0 नगेन्द्र : रीतिकाल की भूमिका, पृ0 163

दोनों तरफ रहती है, जिससे सौन्दर्य के श्लील-अश्लील हो जाने की संभावनाएँ ज्यादा रहती हैं।

(घ) उदात्तगत सौन्दर्यः-

उदात्तगत सौन्दर्य, सौन्दर्य की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। यह महान आत्मा की प्रतिध्वनि या प्रतिबिम्ब है।[1] सौन्दर्य के समस्त रूप इसके समक्ष नगण्य हैं। यह सौन्दर्य के समस्त रूपों को परिष्कृत करके अपने में समेट लेता है। इसीलिए इसे 'सौन्दर्य का विस्तार'(Extentation of beauty) कहा जाता है। हमारे यहाँ 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' या 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जो दिव्य संदेश दिया गया था, वह इसी सौन्दर्य विस्तार का परिणाम है। इस अपार काव्य-संसार में महान कृतियों का निर्माण उदात्त विचारों और भव्य कल्पना की प्रेरणा से होता है। भारत के अमर महाकाव्य रामायण और महाभारत इसी प्रेरणा के कालजयी स्तम्भ हैं। काव्य का वह सौन्दर्य जो इसी लौकिक जगत् पर ऐन्द्रिकता और कामुकता से दूर हो, मांसलता और वासना की क्षुद्र गन्ध से रहित हो तथा आत्मा को पार्थिव (दैहिक) धरातल से दिव्य धरातल, मृण्मय से चिन्मय एवं भोग से योग की ओर ले जाने में समर्थ हो, उदात्त सौन्दर्य कहलाता है।

पाश्चात्य जगत् में प्राचीन चिन्तक लोंजाइनस ने अपनी पुस्तक 'पेरिइप्सुस' में उदात्ततत्व का स्वरूप विवेचन किया है। उन्होंने भव्य आवेगों को उदात्त के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार, "हर्ष, उल्लास आह्लाद,विस्मय और दीप्ति ऐसे भव्य आवेग हैं, जिनकी अभिव्यक्ति में उदात्त की अवस्थिति रहती है।[2] लोंजाइनस के द्वारा बताए गए पाँच उद्गम स्रोतों में 'समुचित अलंकार-योजना' तथा 'उत्तमोत्तम भाषा' भी है। अलंकार-योजना में रूपक, अतिशयोक्ति, पुनरुक्ति, वीप्सा, विशेषण-विपर्यय, विभावना आदि अंलकारों को उदात्त का पोषक माना है तथा गरिमामयी भाषा को आवेग-प्रवाह की संवाहिका स्वीकार किया है। उनके अनुसार, 'कुछ आवेग ऐसे भी हैं, जो औदात्य से बहुत दूर है और जो निम्नतर कोटि के हैं; जैसे दया, भय, शोक, आदि। इस प्रकार के भाव उदात्त की सृष्टि में सर्वथा असमर्थ ही नहीं, बाधक भी होते हैं।'[3] हीगल ने उदात्त को 'सौन्दर्य का दौवारिक' काण्ट ने 'गतिमूलक' व 'गणितमूलक' कहा तथा एण्डमण्ड बर्क ने भाव की उत्पत्ति का मूल कारण पीड़ा या शोक स्वीकार किया। उनके अनुसार बिना शोक के उदात्त का अनुभव नहीं हो सकता। सौन्दर्य एक सामाजिक गुण हैं।[4] भारत में रहस्यवादी कवियों की रचना में यह उदात्त लक्षित होता है। प्रो0 जगदीश पाण्डेय ने उदात्त की व्याख्या इन शब्दो में की है- "जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर उसका उन्नयन या आकर्षण करता है, वह उदात्त कहलाता है।"[5] प्रेम की बाजी हारकर न जाने कितने लोग साहित्य- सेवा में जुट जाते हैं और महान साहित्यकार, कवि या संगीतकार बन जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास तथा बैजू बावरा आदि इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। भारतीय काव्य में विराट बोध क उदात्त विस्मयोत्पादक उदात्त, करुणामूलक उदात्त, रहस्यमूलक उदात्त तथा प्रीतिपरक उदात्त आदि परिलक्षित होते हैं। छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा ही एक ऐसी कवयित्री हैं, जिनके मन में विराट के प्रति स्वयं

---

1. **Bernard Bosanquet, "Sublimity is the image of greatness of soul".**
   - A History of Aesthetic, P.105
2. डॉ0 नगेन्द्र : काव्य में उदात्त तत्व, पृ0 73
3. डॉ0 नगेन्द्र : काव्य में उदात्त तत्व, पृ0 11
4. शिव बालक राव : काव्य में सौन्दर्य और उदात्ततत्व, पृ0 111
5. एस0टी0नरसिंहचारी : सौन्दर्यतत्व निरूपण, पृ0 175

को समर्पित करते हुए ज्ञेय से अज्ञेय तक पहुँचने की तीव्र लालसा है। क्षितिज के पर्दे को फाड़कर उस ओर देखने की प्रबल इच्छा उनमें स्थित है। इसलिए उन्होंने जग के चित्रधार को जानने की तीव्र जिज्ञासा व्यक्त की है।[1] ऋग्वेद में ऐसे ही अनेक विस्मयजनक प्रश्न हैं, जिनसे साधक मुख्य भावना का अवलम्बन लेकर उदात्त लोक में पहुँच जाता है।[2]

(ङ) कल्पनागत सौन्दर्य :-

'कल्पना' शब्द संस्कृत की 'क्लृप' धातु से निर्मित है; जिसका अर्थ है- 'रचना'। अंग्रेजी में इसे 'इमेजिनेशन' (Immagination) कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'इमेज' (Immage) से हुई है, जिसका अर्थ है-'मानसिक चित्र'। इस प्रकार कल्पना वह मानसिक शक्ति है, जो अनुपस्थित या अप्रत्यक्ष वस्तु का चिन्तन-मनन करती है और उसे प्रत्यक्ष के धरातल पर लाने का प्रयास करती है।[3] इस प्रकार पूर्व अनुभूतियों की पुनर्योजना से अपूर्व की अनुभूति उत्पन्न करने की क्रिया या शक्ति को कल्पना कहते हैं।[4]

कल्पनागत सौन्दर्य के अन्तर्गत कल्पना वह विधायिनी शक्ति है, जो द्रव्य का विस्तार करती है। प्रत्यक्ष द्रव्यों का अवलोकन करते समय हमारी कल्पना में उतनी ही चित्र उपस्थित रहता है, जितना हमें दिखाई पड़ता है; किन्तु जब कवि उसका वर्णन करता है तो अनेक ऐसे पहलू उपस्थित कर देता है, जो देखने के समय नहीं थे। जायसी के पद्मावत में असन्तुष्ट रत्नसेन ने राघवचेतन को अपने दरबार से निकाल दिया, जाते समय उसने पद्मावती की झलक मात्र देखी थी, किन्तु उसने दिल्ली पहुँचकर वहाँ के तत्कालीन बादशाह अलाउद्दीन खिलजी से पद्मावती का जो नख-शिख ब्योरा दिया है, वह कल्पनागत सौन्दर्य का विस्तार ही है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इटली के प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री बेनेदेतो क्रोचे ने अपने ग्रन्थ 'सौन्दर्य शास्त्र' में अभिव्यंजना की तुलना में कल्पना को सर्वाधिक महत्व दिया है और कहा है कि अभिव्यंजना वाह्य और कल्पना आन्तरिक होती है। जो कुछ बाह्य है, वह काव्य नहीं है। क्रोच के शब्दों में -

"The work of art (The aesthetic work) is always internal and that which is called external, is no longer a work of art."[5]

ब्राउन, ड्राइडन, फिलिप, सिडनी, शेक्सपियर, कालरिज आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी कल्पनागत सौन्दर्य को मूर्धन्य स्थान दिया है।

भारतीय विद्वानों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राजेश्वर खण्डेलवाल, डॉ0 देवराज उपाध्याय, रमेश

1. *''कनक-सा दिन मोती-सी रात*
   सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात
   मिलाता रंगता बारम्बार
   कौन इस जग का चित्राधार।'' — *महादेवी वर्मा : यामा, पृ0 73*
2. *ऋग्वेद : 2-185-1*
3. *डॉ0 यतीन्द्र तिवारी : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 144*
4. *सं. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी-साहित्य कोश, भाग-1, पृ0 176*
5. *डॉ0 कृष्णदेव शर्मा : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 324*

कुन्तल 'मेघ', पंत, दिनकर, महादेवी वर्मा, आदि कवि मनीषी और साहित्यकारों ने कल्पनागत सौन्दर्य को सर्वोपरि माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावना और कल्पना की अभिन्नता को इन शब्दों मे व्यक्त किया है- *"जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना कल्पना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना।"*[1]

कल्पनागत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति प्रायः बिम्ब और प्रतीक के माध्यम से की जाती है।

(1) बिम्ब

(2) प्रतीक

जब कोई कलाकर देश-काल और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किसी घटना या वस्तु का यथातथ्य सर्वागीण निरूपण करता है तो वह बिम्ब कहलाता है। हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर बिम्ब भी पाँच प्रकार के होते है।- रुप,रस, गन्ध,स्पर्श और श्रव्य। कल्पनागत सौन्दर्य इन बिम्बो के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

रूप-विम्ब के माध्यम से दृष्टि के समक्ष किसी मूर्त वस्तु की स्थिरता, मंथरता और गत्यात्मकता का रूपांकन किया जाता है। रस-बिम्बों का प्रयोग सौन्दर्य के आस्वाद्य अनुभूति की अभिव्यक्ति में होता है। गन्ध-बिम्ब घ्राणेन्द्रिय द्वारा अनुभव किया जाने वाला बिम्ब है, अतः यह विभिन्न प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों की गंध-संवेदना से उत्प्रेरित होकर बिम्बबद्ध किया जाता है। स्पर्श बिम्ब स्पर्शजन्य संवेदना से निर्मित होता है। इसमें किसी वस्तु की कोमलता और कठोरता का बोध होता है। इसीप्रकार श्रव्य-बिम्ब नादात्मक होने के कारण वर्ण, ध्वनि, तुक, लय, और छन्द के माध्यम से मूर्तिमान होते हैं।

प्रतीक कल्पनागत सौन्दर्य के अभिव्यक्तीकरण का सशक्त माध्यम है। सौन्दर्य-बोध को मूर्त बनाने में इसका सशक्त हाथ है। अमूर्त का मूर्तन अर्थात् जो वस्तु हमारे समाने नहीं है, उसका प्रत्यक्षीकरण प्रतीकों के माध्यम से ही सम्भव है। मानव अपने अनुभवों को व्यक्त करते समय इन प्रतीकों का सहारा लेता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से प्रतीक काव्य की अच्छी सिद्धि करते हैं।[2] कल्पनागत सौन्दर्य को उभारने के लिए प्राकृतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, वैयक्तिक, आध्यात्मिक, तथा स्वप्नपरक आदि सभी प्रकार के प्रतीकों का सहारा लिया जाता है।

(च) शिल्पगत सौन्दर्य :- (अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य)

शिल्पगत सौन्दर्य को अभिव्यक्तिगत, बहिर्गत, रूपगत, कलागत आदि कई नामों से संबोधित किया जाता है। शिल्पविधि का बोध अंग्रेजी के टेक्नीक (Technique) शब्द से किया जाता है। टेक्नीक का अर्थ है- ढंग, विधान, तरीका, जिसके माध्यम से किसी लक्ष्य की पूर्ति की गई हो। शिल्पपक्ष के अनेक ऐसे उपादान या स्वरूप हैं, जिनके द्वारा काव्य का ढाँचा तैयार किया जाता है तथा शिल्पगत सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है। यह एक प्रकार से सौन्दर्य के बाह्य पक्ष का सृजन है। सौन्दर्य के अन्य सभी विविध रूपों को काव्य का आभ्यन्तर पक्ष तथा शिल्पगत रूप को बाह्य पक्ष कहा जाता है। भारतीय एवं भारतेतर समस्त विद्वानों ने शिल्पगत सौन्दर्य को अधिक महत्त्व दिया है। इसके निम्नलिखित उपादान हैं :-

---

1. *डॉ0 कृष्णदेव शर्मा : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 385*
2. *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-2, पृ0 121*

(i) भाषा और शब्द-विधान :-

भाषा और शब्द-विधान शिल्पगत सौन्दर्य का प्रथम नियामक उपकरण है। भाषा का महत्वपूर्ण आधार 'शब्द' है। डॉ0 नामवर सिंह के अनुसार - *"काव्य में सबसे बड़ी पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यहीं बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।"*[1] पाश्चात्य विद्वान कालरिज ने अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए *'काव्य को उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान' माना है।*[2] वस्तुतः शब्द के बिना रचना का विधान संभव नहीं। शब्द का आधार है-'लय' और 'गति'। जिस प्रकार चित्रकला में रंग और संगीतकला में स्वर, उसी प्रकार काव्य में शब्दगत लय और गति ही सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं। जो भाषा इस बुनियादी माँग को पूरा नहीं करती; वह चाहे कितनी ही प्रभावोत्पादक क्यों न हो, सौन्दर्य को प्रकट नही कर सकती।

भाषा अपने आप में स्वतंत्र है। वह तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी, संकर आदि शब्दों का प्रयोग करके शिल्पगत सौन्दर्य का श्रृंगार करती है। इसके अतिरिक्त वह रंजक क्रिया, प्रेरणार्थक क्रिया, नामधातु क्रिया आदि के माध्यम से शब्दों में नया निखार लाकर सौन्दर्य की श्रीवृद्धि करती है। इसीलिए ईमानदारी की अभिव्यंजना को व्यक्त करने के लिए भाषा में सपाटबयानी तथा चालू भाषा के मुहावरों में गहरा अर्थ भरने की कोशिश की जाती है। उपसर्ग, प्रत्यय, विशेषण, प्रविशेषण, सार्वनामिक विशेषण, विशेषण-विपर्यय साभिप्राय विशेषण, आंचलिक शब्दों आदि के माध्यम से भाषा शिल्पगत सौन्दर्य में नवाचारिता और प्रत्यग्र मनोहरता लाने का अभिनव प्रयास करती है। भाषा युग के प्रवाह के अनुसार मोड़ लेती रहती है, अतः वह अपने कलेवर को पुष्ट करने के लिए कुछ परम्परागत और कुछ नवीन उपमानों का प्रयोग करती चलती है।

(ii) पुराख्यान तत्व और कवि-समय या काव्य-रूढि :-

'मिथक' शब्द अंग्रेजी के 'मिथ'(Myth) का हिन्दी पर्याय है। प्राचीन काल में मिथक का अर्थ 'देवकथा' था, किन्तु कालान्तर में इसका सम्बन्ध 'ब्रह्माण्ड कथा' से जोड़ दिया गया और इस प्रकार मिथक की परिधि धीरे-धीरे विस्तृत और विशाल होती गई। डॉ0 कैलाश वाजपेयी ने मिथक को 'पुराख्यान तत्व', कॉमिल बुल्के ने 'पुराण कथा ' तथा डॉ0 नगेन्द्र ने 'कल्प कथा' कहा है। भारतीय और यूनानी दोनों ही परम्पराओं में इसका सम्बन्ध कथा (story) से जोड़ा गया है, जिसका रचनाकार अज्ञात होता है। इसमें व्यक्त घटनाएँ यह आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य ही हों, परन्तु जन-समूह में व्यक्त आस्थाएँ एवं विश्वास ही इसे सत्य रूप प्रदान करते हैं। कैसल के 'इनसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर' में इसके सन्दर्भ में कहा गया है - "A myth is a story which for those who tell it and for those who receive it, has a kind of cosmic purpose."[3]

शिल्पगत सौन्दर्य की परिसर्जना में मिथकों का योगदान उत्कृष्ट और रमणीय रहा है। मिथक के अन्तर्गत पौराणिक गाथा, किवदन्ती, लोक-कथाएँ तथा सामाजिक निषेध सभी आ जाते हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही काव्यों में इसकी क्रमिक परम्परा रही है। दाँते की 'डिवाइन कमेडी' का नरक-वर्णन, मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' का शैतान और शेक्सपियर के नाटकों की परियाँ एवं चुडैल पुरातत्व आख्यान का ही

1. डॉ0 नामवर सिंह : कविता के नए प्रतिमान, पृ0 97
2. डॉ0 राजकिशोर सिंह : साहित्यालोचन, पृ0 32
3. डॉ0 कृष्णदेव शर्मा : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0400

प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतीय साहित्य में तुलसी का 'रामचरितमानस' तो प्ररम्भ से अन्त तक पुराख्यान पर ही आधारित है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों में कविता के शब्दार्थ-गौरव को प्रभावी बनाने के लिए मिथकों का सहारा लिया गया है। छायावादोत्तर कविताओं में इसका प्रयोग परम्परात्मक ढंग पर न होकर एक नवीन दृष्टिकोण लेकर किया गया है; यथा -

"क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीकि पर
तो मत समझ वह अनुष्टुप बाँचता है,
संगिनी के संस्मरण के,
जान ले वह दीमकों की टोह में है।"[1]

हम संस्कारवश काव्य के उद्गम को किसी कारुणिक घटना से जोड़ने के लिए बाध्य हो गए हैं। हमारी मान्यता का आधार पुराणों की वह घटना है, जिसने ऋषि वाल्मीकि को कवि बना दिया, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में कवि का उद्देश्य हमारी उस धारणा को खण्डित करके हमे यथार्थ की ओर उन्मुख करना है। वल्मीकि पर बैठा हुआ क्रौंच पक्षी करुणा का प्रतीक नहीं है। वह तो अपने उदर की पूर्ति के लिए बाँबी (वल्मीकि) से निकलने वाले दीमकों की ताक में बगुला भगत बना बैठा है।

कवि-समय अथवा काव्यरूढि पुराख्यान तत्व का ही एक अंग है। किन्तु शिल्पविधि का यह उपादान केवल भारतीय काव्य-शिल्प विधि से ही सम्बद्ध है, पाश्चात्य साहित्य में काव्यरूढि की कोई परम्परा नहीं मिलती। इसका आधार केवल 'कवि कल्पना' है। ये काव्यरूढ़ियाँ प्राचीन परम्परा से चली आती हुई वे कल्पित मान्यताएँ हैं, जो वैज्ञानिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती, किन्तु इनका महत्व स्थायी है। प्रसिद्ध काव्य शास्त्री राजशेखर के अनुसार *"कविजन जिसे अशास्त्रीय(शास्त्र से बहिर्भूत), अलौकिक (लोक-जीवन से बहिर्भूत) केवल परम्परा प्रचलित अर्थ का उल्लेख करते है, वह कवि समय है।"*[2] .....
कोक-युग्म का रात्रि में बिछुड़ना, अशोक-वृक्ष का फलहीन होना, करतूरी मृग का इतस्ततः भटकना, राहु द्वारा चन्द्रमा का ग्रसा जाना, सूर्यास्त के साथ कमल का सकुचना या कुमुद का विकसित होना काव्यरूढियाँ हैं। कवि-समय के अन्तर्गत चन्दन के वृक्ष में सर्प लिपटे रहने की जो मान्यताएँ काव्य-रूढि के रुप में चली आ रही हैं, नीचे की पंक्तियों में उसे प्रतीकात्मक ढंग पर प्रस्तुत किया गया है:-

"साँपों को तो देखिये मौत का
रस दाँतो में भरे हुए
चन्दन में पड़े लिपटे रहते हैं,
खेलते कूल की छाँहो में।"[3]

(iii) बिम्बः-

शिल्पगत सौन्दर्य को हृदयग्राही बनाने के लिए बिम्ब चित्रों की भूमिका सदैव से अपरिहार्य रही है। बिम्बों को आकर्षक बनाने के लिए शब्दों का चुनाव बड़ी सतर्कता से होना चाहिए। बिम्ब के लिए भाव खड़ा

---

1. अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर ('माहीवाल' से)

2. राजशेखर : "अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः।"
– काव्यमीमांसा : चतुर्दशोऽध्यायः।

3. रामधारी सिंह 'दिनकर' : धूप और धुआँ, पंचपंक्ति

करने वाले शब्द सर्वाधिक उपयुक्त होते हैं। बिना अनुभूतिमूलक सम्पर्क के कितना ही सौन्दर्य-सम्पन्न बिम्ब क्यों न हो, पाठक के मन पर उसका कोई प्रभाव होना कठिन है। कैलाश वाजपेयी के अनुसार- "*बिम्ब-चित्रण वस्तुतः मनुष्य के इन्द्रिय-संवेदन अनुभवों पर आधारित है। पाँच इन्द्रियों की संवेदनशीलता के आधार भिन्न-भिन्न हैं। अतः इन्द्रिय-बोध के अनुसार बिंम्बों के भी पाँच प्रकार होते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द- ये पाँच इन्द्रियों के गुण हैं। इन्हीं के आधार पर बिम्ब भी विजुवल (Visual), आडिटरी (Auditory), गैस्टेटरी (Gustatory), आल फैक्टरी (Ol Factory) और टेक्टाइल (Tactile) पाँच प्रकार के हो जाते हैं। प्रथम की सौन्दर्यानुभूति उसके दृष्टिगुण, द्वितीय की उसके श्रव्यगुण, तृतीय की रसगुण, चतुर्थ की गंधगुण और पंचम की उसके स्पर्शगुण के कारण होती है।*"[1]

इन पाँच गुणों के अतिरिक्त बिम्ब-बोध के दो अन्य कारण भी बिम्बवादियों ने गिनाए हैं, जिनका अनुभव मनुष्य अन्य संवेदनाओं द्वारा करता है। इन बिम्बों में थर्मल (Thermal) तथा किन एस्थेटिक (Kinaesthetic) का नाम प्रमुख है। थर्मल बिम्ब मनुष्य के शीतताप बोध का द्योतक है तथा किनएस्थेटिक अंग विश्राम-बोध का। ये ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं, जिसमें पूर्णरुप से शीत अथवा ऊष्मा का अनुभव होता है-

'कोठरी में दीप की लौ सेंकती
ठंडा अंधेरा।'[2]

यह बिम्ब हमें कुछ वैसे कमरे की याद दिलाता है, जिसमें अँधेरे के ही साथ अत्यधिक सीलन है ओर दीये का हल्का प्रकाश है। यह बिम्ब अभिव्यंजना की दृष्टि से अधिक सुन्दर है। अब स्पर्श-चेतना जाग्रत करने वाले बिम्ब का एक उदाहरण और लें, जिसमें एक उपमा के कारण ही एक स्पष्ट चित्र उभर आया है-

'सेमल की गरमीली हल्की रूई समान
जाड़ों की धूप खिली आसमान में।'[3]

इसी प्रकार शिल्पगत सौन्दर्य की मूर्तिमत्ता के लिए वस्तु-बिम्ब, भाव-बिम्ब, अलंकृत-बिम्ब, विवृत-बिम्ब आदि का प्रयोग किया जाता है।

(iv) प्रतीकः-

विस्तार को संक्षेप में कहने का माध्यम अथवा विशिष्ट सांकेतिक अर्थ का नाम 'प्रतीक' है। प्रतीक हमें परम्परा से प्राप्त होते हैं। भाषा को व्यक्त करने के लिए वर्णमाला के अन्तर्गत जिन ध्वनि-चिह्नों का निर्माण किया गया है, वे एक प्रकार से प्रतीक के ही बोधक हैं। सरस्वती की वीणा 'संगीत और कला' का, हंस 'विवेक' का तथा पुस्तक 'साहित्य' का प्रतीकात्मक अर्थ इसलिए ध्वनित करते हैं कि हमने उन्हें परम्परा से प्राप्त किया है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रतीकों का सहारा लेकर ही बोलते, सुनते व समझते हैं। 'ध्वज' देश की प्रतिष्ठा व स्वतंत्रता का प्रतीक होने के नाते ही केवल वस्त्र-खण्ड न माना जाकर श्रद्धा और गौरव का अधिकारी होता है। कबीर की कविता में प्रतीकों का जो प्रयोग मिलता है, वह उन पर पूर्ववर्ती धार्मिक सन्तों, अवधूतों, सिद्धों और नाथों का प्रभाव है। उनकी कविता में हंस 'आत्मा' का तथा जायसी

1. *कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ0 57*
2. *अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर (हरी घास पर)*
3. *गिरिजाकुमार माथुर : नाश और निर्माण ('कुतुब के खण्डहर' से)*

की कविता में हंस 'परमात्मा' का प्रतीक है। महादेवी वर्मा की अधिकांश रचनाएँ - नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा - विलक्षण प्रतीकों के प्रतीक हैं। इस प्रकार प्रतीक भी बिम्बों की तरह अभिव्यक्ति के सबल माध्यम हैं। सुमित्रानन्दन पंत के अनुसार 'सौन्दर्य-बोध' को मूर्त बनाने में प्रतीकों का सशक्त हाथ हैं।'[1] डॉ0 कैलाश वाजपेयी के अनुसार *"प्रतीक एक प्रकार से हमारी सामाजिक भाव परम्परा का ही स्मृति-चिह्न है, जिसे हम समय के साथ-साथ नए अर्थों में संयुक्त करते रहते हैं।'*[2]

प्रतीक प्रायः तीन प्रकार के होते है-

1. सांस्कृतिक प्रतीक

2. प्रकृत प्रतीक

3.सैद्धान्तिक प्रतीक

सांस्कृतिक वर्ग के प्रतीकों के अन्तर्गत धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार के प्रतीक आ जाते हैं तथा प्रतीकों का यह वर्गीकरण अर्थ के आधार पर न होकर स्रोत के आधार पर हुआ है। अतः युग की परिस्थितियों के अनुसार प्रतीकों के अर्थ में अन्तर आ जाने पर भी प्रतीकों के स्रोत में किसी प्रकार का अन्तर या परिवर्तन नहीं आता। धार्मिक प्रतीकों के अन्तर्गत वेद, पुराण, मठ, मन्दिर, मस्जिद, त्रिदेव, अष्टांग योग आदि शब्दों; पौराणिक के अन्तर्गत कौरव, पांडव, द्रुपदा, मनु, एकलव्य, दधीचि, जुलाहा आदि शब्दों तथा ऐतिहासिक प्रतीकों के अन्तर्गत, चित्तौड़, इन्द्रप्रस्थ, जौहर, जैचन्द, नीरो, हिटलर आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

प्रकृत वर्ग में दो प्रकार के प्रतीक आते हैं - जड़ और चेतन। उषा, संध्या, निशा, ज्योत्स्ना, चाँदनी, लहर, सागर, अँधेरा, गुलाब, कमल आदि जड़ तथा चातक, शलभ, साँप, कोकिल, गिद्ध, मीन आदि चेतन के अन्तर्गत आते हैं।

सैद्धान्तिक वर्ग के अन्तर्गत दार्शनिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक आदि प्रतीक आते हैं। दार्शनिक प्रतीकों में ब्रह्म, जीव, जगत, बंधन, मोक्ष, माया आदि; राजनीतिक प्रतीकों में साम्यवाद, लोकतंत्र, संसद, नेता, हल, कुदाल, हथौड़ा तथा वैज्ञानिक प्रतीकों में अणु, परमाणु, विद्युत्कण प्रोटान, विकिरण, स्टीमर, बारुद, गोली, स्लेज आदि का प्रयोग किया जाता है। हर युग का साहित्य ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा समय के परिवर्तन के अनुसार प्राचीन प्रतीकों को त्यागकर नवीन प्रतीकों को अपनाता चलता है। शिल्पगत सौन्दर्य में इन सभी प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग सन्दर्भानुसार किया जाता है।

प्रतीक और बिम्ब में अंतर यह है कि प्रतीक हमेशा संक्षिप्त और सांकेतिक होता है, जबकि बिम्ब यथातथ्य और सर्वांगीण। प्रतीक एकार्थ व्यंजक होता है, जब कि बिम्ब एक प्रकार से अधिक स्वच्छन्द और अनेकार्थ व्यंजक होता है। प्रतीक का अर्थ सभी के लिए समान होता है, किन्तु बिम्ब का अर्थ हर व्यक्ति अपने अनुभव के अनुसार कम या अधिक तीव्रता से ग्रहण करता है। प्रतीक पूर्ण रूप से परम्परा सापेक्ष होता है, जब कि बिम्ब नितान्त आकस्मिक और इसलिए वह काव्य का अधिक जीवन्त तत्व माना जाता है। शिल्पगत सौन्दर्य में चार चाँद लगाने के लिए इन दोनो ही सहोदर उपादानों की सहभागिता अनिवार्य है।

---

1. पन्त : जो अव्यक्त रहा अन्तर में,
उसे प्रतीकों ही मे बिम्बित, रहने दो, रहने दो। - वीणा, पृ0 41

2. डॉ0 कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ0 76

(iv) चमत्कार :-

रचना में वैचित्र्य तथा प्रभाव आदि उत्पन्न करने के लिए 'चमत्कार' नामक उपादान की महनीय आवश्यकता होती है। यह दो प्रकार का होता है :-

1. शब्दगत
2. अर्थगत

शब्दगत चमत्कार:-

शिल्पगत सौन्दर्य को प्रभावी बनाने के लिए शब्दगत चमत्कार के अन्तर्गत अलंकार, रीति, वक्रोति तथा अर्थगत चमत्कार के अन्तर्गत ध्वनि और रस का समावेश किया जाता है।

अलंकार :-

शब्दगत चमत्कार का प्रधान रूप अलंकार है। अलंकार की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु में 'अलम्' उपसर्ग एवं 'घञ्' प्रत्यय लगाकर हुई है। अलंकार की व्याख्या में कहा गया है- 'अलंकरोतीति अलंकारः'। अलंकार सौन्दर्य का विधायक तत्व है। सौन्दर्य अलंकृत होकर आभावान बन जाता है। प्रारम्भ में हमारे यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने केवल चार अलंकार माने थे- अनुप्रास, उपमा, रूपक, और दीपक। किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र की भाँति आज भारतीय काव्यशास्त्र में भी अलंकारों की संख्या बढ़ते-बढ़ते 225 तक पहुँच गयी है। अलंकार शास्त्र के आदि आचार्य भामह के अनुसार 'कांत (पति अथवा सौन्दर्य) होने पर भी भूषण के बिना वनिता के मुख पर आभा नहीं आती।'[1]

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने अलंकार विषयक कुछ अन्य स्थापनाएँ की। उन्होंने लिखा- 'अलंकार वे धर्म हैं, जिनसे काव्य की शोभा होती है।'[2]

वामन ने दण्डी की इस मान्यता का खण्डन करते हुए लिखा कि 'शोभाकार धर्म तो गुण हैं।'[3] अलंकार शोभा के कर्ता नहीं, वरन् उसकी वृद्धि करने वाले हैं।'[4] संस्कृत आचार्यो- रुद्रट, भोजराज, मम्मट, जयदेव आदि से होती हुई यह परम्परा हिन्दी-साहित्य में आई, जहाँ पर आचार्य केशव ने अपने लक्षण-ग्रन्थ 'कवि-प्रिया' में लिखा -

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजयी, कविता-वनिता मित्त।।[5]

इस प्रकार आचार्य भामह से लेकर केशवदास तथा अन्य परवर्ती आचार्यो ने अलंकार को काव्य का नितान्त आवश्यक गुण माना, जो स्पष्ट रूप से इस बात का द्योतक है कि अलंकार काव्य में शिल्पगत सौन्दर्य का अनिवार्य स्वरूप है।

रीतिः-

शब्दगत चमत्कार के अन्तर्गत शिल्पविधि का दूसरा महत्वपूर्ण अंग 'रीति' है।'रीति' शब्द रीङ् धातु

---

1. *भामह : "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।" - काव्यालंकार, 2/3*
2. *दण्डी : "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" - काव्यादर्श, 2/1*
3. *वामन : "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मो गुणः।।" - काव्यालंकार सूत्र, 3/1/1*
4. *वामन : "तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।" - काव्यालंकार सूत्र, 3/1/2*
5. *केशवदास : कविप्रिया, 5/1*

से बना है, जिसका अर्थ है- गति, पथ, मार्ग, शैली। सर्वप्रथम आचार्य वामन ने *'रीतिरात्मा काव्यस्य'*[1] लिखकर आग्रह पूर्वक रीति को काव्य की आत्मा माना। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है- विशिष्ट पद रचना। विशिष्ट का अर्थ है-गुण सम्पन्न (विशेषा गुणात्मा), गुण से तात्पर्य है-'काव्य शोभा कारक धर्म' (काव्य शोभा कर्तारो धर्मो गुणः), अतः रीति गुणों पर अवलम्बित रहती है। वामन के अनुसार शब्दगत और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद रचना का नाम रीति है।[2] वामन के पश्चात् आनन्दवर्धन ने रीति को 'संघटना' नाम दिया। कुन्तक और दण्डी ने इसे 'मार्ग' के अर्थ में प्रयुक्त किया। भोज ने रीति की परिभाषा उसे व्युत्पत्तिमूलक मानते हुए दी। उनके अनुसार वैदर्भादि पंथ काव्य में मार्ग कहलाते हैं। गत्यर्थक रीङ् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण वही रीति कहलाती है।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार रीति एक प्रकार से वर्ण-व्यापार है अर्थात् वर्ण-संगुम्फन का नाम रीति है। आचार्य विश्वनाथ ने भी आनन्दवर्धन से प्रेरणा लेकर रीति का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा -'पदों की संघटना का नाम रीति है, वह अंग संस्थान(शरीर-गठन)की भाँति है।'[4]

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 10 गुण माने थे, किन्तु मम्मट तथा अन्य परवर्ती आचार्यों ने केवल तीन गुणों- माधुर्य, ओज और प्रसाद को मान्यता दी तथा माधुर्य गुण पर आधारित वैदर्भी रीति, ओज गुण पर आधारित गौड़ी रीति एवं प्रसाद गुण पर आश्रित पांचाली रीति का उल्लेख किया। इस प्रकार पद रचना ही रीति है। ये सभी गुण शब्द-गुम्फ पर आधारित होते हैं।

रीति के साथ शैली का नाम भी आता है, क्योंकि शैली रीति का पर्याय है। वास्तव में शैली शब्द-योजना, वाक्य-योजना, भाव-योजना और वस्तु-योजना के विलक्षण संयोग का नाम है। अतः शिल्पगत सौन्दर्य के अन्तर्गत उपादान रूवरूप जब हम शैली का अध्ययन करते हैं, तब रीति के अंगो का समावेश भी शैली के अन्तर्गत हो जाता है।

वक्रोक्तिः-

शब्दगत चमत्कार के अन्तर्गत काव्य-शिल्पविधि का तृतीय महत्वपूर्ण उपादान वक्रोक्ति है। शिल्पगत सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए वक्र अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। आनंदवर्धन के अनुसार लोकोत्तर रूप से अवस्थापन, अलौकिक रुप से स्थिति का नाम ही वक्रोक्ति है अर्थात् संसार में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप में होता है, उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाता है।[5] वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानने वाले वक्रोक्ति सिद्धान्त के उन्नायक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न, विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है- वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य का अर्थ है-

---

1. *वामन : रीतिरात्मा काव्यस्य। (काव्यालंकार सूत्र 1/2/6)*
2. *वामन : विशिष्टपद रचना रीतिः। 1/2/7*
   विशेषो गुणात्मा । (1/2/8 काव्यालंकार -सूत्र)
3. *भोज : वैदर्भादिकृतः पंथाः काव्ये मार्गाः इति स्मृताः।*
   रीङ्गताविति धातोस्सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते। (सरस्वती कंठाभरण, 2/27)
4. *विश्वनाथ : पदसंघटना रीतिरंगसंस्था विशेषवत्। (साहित्यदर्पण 9/1)*
5. *अभिनवगुप्त : "शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम्।*
   - लोचन, पृ0 280

विदग्धता, कवि-कर्म-कौशल, उसकी भंगिमा या शोभा, उसके द्वारा उस पर आश्रित उक्ति। विचित्र अभिधा का नाम ही वक्रोक्ति है।[1]

कुन्तक के पश्चात् किसी आलोचक ने इस सिद्धान्त का अनुगमन नहीं किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सम्पूर्ण सिद्धान्त काव्य के कलापक्ष का प्रतिनिधित्व करता है और शिल्पगत सौन्दर्य की उद्भावना के लिए केवल शब्दगत विशेषता का ही चित्रांकन करता है।

अर्थगत चमत्कार :-

काव्य में चमत्कार का दूसरा अंग अर्थगत चमत्कार है, जो विशेष रूप से ध्वनि पर आधारित है। ध्वनि के माध्यम से सौन्दर्य उत्पन्न करने की प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। रीतिकालीन आचार्यों ने इसका भरपूर प्रयोग किया है। वैसे ध्वनि शब्द की निष्पत्ति 'ध्वन्' धातु 'ई' प्रत्यय के संयोग से हुई है, जिसका अर्थ है 'कानों को सुनाई पड़ने वाला नाद।' ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में लिखा है-*''जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस (रमणीय) अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।''*[2]

ध्वनि का तात्पर्य उस शक्ति से है, जिसके द्वारा वाच्य अर्थ के भीतर एक दूसरा रमणीय अर्थ आभासित हो। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं- वाच्य और प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलंकार का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। ध्वनि का आधार शब्द-शक्ति है। ध्वनिकार ने अभिधा और लक्षणा की तुलना में व्यंजना को सर्वाधिक महत्व दिया है और इसी को ध्वनि-सिद्धान्त की आधार-शिला घोषित किया है। उनके अनुसार व्यंजना उत्तम काव्य है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सुन्दर, उत्कृष्ट और मार्मिक होता हैं। मध्यम काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा कम सुन्दर होता है। 'गुणीभूत व्यंग्य काव्य' इसी के अन्तर्गत आता है। अधम काव्य में किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ न होकर केवल अलंकारों का ही कौतुक रहता है। इसे 'चित्र काव्य' भी कहते है।

उपर्युक्त आधार पर ही आनंदवर्धन ने ध्वनि को तीन भागों में विभक्त किया है (1) रस-ध्वनि (2) अलंकार-ध्वनि और(3) वस्तु-ध्वनि। रस-ध्वनि को उत्तम काव्य के अन्तर्गत, वस्तु-ध्वनि को मध्यम तथा अलंकार-ध्वनि को अधम काव्य के अन्तर्गत रखा है। उन्होंने रस-ध्वनि को ही 'ध्वनि-काव्य' माना तथा उसे ही' काव्य की आत्मा'(काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति) सिद्ध किया। प्रतीयमान अर्थ के अनुसार रस अनुभूति और प्रतीति का विषय है, उसका ध्वनन् होता है, उसका कभी भी प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता। इसी ध्वनि को ध्वनिकार ने 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि' का नाम दिया है। गुण, वृत्ति, रीति, अलंकार आदि इसी रस-ध्वनि के सहायक हैं। ये सभी रस-ध्वनि के प्रभाव को बढाने में सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रकार ध्वनिवादी सिद्धान्त रस-ध्वनि के आधार पर रस-सिद्धान्त का ही व्यावहारिक रूप है, किन्तु यह काव्य के दोनों पक्षों-भावपक्ष और कलापक्ष को अपनी विस्तृत परिधि के भीतर समेट लेता है, जब कि रस-सिद्धान्त में कलापक्ष

---

1. *कुन्तक : कीदृशी वैदग्ध्यभंगीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलम्।*
तस्य भंगी विच्छितिः तथा भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।
(वक्रोक्तिजीवितम्, कारिका 9/10 का भाष्य)

2. *आनंदवर्धन : ''यथार्थः शब्दौ वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।*
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। (ध्वन्यालोक, 1/23)

उपेक्षित-सा ही रहा करता है। इस प्रकार यह वही रस-ध्वनि है, जो काव्य-शिल्प-विधि में अर्थगत चमत्कार के अन्तर्गत आती है।

छन्द :-

छन्द कविता का प्राण है; शिल्पगत सौन्दर्य को सजाने और सँवारने का एक तंत्र है। यदि छन्द काव्य-पुरूष का पाद है,[1] तो वह शिल्पगत सौन्दर्य का भी पाद है। जिस प्रकार बिना पैर के शरीर चल-फिर नहीं सकता, उसी प्रकार बिना छन्द का आधार लिए कविता भी गतिमान नहीं हो सकती। छन्द अपने यति, गति, लय, तुक, मात्रा, वर्ण, चरण आदि गुणों के आधार पर शिल्पगत सौन्दर्य की कमनीयता को बढाता है। हिन्दी भाषा विश्लेषण प्रधान है; अस्तु हिन्दी के लिए मात्रिक छन्द ही उपयुक्त रहे हैं। इधर पिछले दशकों से इस मान्यता में भारी परिवर्तन आया है। अब मुक्त छन्द (Free verse) की बात की जा रही है।

मुक्त छन्द की यही परम्परा पाश्चात्य जगत् में 'बाइबिल' से प्रारम्भ हुई है और इधर 19वीं शताब्दी में इसका प्रथम प्रयोग वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) ने किया था । हिल्डा डलिटल (Hilda Doolittle), एजरा पाउण्ड (Ezra pound), रिचर्ड एलडिंगटन (Richard aldington) आदि ने आगे चलकर मुक्तक रचना में चीनी और ग्रीक लोकगीतों तथा जापान में प्रचलित हाइकू (Hokku) गीतों की रचना प्रक्रिया और शिल्प को भी ग्रहण किया है।

मुक्त छन्द की यह परम्परा यद्यपि भारतीय साहित्य में बहुत पहले वैदिक युग से प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु वर्तमान युग की कविता पर पश्चिम की फ्री-वर्स (Free verse) और वर्स-लिब्र (Verse libre) का अधिक प्रभाव है। हिन्दी में मुक्त छन्द या छन्द के बन्धनों को अस्वीकार करने की परम्परा महाप्राण निराला से मानी जाती है। 'निराला ने अपनी पहली छायावादी रचना 'जूही की कली'(1916) को छन्द से मुक्त किया था। छन्दों को तोड़ने का श्रेय निराला को दिया जाता है, जिन्होंने साहस पूर्वक यह स्वीकार किया कि मनुष्यों की मुक्ति कर्मो के बन्धन से छुटकारा पाना और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।'[2]

निराला का वह प्रयोग अंग्रेजी के वर्स-लिब्री का अनुकरण है, जिसे निराला जी ने सफलता के साथ निभाया है।[3] आगे चलकर निराला ने उर्दू की शैली के आधार पर 'हिन्दी गजल' भी लिखे।[4] शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय और बालकृष्ण राव आदि ने भी इस कड़ी में अपना नाम जोड़ा। मुक्त छन्द में यति का कोई क्रम नहीं होता, जब कहीं एक भाव पूर्ण हो जाता है, वहीं लय भी विराम ले लेती है। इसी को

---

1. ''छन्दः पादौ तु वेदस्य।''शांखायन श्रौत सूत्र, 7/27
2. निराला : परिमल, भूमिका, पृ0 10
3. **Dr. Indra Nath Madan : "Nirala has made a distinct contribution to the technique of verse in modern Hindi poetry. In the face of opposition he has successful experimented. 'Verse Libra' - Modern Hindi Literature, P. 76**
4. निराला : ये टहनी से हवा कि छेडछाड़ थी मगर
   खिलकर सुगन्ध से किसी का दिल बदल गया
   खामोश फतह पाने को रोका नहीं रुका
   मुश्किल मुकाम जिन्दगी का जब सहल गया। (बेला, गीत 75)

'अर्थ की लय' भी कहते है। इस प्रकार मुक्त छन्द कविता लयात्मकता से शून्य नहीं हुई।

प्रगतिवाद में मुक्त छन्द के साथ - साथ यथार्थ को भी चित्रित करने के लिए अतुकान्त छन्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ हुआ, किन्तु छन्द के विशिष्ट सौन्दर्यवर्धक गुण 'लय' की तिलांजलि नहीं हो पाई। प्रयोगवादी कवि छन्द के प्रति सर्वाधिक विद्रोही रहा है। उसने मुक्त छन्द और अतुकान्त छन्द का बिगुल तेज कर दिया; छन्दों के नए-नए नाम दे डाले- स्वर छन्द, केंचुआ छन्द, मोम छन्द, क्लोन छन्द, पाइप छन्द आदि। किन्तु लयात्मकता आद्योपान्त बरकरार रही।

नई कविता और उसके बाद लिखी जाने वाली अद्यतन समकालीन कविताओं में भी अतुकान्तता व्यापक तौर पर विद्यमान है, किन्तु छन्द और लय का कदम्ब-कोरक सम्बन्ध बना हुआ है। छन्द-शरीर के यति, गति, तुक, मात्रा,चरण, आदि पाद(पैर) भले ही विक्षिप्त या पंगु हो जाएँ, किन्तु जब तक लय नामक 'धर्मपाद' उससे जुड़कर उसे दिशा-निर्देश देता रहेगा, तब तक कविता को अकविता के 'काँजी-हाउस' में नहीं डाला जा सकता। वह निरन्तर नए-नए परिवर्तनों के साथ शिल्पगत सौन्दर्य का साथ देती रहेगी। जिन रचनाओं में यह लयाधर नहीं है अथवा न होने की संभावना है, उन्हे हम शिल्प की दृष्टि से कविता न मानने के लिए बाध्य हो जाएंगे।

4. सौन्दर्य- बोध की उपादेयता-

सौन्दर्य साहित्य अथवा काव्य को एक समुचित संस्कार देता है, अतः उसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। काव्य में शब्द और अर्थ को रमणीय बनाने तथा वाक्य को रसात्मकता से परिपूर्ण करने की जो सरस कल्पना काव्यशास्त्र में की गई थी, वह सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से साहित्य को उपादेय बनाने की ही एक प्रत्यग्र मनोहर सोच थी। साहित्य में सौन्दर्य के अलावा सत्यम्-शिवम् की प्रायः चर्चा की जाती है। ये दोनों ही साहित्य की परम कसौटियाँ हैं; किन्तु ये कसौटियाँ उसी समय अर्थवान होती हैं, जब उन्हे सौन्दर्य का संसर्ग मिल जाता है। साहित्य का कोई भी सत्य तभी ग्राह्य होता है, जब वह सौन्दर्य से आवेष्टित होता है। असुन्दर सत्य कभी ग्राह्य नहीं होता। कविवर पंत ने ठीक ही लिखा है-

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार।
लोचनों में लावण्य अनूप
लोकसेवा में शिव अविकार।"।[1]

यथार्थ सत्य को मोहक और आकर्षक बनाने के लिए सौन्दर्य का संबल अनिवार्य है। सत्य का मूल रूप 'स्थूल' और 'नीरस' होता है। यही उसका चिरन्तन रूप है।'सदा सत्य बोलना चाहिए' यह एक चिरन्तन सत्य है। किन्तु इस वाक्य को दीवाल पर लिख देने या लोगों के बीच केवल नक्कारा पीटने से ही तो काम नहीं चलेगा। श्रोता या पाठक इस तरफ तभी आकर्षित होंगे, जब इस चिरन्तन सत्य को नाना उदाहरणों, प्रेरणादायी कथाओं तथा उदात्त भाषिक सौन्दर्य द्वारा प्रस्तुत किया जाएगा। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक मे सत्य बोलने का यही रूप प्रतिपादित किया गया है। हीरा जब खान से निकलता है तो उसका रूप बड़ा मलिन, भोड़ा और अनाकर्षक होता है, कभी-कभी मामूली पत्थर या काँच का मैला-सा टुकड़ा समझकर उपेक्षा के साथ फेंक दिया जाता है; किन्तु वही हीरा जब किसी पारखी जौहरी के पास पहुँचता है तो वह उसकी सारी

1. डॉ0 राजकिशोर सिंह : साहित्यालोचन, पृ0 96

मलिनता दूर कर उसे काट-छाँट कर ऐसा उज्ज्वल और आकर्षक रूप प्रदान कर देता है कि दर्शक की आँखे ठगी-सी रह जाती हैं।

ऐतिहासिक सत्य को जब आदर्शपरक बनाना होता है तो सौन्दर्य की आवश्यकता समझी गई है। महाभारत की कथा के अनुसार दुष्यन्त ने शकुन्तला को लोकापवाद के भय से स्वीकार नहीं किया। उसमें कही भी दुर्वासा-शाप की चर्चा नहीं हुई है।[1] किन्तु अभिज्ञान शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में दुर्वासा-शाप की कथा कालिदास की मौलिक देन है, क्योंकि वे जानते हैं कि गान्धर्व विवाह क्षत्रियों के लिए शास्त्र-सम्मत है तथा लोकापवाद की भावना प्रेम के आदर्श के विरूद्ध है।[2] इस प्रकार ऐतिहासिक सत्य को प्रभावशाली बनाने के लिए साहित्य में थोड़े-बहुत उलट-फेर के साथ कल्पना-मिश्रित सौन्दर्य की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। इतिहास में वर्णित जो व्यक्ति हमें प्रभावित नहीं कर पाते, वे ही जब किसी कुशल कलाकार की लेखनी द्वारा हमारे सामने प्रस्तुत किए जाते हैं तो वे मानवीय दृष्टि से स्पृहणीय हो जाते हैं। सारांश यह है कि इतिहासकार या वैज्ञानिक केवल सत्य के शरीर की रक्षा करता है और साहित्यकार आत्मा और उसके भव्य रूप की।[3]

व्यंजित और संभाव्य सत्य के भावानुप्रवेश के लिए कर्म-सौन्दर्य की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। कहे हुए वाक्य का व्यंजित या ध्वनि सत्य ही काव्य का सत्य होता है। काव्य में शाब्दिक सत्यता भले ही न हो, किन्तु व्यंजित सत्यता अवश्य रहती है। ऐसी व्यंजना साधारण कथन से भिन्न कवि - कौशल पर आधारित होती है। 'पद्मावत' मे सुमेरु पर्वत पर ठहरे हुए रत्नसेन को जब पद्मावती के दर्शन अलभ्य हो गए, तो वह निराश-निमग्न हो जाता है। ऐसी किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में गुरू स्वरूप हीरामन नामक तोते ने पद्मावती से संसर्ग कराने हेतु रत्नसेन के समक्ष जो सौगंध खाई थी, उससे हीरामन का पौरूष तो झलकता ही है; साथ ही पौरुषजन्य असीम सौन्दर्य का भी स्फुरण होता है।[4]

इसके साथ ही काव्य का संभाव्य सत्य भी होता है। जो है, उसका चित्रण तो कवि करता ही है; साथ ही जो नहीं है अथवा जो हो सकता है, उसका भी रूपांकन करता है और इस ढंग से करता है कि वे भले ही वास्तविक न हों, किन्तु वास्तविक होने का बोध अवश्य कराते हैं। रामराज्य की कल्पना ऐतिहसिक दृष्टि से भले ही अस्तित्व प्रधान न हो, किन्तु साहित्य-जगत में तुलसी ने रामराज्य की जो मंजुल आधार-भूमि तैयार की थी, उसका आश्रय लेकर महात्मा गाँधी एक आदर्श भारत का निर्माण करना चाहते थे। इस प्रकार काव्य का सत्य व्यंजित और संभाव्य दोनो होता है। दोनो के ही माध्यम से सौन्दर्य की कोपलें फूटती हैं।

---

1. सं. जयदयाल गोचन्दका: संक्षिप्त महाभारत, आदिवर्ण, पृ0 33

2. कालिदास : विचिन्तयन्ती यमनन्यमनसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
.......................................कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/1

3. डॉ0 राजकिशोर सिंह : साहित्यालोचन, पृ0 97

4. सं. रामचन्द्र शुक्ल : "दमनहु लेहुँ जो हंस मिलावा
तब हीरामन नाम कहावा।।
- जायसी ग्रन्थावली, पृ0 109

यदि साहित्य से कर्ममय सौन्दर्य को निकाल दें तो साहित्य का बहुत कुछ भाग अधूरा रह जाएगा। कर्म-सौन्दर्य से ही स्वस्थ मानवता की रचना होती है। राम, कृष्ण और गौतम ने क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए संसार के भीतर घुसकर कर्म-सौन्दर्य का आधार लेकर धर्म और मानवता की स्थापना की थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, *"हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म- सौन्दर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गए हैं। कर्म-सौन्दर्य के योग से उनके स्वरुप में इतना माधुर्य आ गया है कि हमारा हृदय आप से आप उनकी ओर खिंच जाता है।"*[1] पुनः उनके अनुसार *"कर्म-सौन्दर्य की योजना क्षात्र-जीवन में जितने रूप में संभव है, उतने रूपों में और किसी जीवन में नहीं।"*[2] किसी अनाथ या अक्षम व्यक्ति पर जब हम अकारण क्रूर अत्याचार देखतें हैं, तो हमारा हृदय करुण से भर जाता है और हमारे हाथ उसकी रक्षा के लिए कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।

सौन्दर्य किसी भी श्रेणी का हो; साहित्य को प्राणवान बनाता है। उसे प्राणवत्ता से संश्लिष्ट करने के लिए हमारे यहाँ अनुभूतिगत और अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य की काव्योचित कल्पना की गई है। *जिस कलाकृति द्वारा मन में आनंद की अनुभूति होती है, वह सौन्दर्य है। सौन्दर्य एक भावना है, जिसे हम चेतन तक लाकर सजाते हैं।*[3] भारतीय और पाश्चात्य वाङ्मय में वस्तुगत, आत्मगत या भावगत सौन्दर्य के माध्यम से जिस आन्तरिक अभिव्यंजना के विवर्धन की बात कही गई है, वह इसी का परिचायक है। जो अगम्य और अबोध्य है, उसे अनुभूय और बोधगम्य बनाना इसी सौन्दर्य का काम है। आधुनिक जीवन के विघटन की परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर आज का कवि क्षण की अनुभूति को लेकर चल रहा हैं; सौन्दर्य स्थायी वस्तु न रहकर क्षणिक अनुभूति का विषय हो गया है; किन्तु सौन्दर्य साहित्य से कभी हट नहीं सका ।

आज का कवि प्रेयसी के वदन को 'पान-फूल'से , प्यार से उद्दीप्त छवि को 'बिजली के स्टोव' से, श्वेत बागुलों को 'सफेद कौड़ियों' से और तोते की लाल चोंच को ' लाल मिर्च के खेत' से उपमित करके सौन्दर्य की नवीन व्यंजना करता है:-

(1) यह पान- फूल सा मृदुल वदन।[4]

(2) प्यार का नाम लेते ही/ बिजली के स्टोव-सी
जो एकदम सुर्ख हो जाती है।[5]

(3) एक मुट्ठी कौड़ियों से श्वेत बगुले
व्योम पर फिक्कर खिले/ फिर खो गये।[6]

(4) लाल मिर्च के खेत
लाल टुइयां की नाक काटने वाले।[7]

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग-1, श्रद्धा-भक्ति, पृ0 27

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग-1, श्रद्धा-भक्ति, पृ0 29

3. डॉ0 कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ010

4. धर्मवीर भारती : ठंडा लोहा, पृ0 25

5. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : नयी कविता, अंक-1, पृ0 60

6. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, कुँवर नारायण की कविता ('चक्रव्यूह' से) पृ0 48 पर उद्धृत।

7. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 43

इन कविताओं में पान, बिजली का स्टोव (हीटर), सफेद कौड़ी और लाल मिर्च के खेत की सामाजिक उपयोगिता निर्विवाद है। अतः हम कह सकते हैं कि आज की कविता का दृष्टिकोण सामाजोपयोगी है। ये सभी परम्परागत सौन्दर्य भावना से हटकर बदले हुए सौन्दर्य-प्रतिमान हैं। इन प्रतिमानों को साहित्य से हटा देने पर उसकी उपादेयता निष्प्रभ हो जाएगी।

साहित्य के निर्माण में जिन उपादानों द्वारा काव्य का ढाँचा तैयार होता है, वे सब काव्य के शिल्प तत्व कहे जाते हैं। शिल्प तत्व के इन उपादानों में यदि सौन्दर्य का छायांकन न हो तो शिल्प तत्व की महत्ता में प्रश्न-चिह्न तो नही, किन्तु न्यूनता का प्रत्यय अवश्य जुड़ जाएगा। सौन्दर्य काव्य की प्रमुखता का वह लेखा-जोखा है, जिसके आधार पर रचना मूर्त रूप धारण करती है। काव्यभाषा, पुराख्यान तत्व(मिथक), चमत्कार, कवि-समय, बिम्ब, प्रतीक, तुकान्त, अतुकान्त छन्द आदि ऐसे उपादान हैं, जिनके कलेवर में समाहित सौन्दर्य काव्य की महत्ता, उसकी उपलब्धि एवं उपादेयता सिद्ध करता है। आज की कविता का कठोर, किन्तु मानवीय सत्य तपे-तपाये शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। डॉ0 लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार- *"श्रद्धा, विश्वास, आस्था उसकी आत्मनिष्ठा के पूरक हैं और इसीलिए वे मात्र शब्द नहीं हैं, जिनको सुनकर रोमांच हो जाए या जो आत्मवभोर कर दें, वरन् ये शब्द उसके सौन्दर्य-बोध के साथ जीवन के क्षणों में व्याप्त होते हैं, तपी हुई संघर्षमय आग मे तपते हैं और नए रूप में प्रस्तुत होते हैं।"*[1] उदाहरण के लिए प्रचलित मौलिक उक्तियों का प्रयोग अद्यतन कवि की नवीनतम उपलब्धि मानी जा सकती है। यद्यपि प्रयोग इस दिशा में छायावादियों ने भी किया था, परन्तु उनकी दृष्टि काव्यात्मक सूक्तियों तक ही सीमित रही। अद्यतन कविता में 'लोहे के चने चबाना' जैसी उक्तियों का प्रयोग नये धरातल पर किया गया -

कठिन है लोहे का चना होना,
क्योंकि प्रमुख शब्दों के दाँत पहले ही टूट गए है।[2]

यथार्थ के साथ पलायन की निष्क्रियता नहीं, बल्कि उसकी स्वीकृति महत्वपूर्ण होती है। यही कारण है कि *"सौन्दर्य का वह ज्ञान जो उनकी केवल कोमल वाणी, कोमल पदावली और कोमल भाव-भंगिमा तक सीमित था; वह जीवन और जीवन से सम्बद्ध यथार्थ का साक्षात्कार करने को बढ़ा तो वह ठण्डे आइसबर्ग की रजताभा बनकर ही सीमित नहीं रह सका, वरन् उसे उस पसीने और श्लथ-श्रम का भी बोध हुआ जो यथार्थ के सन्दर्भ में प्रतिपल विकसित हो रहा था।"*[3] यदि इस यथार्थगत सौन्दर्य की अवहेलना कर दी जाए, या उसे जीवन की परिधि से मुक्त कर दिया जाए तो वर्तमान कविता का ढाँचा जर्जरित कंकाल मात्र रह जाएगा।

साहित्य तो प्रत्येक स्थान और रस में सुन्दर का अन्वेषण करता है। वीभत्स में भी सुन्दर और सत्य मौजूद है। असुन्दर और विरूप को मात्र उसकी असुन्दरता और विरूपता के आधार पर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि विरूपता और असुन्दरता सौन्दर्य के लिए विशेष एक महत्व और मूल्य की वस्तु है। क्रिस्टर क्रौडविल ने अपनी पुस्तक 'Studies in a dying culture' में लिखा है - "Ugliness is an aesthetic value ....All live in the same world. Now here....... beauty

---
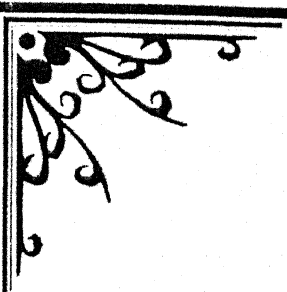
1. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 83

2. लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ0 154

3. डॉ0 लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 81

and ugliness, the noble and the pretty, the sublime and the ridiculus, all these opposite terms, when used in an aesthetic way, involve each other and must be determined by other different qualities from which they spring"[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा वर्णित श्मशान घाट का दृश्य बड़ा ही वीभत्स और विरूप है। भूत, प्रेत, श्रृंगार और श्वानों द्वारा माँस क लोथड़ों का नोंचना, चिता में हड्डियों का चटचटाना वीभत्स की पराकाष्ठा है, किन्तु यह वीभत्सता भी सुन्दरता के दायरे से बाहर नहीं है क्योंकि वह भावी आनन्द की प्रतोलिका है। कलिंग के उस लोमहर्षक और वीभत्सकारी युद्ध से सम्राट अशोक के हृदय में करुणा व ममता का दीपक प्रज्ज्वलित हो उठा था। गौतम बुद्ध को उस प्रकम्पित, असुन्दर, जर्जर व्यक्ति ने करूणार्द्र करके विश्व-मैत्री का अभिनव पाठ पढ़ाकर 'तथागत' बना दिया। आज की आपाधापी, विरूपता और विकर्षण से झुँझलाया हुआ मानव शान्ति के निर्माण में सन्नद्ध होना बेहतर समझता है। इस प्रकार असुन्दर भी सुन्दर की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

सारांश यह है कि यदि साहित्य प्रत्येक स्थान पर औचित्य का अवलम्बन लेकर 'सुन्दरम्' का अनुसंधान करता है तो 'सुन्दरम्' भी अखण्ड स्वर से उसे नई दिशा देता चलता है। अतः साहित्य में सौन्दर्य की उपादेयता चिर नूतन और चिर अव्यय के रूप में अनवरत् बनी रहेगी।

1. डॉ0 लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 97 पर उद्धृत क्रिस्टफर कॉडवेल का कथन।

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय

सौन्दर्य-बोध का क्रमिक विकास

1. भारतीय अवधारणा

   (क) वैदिक एवं औपनिषद सन्दर्भ

   (ख) पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ

   (ग) दर्शनिक सन्दर्भ

   (घ) संस्कृत-साहित्य में सौन्दर्यगत सन्दर्भ

2. भारतेतर अवधारणा
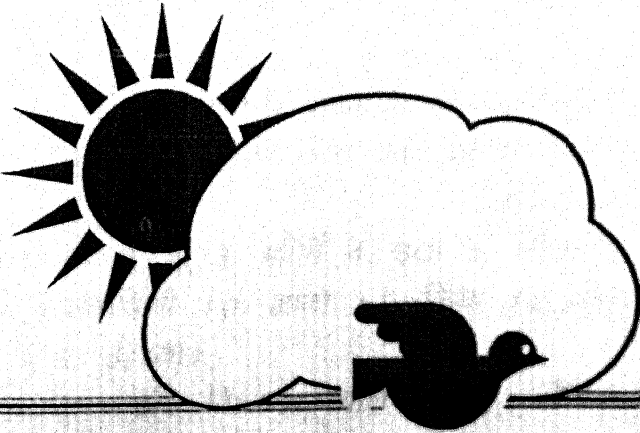
तृतीय अध्याय
सौन्दर्य-बोध का क्रमिक विकास

'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' जहाँ एक ओर हमारी भारतीय संस्कृति और धर्म का मूलाधार रहा है, वहीं दूसरी ओर साहित्य और कला का जनक भी रहा है। इन तीनों शब्दों के समन्वित रूपों में 'सुन्दरम्' को सबसे ज्यादा वरेण्य माना गया है, क्योंकि सत्य और शिव की सहज गति सौन्दर्य के मधुर अनुबन्धों पर निर्भर है। सौन्दर्य-बोध की परम्परा में 'सुन्दर' शब्द प्राचीन वाङ्मय से लेकर आज तक के साहित्य में भिन्न- भिन्न रूपों को धारण करता हुआ अविरल गति से चलता चला आ रहा है। भारतेतर काव्य-परम्परा में सौन्दर्य को 'कला' के अन्तर्गत रखा गया है, क्योंकि 'कला कला के लिए' यह सिद्धान्त वहाँ का प्रमुख काव्य-प्रयोजन है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य और कला दोनों अलग-अलग माने गए हैं। इस आधार पर सौन्दर्य-बोध के क्रमिक विकास को निम्नलिखित अवधारणाओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है-

(1) भारतीय अवधारणा

(2) भारतेतर अवधारणा

1. भारतीय अवधारणा :-

(क) वैदिक एवं औपनिषद सन्दर्भ:-

भारतीय वाङ्मय में 'सुन्दर' शब्द के लिए सुन्दर ,रूचिर, चारु, सुषमा, साधु, शोभन, कान्त, मनोरम, रूच्य, मनोज्ञ, मंजु और मंजुल जैसे शब्द पर्याय रूप में मिलते हैं।[1] वेदों और उपनिषदों में 'सौन्दर्य' शब्द का स्वतंत्र प्रयोग कहीं नहीं हुआ, किन्तु इसके वाचक और व्यंजक शब्दों का प्रसंगानुसार यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। सौन्दर्य का वाचन करने वाले काम्य, कमनीय, ललित और रमणीय जैसे शब्द सर्वाधिक रूप में उपलब्ध होते हैं। वेदों में ईश्वर को तथा उपनिषदों में संवत्सर प्रजापति को सोलह कलाओं से युक्त बतलाया गया है।[2] यह कला शब्द 'कं लाति ददातीति कला' के आधार पर सौन्दर्य का वाचक है। क्योंकि सौन्दर्य की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु का नाम ही कला हैं, किन्तु वेदों और उपनिषदों में ईश्वर की ये षोडशी[3] कलाएँ सौन्दर्य का मानसिक आधार न होकर अनंत शक्तियों के रूप

---

1. *सुन्दरं रुचिरं चारु, सुषमं साधु शोभनम्।*
   कान्तं मनोरमं रूच्यं, मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।।
   - अमरकोश, तृ.का. 52।।
2. (i) *प्रजापतिः प्रजया संरराणास्त्रीणि ज्योतीषि सचते स षोडशी।*
   - युजर्वेद 8/36
   (ii) *स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पंचदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला ततः प्रातर्जायते।*
   - वृहदारण्यकोपनिषद् 1/5/14
3. *1.श्री 2. भू 3. कीर्ति 4. इला 5. लीला 6. कान्ति 7. विद्या 8. विमला 9.उत्कर्षिणी 10. ज्ञाना 11. क्रिया 12 योगा 13. प्रह्वी 14. सत्या 15. अनुग्रहा 16. ईशाना।*
   - डॉ0 विश्वम्भरदयाल अवस्थी : वैदिक साहित्य, संस्कृति व दर्शन, पृ0 138

में व्यंजित हुई हैं।

(ख) पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ :-

ऐतिहासिक और पौराणिक काल में स्थान- स्थन पर श्रृंगारिक चित्रण होने के कारण 'सौन्दर्य' शब्द का बहुतायत रूप में प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भागवत पुराण, शिव-पुराण, विष्णु-पुराण, स्कन्द-पुराण आदि में सौन्दर्यवाची 'सौम्य' शब्द की स्थापना हो चुकी थी। शिवपुराण में पार्वती को अपने शारीरिक सौन्दर्य पर अभिमान था । वह इसी सौन्दर्य के सहारे सत्य की प्रतिमूर्ति शिव को प्राप्त करना चाहती थी, किन्तु यह कार्य उस समय तक संभव न हो सका, जब तक उन्होंने त्याग और तपस्या का सहारा नहीं लिया। प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'रामायण' में तो स्थान-स्थान पर प्रकृति का मनोमुग्धकारी सौन्दर्य चित्रित है। राम 'पम्पा-सरोवर' के सौन्दर्य को देखकर उसकी तुलना सीता के सौन्दर्य से करने लगते हैं।[1] वाल्मीकि रामायण में एक भाग का नाम ही 'सुन्दरकाण्ड' है। 'महाभारत' में सत्य और हित शब्द का प्रयोग हुआ है और वह 'हित' शब्द सुन्दर का समानार्थक बनकर आया है।[2] इसी प्रकार महाभारत के हृदय 'गीता' में 'सत्यं-प्रियं-हितम्' जैसे सारगर्भ त्रिक् सूत्र का प्रयोग हुआ है, जिसमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि ऐसे वाक्य बोलना चाहिए, जो दूसरों के चित्त में उद्वेग न उत्पन्न कर सकें, जो सत्य, प्रिय, हितकर एवं वेद-शास्त्र के अनुकूल हों; यही वाणी का तप कहलाता है।[3] यहाँ सौन्दर्य शब्द का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु ' प्रिय' शब्द उसी 'सुन्दर' का वाचक एवं व्यंजक है।

(ग) दार्शनिक सन्दर्भ :-

दार्शनिक सन्दर्भ में त्रिक् के स्थूल पर्यायों की खूब चर्चा हुई है। 'सुन्दरम्' शब्द को अलग से परीक्षण करने का प्रयास नहीं हुआ है। इस त्रिक् समाहार के अन्तर्गत सुन्दर को कभी 'प्रिय' के पर्याय के रूप में, तो कहीं 'क्रिया' और 'आनंद' के गैरपर्याय के रूप में देखने का प्रयास किया गया है। भारतीय अवधारणा में षड्दर्शनों के अन्तर्गत -न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त (उत्तर मीमांसा) - को आस्तिकता की कोटि में रखा गया है तथा पश्चात् में आस्तिकता के विरोध में छः नास्तिक दर्शन- चार्वाक्, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार(विज्ञानवाद) तथा शून्यवाद (माध्यमिक) - हमारे सामने आए। प्रारंभ में यद्यपि ये तीन थे- चार्वाक्, जैन और वैभाषिक, किन्तु उनकी संख्या इसलिए छः कर दी गई कि आस्तिक दर्शनों की भाँति नास्तिक दर्शनों को भी षड्दर्शन का नाम देना था। यह नामाकरण 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रचयिता माधवाचार्य ने किया है।[4] हमारे यहाँ प्रधानता आस्तिक दर्शन की रही है, जिनमें न्यायदर्शन (गौतम) प्रमाणों की, वैशेषिक(कणाद) वस्तुओं के विशेष की, सांख्य (कपिल) चेतन-अचेतन के भेद व विकास

---

1. पद्मकोशपलाशानि द्रष्टुं दृष्टिर्हि मन्यते।
   सीतायाः नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण।।
   - श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्, किष्किन्धाकाण्डम्, 1/71
2. यद् भूत हितमृत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम्।
   - शान्ति पर्म, 326 - 13
3. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
   स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाड्.मयं तप उच्यते।। - गीता - 17/15
4. सं0 धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य-कोश; भाग-1 पृ0 688

की, योगदर्शन (पतंजलि) साधना की, मीमांसा(जैमिनी) कर्म और वेदान्त(वादरायन), ब्रह्म और आत्मा की विवेचना करता है। इन सब में वेदान्त दर्शन को षड्दर्शन का चूणामणि माना जाता है और सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य पर इसी का प्रभाव है। इसमें सत्, चित् और आनंद के आधार पर ब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' की संज्ञा दी गई है तथा आत्मा को इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन विशेषताओं से जोड़ने का प्रयास किया गया है

वात्स्यायन के न्यायभाष्य में वाणी के भूषणभूत 'सत्यं हितं प्रियम्' का उल्लेख है।[1] योगवशिष्ठ में भी अनुभव को पाँच अंशों- अस्ति (है), भाति(प्रकाशित होता है) प्रिय, नाम, रूप- में विश्लिष्टकर प्रथम तीन को ब्रह्मा का और शेष दो को जगत् का रुप प्रख्यायित किया गया है।[2]

मनुस्मृति में सत्य और प्रिय की चर्चा एक साथ हुई है। मनु का कथन है कि सत्य बोले, प्रिय सत्य ही बोलें; अप्रिय सत्य न बोलें, किन्तु प्रिय असत्य तो बोलें ही नहीं।[3] इस प्रकार दर्शन के अन्तर्गत कही द्विक् और कहीं त्रिक् पर्यायों का प्रभाव लक्षित होता है।

(घ) संस्कृत साहित्य में सौन्दर्यगत सन्दर्भ :-

संस्कृत-साहित्य में सौन्दर्य-बोध की परम्परा ई0 पू0 प्रथम शताब्दी में महाकवि कालिदास के समय से ही प्रारम्भ हो गई थी। सौन्दर्य की यह अपरूपता नाना विधाओं - महाकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पूकाव्य, नाटक, गद्य-साहित्य, कथा-साहित्य - आदि सभी में देखने को मिलती है। कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में शकुन्तला को अप्रतिम सुन्दरी माना है, अतएव दुष्यन्त राजा भी उस पर मुग्ध हैं। उसका शरीर प्रकृति के समान मनोहर है। वह वल्कल वस्त्र धारण करके भी अत्यधिक सुन्दर लग रही है।[4] महाकवि माघ ने सौन्दर्य के क्षेत्र में रमणीयता को सर्वाधिक महत्व दिया है। रमणीयता से उनका तात्पर्य ऐसे चमत्कार से है, जो काव्य-पाठ के समय हमारे हृदय में विशेषों के पुनः पुनः अनुसंधान की भावना जगाता है। सौन्दर्य की यह अनुभूति बड़ी चमत्कारक एवं आनंददायिनी होती है।[5] श्रीमद्रूप गोस्वामी के विचार से' भवत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्' अर्थात अंग-सौष्ठव से सौन्दर्य की सृष्टि होती है।[6] 7वीं शताब्दी के संस्कृत कवि भारवि ने सुन्दर के लिए मनोहर शब्द का प्रयोग किया है तथा 'हित' एवं 'मनोहर' दोनों के योग को अत्यन्त दुर्लभ बताया है। निःसन्देह साहित्य इस दुर्लभ को सुलभ

---

1. वात्स्यायन : न्यायभाष्य - 1:1:2
2. सं0 धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी-साहित्य-कोश, भाग-1 पृ0 719
3. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यम्प्रियम्।
   प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः ।।
   - मनुस्मृति, 4 : 138
4. इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
   किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। - अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/20
5. क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।
   - शिशुपालवधम्, 4/47
6. श्रीमद् रूपगोस्वामी : उज्ज्वल नीलमणि : उद्दीपन प्रकरण, 19

बनाने के लिए सौन्दर्य का सहारा लेता है।[1] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत - साहित्य में सौन्दर्य-चेतना, सौन्दर्यानुभूति एवं सौन्दर्यमूलक समाजदर्शन सभी के यथास्थान चित्रण हुए हैं। यहाँ पर सौन्दर्य को कभी वस्तुनिष्ठ तो कभी व्यक्तिनिष्ठ माना गया है; कहीं-कहीं उसे नैतिकता, उपयोगिता एवं मंगल से भी जोड़ने का प्रयास किया गया है। सौन्दर्य का यह चिन्तन अन्य कवियों- अश्वघोष, भट्टि, मंखक, कल्हण, विल्हण, क्षेमेन्द्र, श्रीहर्ष आदि प्राचीन और मध्यकालीन कवियों में तो मिलता ही है, साथ ही अर्वाचीन कवियों- राजकवि, भूरामल ब्रह्मचारी, पं० रघुनाथ शास्त्री, हरीदत्त शास्त्री, पं० बालकृष्ण झा, नीलकंठ कवि, चक्रकवि, धर्मराज, युवराज कवि, दिलीपदत्त शर्मा, अखिलानंद शर्मा, मथुराप्रसाद शास्त्री, रेवाप्रसाद द्विवेदी, ब्रह्मानन्द शुक्ल, कविवर दामोदर आदि कवियों में भी इसकी आधारभूत व्यंजना हुई है।

(ङ) काव्यशास्त्रीय सन्दर्भ :-

काव्यशास्त्र में सौन्दर्य के स्वरूप और लक्षण पर अलग से तो विचार नहीं हुआ, किन्तु उसकी स्थापना और उद्देश्य का मौलिक आधार निरन्तर सौन्दर्य ही रहा है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में जिस 'शिवेतरक्षतये'[2] की स्थापना की थी, उसके मूल में पहले भी और आज भी सौन्दर्य की भावना काम कर रही है। साहित्य में जितने भी रस कहे गए हैं, उन सब का मूल आनन्द को दर्शाना है; किन्तु सच्चा आनंद सुन्दर और सत्य में मिलता है। ऐश्वर्य या भोग के आनंद में ग्लानि छिपी होती है, उससे अरूचि भी हो सकती है; पश्चाताप भी हो सकता है, पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है; वह अखण्ड है, अमर है।[3]

काव्य की आत्मा को लेकर अनेक मत और वाद प्रचलित हुए, जो काव्यशास्त्र के सम्प्रदाय कहलाए। किसी ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना, किसी ने रीति को, किसी ने ध्वनि को और किसी ने रस को। इस प्रकार वह अभिन्न काव्य भिन्न-भिन्न आचार्यो के दृष्टिभेद से नाना रूपों में भासित होने लगा, किन्तु वे जिस आत्मा तक पहुँचना चाहते हैं; वह 'आनन्द' या ' ब्रह्मानन्द' का ही प्रतीक है, जिसकी सत्ता 'सुन्दर' से हटकर हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि पंडितराज जगन्नाथ वे पहले भारतीय हैं, जिन्होने रस, रीति, ध्वनि, आदि समुदायों से ऊपर उठकर उसे काव्य का मूलाधार सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनकी यह 'रमणीयता' सौन्दर्य का ही पर्याय जान पड़ती है। उनका कथन है कि ऐसे भी काव्य होतें हैं, जहाँ रस तो नहीं होता तथापि वे अच्छे लगतें हैं। उनके शब्दों में *'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।*[4]

काव्यगत सौन्दर्य-बोध के विश्लेषण में रागतत्व, बुद्धितत्व, कल्पना तत्व और शैली तत्व का विशिष्ट स्थान है। रागात्मकता ही कवि में 'संवेदनशीलता की वृद्धि करती है। यह राग तत्व ही बुद्धितत्व का साथ पाकर अपनी अभिव्यक्ति को रमणीय और आकर्षक बनाता है। सुन्दर कलाकृति के निर्माण के लिए कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित है। यह कल्पना रागतत्व से जुड़ी रहती है। यदि यह कल्पना रागात्मकता से

1. *हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।*
   - किरातार्जुनीयम्, 1/4
2. *मम्मट : काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, कारिका सं० 2*
3. *सं० दुर्गा प्रसाद श्रीवास्तव : निबन्धालोक, प्रेमचंद कृत 'जीवन में साहित्य का स्थान' निबन्ध से, पृ० 62*
4. *पंडितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, काव्यमाला-सिरीज पृष्ठ - 4*

रहित है तो वह ऐन्द्रियजालिक शक्ति से शून्य होती है। इससे कविता अपने रमणीय तत्व से वंचित रह जाती है।[1] कवि को अपने उपर्युक्त तीन अतरंग तत्वों को अभिव्यंजित करने के लिए काव्य के बहिरंग शैली तत्व की आवश्यकता होती है। इसी तत्व के माध्यम से वह अपने वर्ण्य विषय-वस्तु को सुन्दर ढंग से व्यंजित करता है। इस प्रकार सौन्दर्य-बोध की विवेचना और विश्लेषण के लिए उपर्युक्त चारों तत्व आधार-सूत्र माने जाते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उदात्त तत्व को सौन्दर्य की सर्वोत्कृष्ट अवस्था माना गया है। यह सौन्दर्य की गरिमा का एक अविच्छिन्न अंग है, सौन्दर्य का उन्नत सोपान है; वही वास्तव में आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है।[2] उदात्त के प्राचीन चितंक लोनजाइनस ने उदात्त तत्व का स्वरूप-विश्लेषण अपने 'पेरीइप्सुस' निबन्ध में किया है। उन्होंने इसमें उदात्त के अन्तरंग एवं बहिरंग तथा उसके विरोधी तत्वों की विशद् चर्चा की है।

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-आत्मा, रस निष्पत्ति, साधारणीकरण आदि तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में विभिन्न समीक्षकों, सौन्दर्यशास्त्रियों एवं दार्शनिकों के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर जो विशद् व व्यापक चर्चा हुई है, उन सब में सौन्दर्य-बोध की इसी विराट्ता एवं उसकी अनंतता को खोजने का प्रयास किया गया है।

2. भारतेतर अवधारणा :-

पाश्चात्य देशों के कवि और मनीषी सौन्दर्य-शास्त्र के प्रति प्रारंभ से ही सचेष्ट रहें हैं; परिणामतः उनके यहाँ सौन्दर्य की व्यवस्थित परम्परा क्रमबद्ध रूप में दिखाई पड़ती है। सौन्दर्य को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने का बहुआयामी मानक इनके यहाँ भी बराबर रहा । कोई इसका उद्गम स्रोत सुव्यवस्था, औचित्य और संगति से मानता है तो कोई मसृणता, कोमलता, और वर्ण-प्रदीप्ति से । कोई सुन्दर को वस्तुनिष्ठ मानता हैं तो कोई व्यक्तिनिष्ठ।

यूनान के सुकरात, प्लेटो और अरस्तू[3] आदि सौन्दर्य चिन्तकों ने सौन्दर्य को परम और पूर्ण माना, उसे अकांक्षा और वासना से परे बताया तथा यह स्वीकार किया कि उसमें एक 'आर्डर' या 'सिमेट्री' विद्यमान रहती है। रोम के प्लूटार्क और प्लाटिनस ने सौन्दर्य का अनुबन्ध कलात्मक, कुशलता, रूपविधान, और सहजानुभूति से जोड़ा और एक स्वर में यह माना कि सौन्दर्य पूर्णतः भावगत है, अल्पांश में भी वस्तुगत नहीं। भारतेतर अवधारणा के अन्तर्गत जर्मनी के काण्ट[4] ने सौन्दर्य का उद्देश्य 'नैतिक शिवत्व

---

1. *डॉ0 सी0 तुलसम्मा : महादेवी की कविता में सौन्दर्य भावना, पृ0 14*
2. **Sublimity is, so to say the image of greatness soul.**

   - Bernard Bosamquet : History of Aesthetic, p. 105

3. **Beauty consists in proper order and size. The essential characters composing beauty are order, symmetry and definiteness.**

   - E.F. Carritt : Philosophies of Beauty, P. 32; 36

4. **According to Kant aesthetic pleasure is a disinterested pleasure and that the beautiful is not the good or the true or the useful but is a spiritual experience and that beauty is both individual and universal.**

   - K.S. Ramaswamy Sastri : The Indian Concept of the Beautiful, p. 15

का स्थापन' हीगल[1] ने 'आदर्शवाद का उन्नयन' तथा बाउगातेन[2] ने 'प्रकृति का संवर्धन बताकर 'सौन्दर्य-मनीषा' का जो साकार मूलक विवेचन प्रस्तुत किया है, वह भाव-सापेक्ष है।

सौन्दर्य में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रारम्भ करने का श्रेय इंग्लैण्ड के सौन्दर्यशास्त्रियों को है। ये मूलतः दो निकायो में बँटे हुए हैं - 'आइडियालिस्ट' और 'फार्मेलिस्ट'। प्रथम निकाय के विचारक सौन्दर्य को विश्लेषण से परे मानते हैं, क्योंकि सौन्दर्य का विश्लेषण नहीं हो सकता है, चूंकि वह वस्तु का एक अखण्ड गुण हैं। किन्तु, फार्मेलिस्ट विचारकों का कथन है कि सौन्दर्य का विश्लेषण हो सकता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तु विशेष के आकृति-विधान से हैं।[3] यही कारण है कि शेफ्ट्सबरी, रस्किन और टामस रोड जैसे आइडियालिस्ट विचारकों ने सौन्दर्य को 'परम विभु' व 'आध्यात्मिक चैतन्य' की संज्ञा दी है, जबकि एडीसन, बर्क, बैन और एलसन जैसे फार्मेलिस्ट विचारकों की मनोविनोदी दृष्टि केवल वस्तु विशेष की चारुता और आंगिक कोमलता तक ही सीमित रह गई है। सारांश यह है कि भारतीय अवधारणा के अन्तर्गत प्राच्य विद्वानों की तरह पाश्चात्य विद्वानों के यहाँ भी 'प्रयत्न' और 'उपभोग पक्ष' को लेकर चलने वाले काव्य लिखे गए। प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में योरोपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इस्लाम इत्यादि प्रबन्ध काव्य एवं पुराने बैलड्स (Ballads) तथा उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में अंग्रेजी की लिरिक कविताएँ एवं कई प्रकार की वर्णनात्मक कविताएँ प्रमुख हैं।

अंग्रेजी-साहित्य में चासर युग से नव्यशास्त्रवाद(सन् 1340-1798 तक) युग तक के सभी कवि थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ परम्परागत नियमों में बँधकर शास्त्रीय नियमों का अनुपालन करते हुए ईश्वरीय मंगलकर्ता और नैतिकता में ही सौन्दर्य की सत्ता मानते रहे और 'कला जीवन के लिए' इस काव्य-प्रयोजन के प्रबल समर्थक बने रहे। किन्तु धीरे-धीरे जब यह सिद्धान्त अपनी उपयोगिता और नैतिकता को लेकर 19वीं शताब्दी के प्रथम दशक में साहित्य-जगत् में बड़े पैमाने के साथ उतरा, तो कलावादी समीक्षक इसकी 'प्रगति उडान' को सहन न कर सके और 19वीं शताब्दी के दूसरे दशक में ही इसके विपर्यय में विरोध का झंडा खड़ा कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप यूरोप में एक नयी साहित्य धारा-'स्वच्छन्दतावाद' (Romanticism) का अभ्युदय हुआ। 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक कविता पूर्णतः स्वच्छन्द घोषित कर दी गई। स्वच्छन्दतावादी कवियों में इंग्लैण्ड के आस्कर वाइल्ड, वर्ड्सवर्थ, जॉन

---

1. **According to Hegel God manifests himself in nature and in art in the form of beauty. God expresses himself in two ways; in the object and in the subject-in nature and in spirit. beauty is the shining of the Idea through matter.**

   - Tolstoy : What is Art ? , p. 99, 100

2. **According to Baumgarten the object of logical knowledge is Truth, the object of aesthetic knowledge is Beauty. Beauty is the perfact (The Absolute) recognized through the senses.**

   - Tolstoy : What is Art ? , Translated by Aylmer Maude,p.92

3. *डॉ0 कुमार विमल : सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व, पृ0 92*

कीट्स,जॉनसन तथा जर्मन के काण्ट, शेलिंग, गोये तथा शीलर आदि कवि उभर कर सामने आए। विद्रोह की प्रवृत्ति, जगत से पलायन, वैयक्तिकता, प्रकृति-प्रियता व संगीतात्मकता रोमाण्टिक युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ रही हैं किन्तु सौन्दर्यानुभूति (Aesthetic Experience) और प्रेम-भावना पर उनकी समवेत दृष्टि एक बारगी जाकर टिक गई थी।

वर्ड्सवर्थ और जॉन कीट्स के सम्पूर्ण काव्य में सौन्दर्य-चेतना, उसका सौन्दर्यानुराग अपनी चरम सीमा पर दिखाई देता है। इन कवियों की सौन्दर्य-भावना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने समाज के शोषित और उपेक्षित वर्ग में सौन्दर्यानुभूति की सृष्टि की तथा भिखारियों, चरवाहों, घुमक्कड़ों, निर्धन देहातियों और कुटीरवासियों को अपने काव्य का विषय बनाया। यहीं पर शेली एक ऐसे कवि हैं, जिनमें प्लेटो का प्रभाव है। वे अतीन्द्रिय और शाश्वत सौन्दर्य का चित्रण तो करते हैं, किन्तु इस अतीन्द्रिय सौन्दर्य को किसी मानवी प्रतिमा या नारी में देखना चाहते हैं, जो उनके स्वभाव की दुर्बलता है।[1] जब यह आदर्श सौन्दर्य उस नारी में नहीं दिखाई पड़ता, तो कवि निराश होकर अवसाद का अनुभव करता है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि रोमाण्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) ने काव्य को जर्जर कारा से निकालकर प्रकृति के स्वच्छ स्वरूप को अपनाया, लेकिन यह स्वयं में इतना संकुचित हो गया और दुख, व्यक्तिपरक कष्ट आदि के कारण इतन एकांगी हो गया कि इसमें से उदात्तता पूर्णरूपेण चली गई। काव्य वैयक्तिक भावनाओं का प्रस्फुटन मात्र होकर रह गया- यही इसका न्यूनता है।[2]

1832 ई0 के आस-पास रोमाण्टिक-युग की इतिवृत हो जाती है। सन् 1837 ई0 से लेकर 1887 तक रानी विक्टोरिया का युग अनवरत् चलता रहा। लार्ड एनीसन, राबर्ट ब्राउनिंग तथा मैथ्यू आर्नोल्ड इस युग के प्रसिद्ध स्वच्छदन्तावादी कवि हैं। लार्ड टेनीसन तथा मैथ्यू आर्नोल्ड दोनों ही पाश्चात्य साहित्य में 'शोक गीतकार' के रूप में प्रसिद्ध हैं। लार्ड ब्राउनिंग की कविताएँ आस्तिकता के धरातल को स्पर्श करती हुई ससीम से असीम की ओर असरार गति से बढ़ती गई; जिससे उनकी कविता का सौन्दर्य एक बार पुनः प्राक्तन् सौन्दर्य से जुड़ गया।

20वीं शताब्दी की कविता अपने पूर्ववर्ती सभी कालों से भिन्न व इहलौकिक है। इस शताब्दी के कवियों ने समसामयिक परिदृश्य को सामने रखते हुए अपनी काव्य-सर्जना की है। रुडयार्ड किपलिंग (1865-1936) नें वन्य-जीवों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए 'जगंल बुक' नामक पुस्तक लिखी, जिसका प्रसारण यदा-कदा दूरदर्शन में भी होता रहता है। 20 शताब्दी के कवियों में अतीत के प्रति मोह तो है, किन्तु उसकी चेतना को समसामयिक धरातल पर निरन्तर विकासोन्मुखी बनाए रखना चाहते हैं। इस युग के कवियों ने 'स्वच्छन्दतावाद' को नकार दिया। टी0एस0 इलियट (1888-1965) जैसे कवि, समीक्षक एवं नाटककार ने 'स्वच्छन्दतावाद' पर रोक लगाने के लिए निर्वैयक्तिक सिद्धान्त' (व्यक्ति-निरपेक्ष-सिद्धान्त) की स्थापना की और कहा, "कविता का भाव स्वच्छन्द प्रवाह नहीं, व्यक्तिगत मनोभावों का पलायन है, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, इससे मुक्ति का नाम है।"[3]

20 वीं शताब्दी के कवियो ने' सौन्दर्य' को वस्तुनिष्ठ माना। उनके अनुसार-" साहित्य अमूर्त

1. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 35
2. डॉ0 कृष्णदेव शर्मा : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 316
3. डॉ0 कृष्णदेव शर्मा : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 269

भावनाओं का मूर्त रूप है।" वह अपनी भावनाओं को प्रकट करने के लिए वस्तुमूलक चिह्नों की सहायता लेता है, ताकि उसकी अमूर्त भावनाएँ मूर्त रूप धारण कर सकें। टी0एस0 इलियट ने तो सौन्दर्य के इस स्वर को मुखर करने के लिए 'वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त' भी बनाया है।

20वीं शताब्दी के अन्य प्रमुख अंग्रेजी कवियों में - थामस हार्डी(1840-1928), राबर्ट ब्रिज (1844-1930) जॉन मेसफील्ड (1878-1967), डब्ल्यू एच0 डैवीस(1871-1940) तथा भारतीय कवियों में रबीन्द्रनाथ टैगोर(1861-1941), तोरुदत्त(1856-1877) तथा सरोजिनी नाइडू (1879-1949) प्रमुख हैं।

निष्कर्ष स्वरूप पाश्चात्य विचारकों ने सौन्दर्य के प्रति जो मान्यता प्रतिपादित की है, उससे सौन्दर्य के तीन रूप निखर कर सामने आते हैं- वस्तुवादी, आत्मवादी, और भाववादी।

वस्तुवादी विचारकों में हर्बर्ट, अरस्तू ,सिसिरो, विलियम होमार्थ, एडमण्ड बर्क, अलेक्जेण्डर का नाम प्रमुख है। ये विचारक सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य चेतना नहीं, पदार्थ है। आधुनिक युग में रूपवादी चेतना का आधार यही चिन्तन है। अलेक्जेण्डर का कथन है कि सुन्दर वस्तु का सौन्दर्य उसके अंगो के समन्वय में है।[1]

आत्मवादी सौन्दर्य-चिन्तकों में प्लेटो, प्लेटनिस, हीगेल, आदि का नाम प्रमुख है। इनके अनुसार 'सौन्दर्य दिव्य-चेतना की गोचर अभिव्यक्ति अथवा ऐन्द्रिय प्रतीति है। बाह्य पदार्थों का गोचर सामंजस्य आन्तरिक सामंजस्य का प्रतिबिम्ब मात्र है।' क्रोचे का मत है कि सौन्दर्य की बाह्य सत्ता नहीं होती। सौन्दर्य-भावना ही सौन्दर्य या सुन्दर होती है।[2]

भाववादी सौन्दर्य-चिन्तन में सौन्दर्य का सम्बन्ध संवेग, भावना, इच्छा आदि से है। सौन्दर्य चेतना इन्द्रियातीत न होकर ऐन्द्रिय मानसिक है। इसके आधार पर रिचर्ड्स ने सौन्दर्य-मूल्य की कल्पना की है। उनका कहना है कि जो कृति परस्पर भिन्न अन्तर्वृतियों का अत्यधिक परितोष करने में सक्षम है, वह सौन्दर्यात्मक मूल्य से उत्कृष्ट होगी। अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य ही सौन्दर्य का मूल्य है।[3] भाववादी सौन्दर्य-चिन्तकों में फैखनर, जॉनलॉक, एडिसन आदि का नाम प्रमुखता के साथ लिया जाता है।

---

1. **The beauty of beautiful object lies in the congruence or coherence of its parts.**
   - E.F. Carritt - Philosophies of beauty. P. 271
2. **The beautiful is not physical fact, it does not belong to things but to the activity of man, to spiritual energy.**
   - Aesthetic, By Croce Benadetto,Trans.Ny Austeic Duglas, P.159.
3. *रामलखन शुक्ल : भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का तात्त्विक विवेचन एवं ललित कलाएँ, पृ0 52*
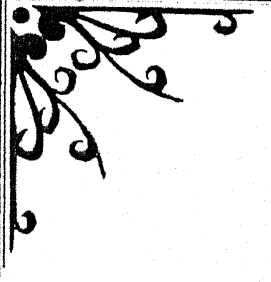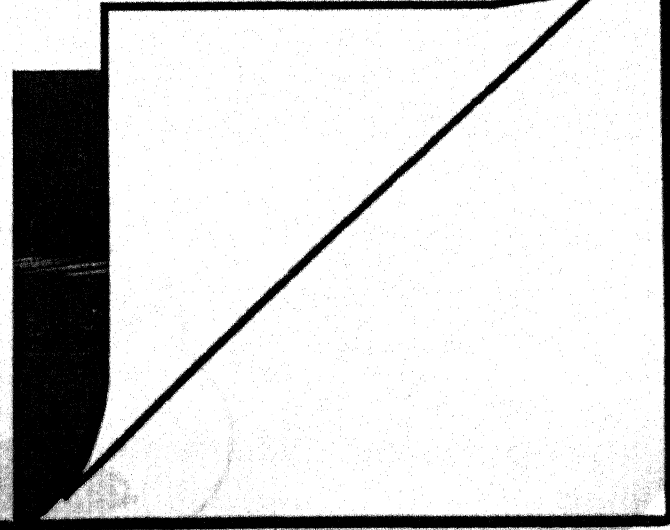
चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य-बोध की परम्परा

1. आदिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध
2. भक्तिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध
3. रीतिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध
4. आधुनिक काल में सौन्दर्य-बोध

   (क) भारतेन्दु-युग

   (ख) द्विवेदी-युग

   (ग) छायावाद-युग
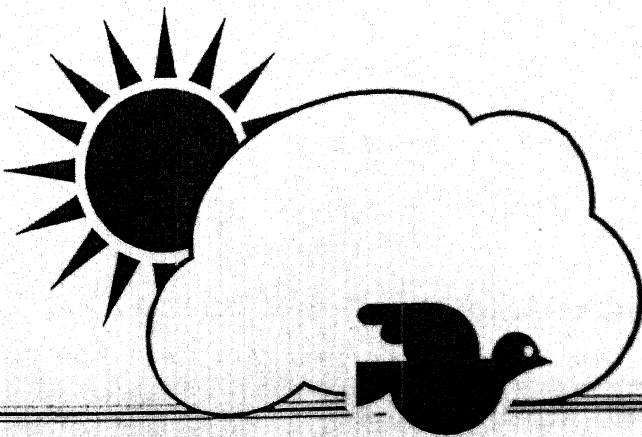
चतुर्थ अध्याय

हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य-बोध की परम्परा

यद्यपि हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य-बोध की परम्परा वीरगाथाओं के रूप में लिखित रासो-काव्य तथा मैथिलि में लिखित विद्यापति की पदावली से प्रारम्भ होती है, किन्तु इसकी पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि भी कम प्रासंगिक नहीं है। महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु और बंगाल के पालवंश की समाप्ति के बाद बौद्धधर्म को राजाश्रय नहीं मिल सका। इसी समय 8वीं शताब्दी में आदिगुरु शंकराचार्य का आगमन हुआ, जिनकी वैदिक प्रतिभा के समाने बौद्ध-पंडित टिक नहीं सके। परिणामतः उनका दार्शनिक पक्ष कमजोर होता चला गया; जनता का विश्वास बौद्धधर्म से उठ गया। अब पालि भाषा का स्थान अपभ्रंश ने ले लिया, किन्तु यह भाषा पालि की तरह राजसभाओं में पुष्पित और पल्लवित होती रही और सौन्दर्य-बोध का अच्छा नमूना प्रस्तुत न कर सकी।

(1) आदिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध :-

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य, रासो-काव्य तथा लौकिक साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया। महात्मा बुद्ध के निर्वाण (483 ई० पू०) के बाद ही बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो सम्प्रदायों में बँट गया था। हीनयान मूल बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का पालन करता रहा, किन्तु महायान ज्ञानार्जन से दूर हटकर मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि तंत्र-मंत्र का सहारा लेकर जन-साधारण के बीच उतर पड़ा। 6वीं शताब्दी तक आते-आते यह वज्रयन और सहजयान नामक दो उपविभागों में बँट गया। सिद्धों का सम्बन्ध इन्हीं दोनों विकृत सम्प्रदायों से था। इस विकृति का परिणाम यह हुआ कि सरहपा, कण्हपा, भूसुकुपा, शबरपा, लुइया आदि सभी सिद्ध 'दोहाकोश' और 'चर्यापद' जैसे छन्दों के माध्यम से 'वामाचार' और 'सहवास सुख' को प्रधानता देने लगे। धीरे-धीरे मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा और मैथुन अर्थात् पंचमकार का अबाध सेवन इनकी साधना का अभिन्न अंग बन गया।[1] परिणामतः सौन्दर्य-बोध विकृत हो गया। आगे चलकर मुसलमानों के आक्रमण से वज्रयानी सिद्धों के आश्रय-स्थल नालन्दा एवं विक्रमशिला ध्वस्त हो गए। ये सिद्ध अपनी प्राणरक्षा हेतु नेपाल की तराई में जा छिपे, जहाँ शैव-साधकों से इनका सम्पर्क हुआ। इस प्रकार वज्रयानी सिद्ध एवं शैव साधकों के मेल को ही 'नाथपंथ' कहा जाता है। इस पंथ के मुखिया गुरु गोरखनाथ हैं, जिन्होंने अपनी विभिन्न रचनाओं द्वारा साधना, कायायोग, और संयत आचरण की अलख जगाई। इसके अतिरिक्त जालन्धर नाथ, चौरंगीनाथ, चर्पटनाथ, गोपीचन्द एवं भरथरी आदि ने अपनी स्फुट रचनाओं के माध्यम से सिद्धों के कुत्सित, अश्लील और वामाचार मार्ग का विरोध कर मानव-जीवन के चारित्रिक अभ्युत्थान में योग दिया। उन्होंने ज्ञान की अलख जगाने के लिए जो पद्धति अपनाई, वह भक्तिकाल के सन्तों को विरासत में मिली। किन्तु मनः साधना पर अधिक जोर देने के कारण वे अपने तक सीमित रह गए, समाज को कोई बहुआयामी नई दिशा न दे सके। अतः सौन्दर्य-बोध का कोई स्पष्ट आकार-प्रकार इनके काव्य में नहीं दिखाई देता ।

जैन-साहित्य में 'सौन्दर्य बोध' के अनेक रूप दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम जैन कवि स्वयंभूदेव ने

1. डॉ० मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ० 52

अपने 'पउम चरिउ' (पद्म चरित) में वीर, श्रृंगार, करुण एवं शान्त रस की विमल धाराएँ काव्य-सागर में प्रवाहित की। चरित, फागु,रास, चर्चरी आदि विभिन्न शैलियों का उन्होंने भरपूर प्रयोग किया है, किन्तु काव्य में सौन्दर्य-सृष्टि के लिए उन्होंने अपने सर्वाधिक प्रिय रूप,'रास' का ही सहारा लिया है।

जैन-कवियों की यह धार्मिक रास-परंपरा आगे चल कर 'रासो' के रूप में परिवर्तित होकर 'वीरगाथा' के रूप में जानी गई। इस समय राजनीतिक क्षेत्रीयता को लेकर हिन्दू-राजाओं में आपसी अनबन थी, क्षेत्रीय विघटन था, एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए तेगा और तलवार ही आलम्बन थे। परिणाम यह हुआ कि श्रृंगार-काव्य और वीर-रस मुखपृष्ठ पर रहे तथा अन्य सभी रस हाशिए में चले गए। वस्तुगत-सौन्दर्य या रूपगत-सौन्दर्य के प्रतिपादन में भाट और चारण जैसे चिन्तकों का भौतिकवादी दृष्टिकोण साफ-साफ लक्षित होने लगा। यद्यपि वस्तुगत-सौन्दर्य चित्रण के लिए राज्याश्रित कवियों ने नगरों, पनघटों, स्नानागारों, विवहोत्सवों तथा युद्ध एवं व्यूह-रचना पर अपनी कलम चलाई है, किन्तु उनका चंचल मन अधिक देर यहाँ स्थिर न रह सका। सत्य तो यह है कि उनकी दृष्टि मुख , नेत्र, कपोल, दशन, अध ार, मन्दहास, केशालंकरण, पद्मराग आदि उपमेयों के लिए इन्द्रधनुष, पिक, चातक, चकोर, शुक, शलभ,वक, मयूर, पीतवर्ण, षड्ऋतु आदि परम्परागत उपमानों पर जाकर टिक गई है।[1]

लौकिक साहित्य के अन्तर्गत 14 वीं शताब्दी के आस-पास मैथिलि-कोकिल विद्यापति ने राजवंश परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कीर्तिलता ओर कीर्तिपताका लिखी। दरबारी काव्य-परंपरा में उन्होंने नागरिक सौन्दर्य-भावना का राजीव निरुपण किया है, साथ ही नागरिक हावभावों, चेष्टओं और विलास-लीलाओं का बड़ा रंगीन चित्र प्रस्तुत किया है; किन्तु रासो-काव्य-परम्परा में दाम्पत्य-रति का जो सामंतीय रंग चढ़ गया था, विद्यापति की गीत-पयस्विनी ने उसे धो दिया। उनके काव्य में दाम्पत्य-रति अपने सहज और अकृत्रिक रूप में अभिव्यक्त हुई है।[2] उन्होंने देशी भाषा मैथिलि में लिखी गई पदावली के माध्यम से श्रृंगार के विशद् चित्र खीचें हैं; लेकिन आलम्बन का अंग-प्रत्यंग निरावृत करके नहीं देखा है। इनकी नायिका राधा स्वकीया है, अतः श्रृंगारी चित्र यदा-कदा अश्लील हो गए हैं; किन्तु अस्वस्थ नहीं हो पाए हैं। मूलतः वे श्रृंगारी हैं, किन्तु अश्लीलता के अपराधी नहीं। एक उदाहरण देखिए, जिसमें उन्होंने सौन्दर्य का आधा भाग दिखाकर पाठक के हृदय में एक असीम अतृप्त लालसा जगा दी है और वह पाटक आलम्बन के पूर्ण सौन्दर्य के अवलोकनार्थ बेचैन हो जाता है। जब आलम्बन की आधी या थोड़ी छवि आश्रय के सामने आती है, तो उसके चक्षुओं की प्यास बढ़ जाती है।[3]

(2) भक्ति कालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध :-

हिन्दी-साहित्य में 'स्वर्णकाल' की संज्ञा से विभूषित किए जाने वाले 'भक्ति-काल में सौन्दर्य और सौन्दर्य-बोध के जितने भी स्वरूप हो सकते हैं, उन सब का चित्रण और निरूपण भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। श्रद्धा और प्रेम में यदि प्रेम को प्रथम कोटि में रखें, तो इसे

---

1. कुट्टिल केस सुदेश, पौहप रचियत पिक्क सद।
कमल-गंध, वयसन्ध, हंसगति चलत मंद मंद।।
- चंदवरदायी : पृथ्वीराजरासो, पद्मावती समय, छंद सं0 12

2. डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 94

3. आधे आँचर वदन खसि आधहिं नयन तरंग।
आधे उरज हेरि आध आँचर भरि तब धरि दगध अनंग। - विद्यापति : पदावली

'सौन्दर्य-काल' और यदि श्रद्धा को प्रथम कोटि में रखें तो इसे 'उदात्त सौन्दर्य-काल' की भी संज्ञा दी जा सकती है। यह वह काल है, जिसने पूर्ववर्ती परम्परागत सौन्दर्य-भावना को दरबारी नागरिक-सीमाओं से मुक्त करके स्वच्छन्द प्रसार के पथ को प्रशस्त किया। काव्य में साधनावस्था और सिद्धावस्था से निष्पन्न सौन्दर्य-बोध के जितने भी वस्तुगत, भावनागत,कल्पनागत,उदात्तगत एवं अभिव्यक्तगत- आधार हो सकते हैं, उन सबका सम्यक् प्रतिपादन इस काल में बड़ी प्रभविष्णुता के साथ हुआ है। लेकिन सौन्दर्य-बोध के इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए भक्ति-पद्धति के अनुसार 'गुरु' की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। अतः सभी कवियों ने गुरु का आलम्बन अवश्य लिया है। जब कि अन्य किसी भाव में भक्ति-पद्धति गौण होने के कारण गुरु की आवश्यकता नहीं समझी गई। कबीर ने गुरू को ईश्वर से महत्तर घोषित किया, तो जायसी ने बिना गुरू के[1] निर्गुण-ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव बताया। सूर ने दर्शन हेतु 'गुरु-परसाद'[2] को, तो तुलसी ने 'गुरु-पद-नख-ज्योति'[3] को मुख्य आधार माना है।

नवधा भक्ति[4],एकादश भक्ति[5], त्रिगुणात्मक भक्ति[6] प्रपत्ति मार्ग[7] अथवा निर्गुण-सगुण भक्ति के अनुसार भक्ति के जितने भी स्वरुप हो सकते हैं, उनके आधार पर भक्ति-कालीन सौन्दर्य-बोध की प्रकृति में थोड़ा-बहुत अन्तर आ गया है, किन्तु सभी कवियों का उद्देश्य लोक-कल्याण की स्थापना ही रहा है। कबीर ने दार्शनिक चिन्तन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि समाज में अशान्ति का कारण है- 'अज्ञान'। इसलिए

---

1. *गुरू सुवा जेहि पंथ दिखावा।*
   बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।।
   - सं0 रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, उपसंहार खण्ड
2. *गुरु परसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रवीन।*
   सिव विधान तप कर्यो बहुत दिन, तरू पार नहिं लीन।।
   - सूरसारावली, पद सं0 1002
3. *श्रीगुर पद नख मनि गन जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।।*
   - रामचरितमानस : 1/1/3
4. *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।*
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्।।
   - भागवत 7/5/22
5. *गुण माहात्म्या शक्तिः, रूपाशक्तिः, पूजा शक्तिः,*
   स्मरण शक्ति , दास्य शक्ति , सख्या शक्ति,
   कान्ता शक्ति, तन्मयता शक्ति, परम विरहा शक्ति,
   रूपा एकधारयेका दशधा भवति।।
   - नारद भक्ति-सूत्र - सूत्र : 82
6. *त्रिगुणात्मक भक्तिः तामसी, राजसी व सात्विकी।*
   - भागवत (3/29/8) (3/29/9) (3/29/10)
7. *आनुकूल्यस्य संकल्पः, प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।*
   रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्ववरणं तथा।
   आत्मनिक्षेपकार्पण्ये, षड्विधा शरणागतिः।
   - लक्ष्मीतन्त्रम् 17/60-61, अहिर्बुन्ध्य संहिता 37/28-29

उन्होंने तत्व-चिंतन की ओर इशारा किया। जायसी ने संयोग और वियोग को एक विशेष पद्धति पर व्याख्यायित करते हुए हिन्दू व मुसलमानों के बीच ऐक्य स्थापित किया; कृष्ण-भक्त कवियों ने लोकवृत्ति को वाणी दी और तुलसी जैसे रामभक्त कवियों ने समाज के सामने लोकमंगल का वृहत्तर रूप प्रस्तुत किया।

जिस आत्मगत सौन्दर्य-बोध की स्थापना के लिए हमारे मनीषियों ने बहुत पहले 'ओउम् ईशावास्यमिदं' का संदेश दिया था तथा जिसकी संस्थापना के लिए भारत सरकार बार बार 'समरसता' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आह्वान करती चली आ रही है; उसे तुलसीदास ने अपने मानस में बहुत पहले ही व्यंजित कर दिया था जो आज भी भारतीय जनमानस की जबान पर रटा हुआ है :-

'सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोर जुग पानी।।[1]

अर्थात् यह संसार ब्रह्ममय है, स्त्री-पुरुष शक्ति से समन्वित है, कोई भी प्राणी इससे प्रथक नहीं है, तब चिन्ता किस बात की? इससे बड़ा सार्वभौमिक सौन्दर्य-बोध भला और कहाँ मिलेगा?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भक्तिकाल में सौन्दर्य-बोध का कोई भी आयाम अछूता नहीं है, क्योंकि ज्ञान, भक्ति और प्रेम के माध्यम से सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति एक साथ हुई है। इस तत्त्वमय, सौन्दर्य-बोध के स्थापनार्थ तुलसी ने कोई भी कोना नहीं छोड़ा। सूरदास ने सुरीली और मध ुर झनकार द्वारा उसे लालित्यपूर्ण बनाया तथा जो कुछ भी शेष बचा, उसे कबीर ने अपनी सधुक्कड़ी भाषा में कह दिया। इसी को ध्यान में रखकर यह जनश्रुति प्रचलित हो गई है :-

'तत्त्व तत्त्व सब कठवा कहिगा, अँधरौ कही अनूठी।
बची -खुची सो जोलहा कहिगा, और कहै सो जूठी।।[2]

(3) रीतिकालीन काव्य में सौन्दर्य-बोध :-

16 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बाबर के आगमन के साथ ही मुगल-साम्राज्य की नींव काफी मजबूत हो गई थी, जो 19वीं शताब्दी के मध्य तक ह्रास में बदल गई। तत्कालीन मुगल-बादशाह अकबर (रा0का0 1555-1605), जहाँगीर (रा0का0 1605-1627) और शाहजहाँ (1627-1658) आदि सभी कला प्रेमी तो थे ही, किन्तु इससे अधिक सुन्दरी-संकलन- परम्पारा के समर्थक व स्त्री- उपभोग-प्रेमी थे। उनके अन्तःपुर में सैकड़ों रक्षिताओं, रखैलों और सेविकाओं को रखने की परम्परा चल पड़ी। इतना ही नहीं, इन बादशाहों के अधीन किन्तु अपने-अपने प्रशासन क्षेत्र में सर्वथा स्वतंत्र छोटे-बड़े राजा, नवाब, अमीर, उमराव भी नवयौवनाओं को फँसाने के लिए अपने दरबार में दूतियाँ और कुटनियाँ नियुक्त करने लगे, जमींदारों के यहाँ भी यह रोग फैल गया; शिक्षक भी अब ज्ञान के दीपक न रहे, वे काम-कला की शिक्षा देकर अपने कर्म की इतिश्री समझने लगे। परिणाम यह हुआ कि- *'भक्ति-कालीन ब्रज के नवनीत में मानो ईरान की शराब मिल गई। आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक फेर-बदल के कारण ईश्वर-प्रेम धीरे-धीरे हबस और हुस्नपरस्ती में परिवर्तित होता गया।'*[3]

1. तुलसीदास : रामचरितमानस, 1/8/1
2. डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 141
3. डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 142

ऐसे वातावरण में श्रृंगार-रस और नायिका-भेद का सर्वांग विवेचन न होता तो क्या होता? 'राधा-कृष्ण का स्मरण केवल बहाना हो गया। रीतिकाल में पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है। किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य का संकेत नही।[1]

इस काल में सर्वांग एवं विशिष्टांग-निरूपक आचार्य अथवा दूसरे शब्दो में रीतिबद्ध कवियों-आचार्य केशव, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, सोम, देव(देवदत्त) भिखारीदास, भूषण, पद्माकर आदि ने अपने-अपने लक्षण-ग्रन्थों के माध्यम से रस, छन्द, अलंकार, ध्वनि, नायिका-भेद, गुण, दोष, आदि का प्रौढ़ शैली में तल-स्पर्शी विवेचन किया है, अनेक प्रशस्ति-काव्य (वीर काव्य) लिखे हैं तथा अपने आश्रयदाताओं का मुक्त-कंठ से स्तवन किया है। इसके साथ ही साथ अपने सौन्दर्य-बोध को जनसाधारण के बीच कायम रखने के लिए गौण रूप में यत्र-तत्र तेली, नाई, धोबी, कुम्हार, भील, गंधी, माली, तमोलिन, हलवाइन आदि निम्न समाज की स्थिति का भी अकंन किया है।

संस्कृत काव्यों में लक्षण-ग्रन्थ लिखने की जो शास्त्रीय परम्परा चली आ रही थी, उसका अनुकरण करके इन कवि-आचार्यो ने सर्वाधिक लाभ का काम यह किया कि संस्कृत-ग्रथों में प्राप्त लक्षणों को हिन्दी में लिखा, ताकि सामान्य जनता उनका समुचित लाभ उठा सके। वस्तुगत सौन्दर्य के अन्तर्गत हमारे यहाँ रंगों और उनकी संगति का बहुत बड़ा महत्व है। 'कविता में सात रंगो का वर्णन ही शुभ है अर्थात्, सफेद, पीला, काला, लाल, धूम्र, नीला और मिश्रित'।[2] सौन्दर्य-उत्पादन के क्षेत्र में इन सभी का रीतिकाल में बड़ी सहजता के साथ प्रयोग हुआ है। 'प्रकृति के हर अंश में उज्ज्वल तत्व के दर्शन होते हैं, वास्तव में उज्ज्वलता ही सौन्दर्य का एक ऐसा तत्त्व है, जिससे दर्शक उस ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है।'[3] आचार्य केशव ने चौदह वस्तुओं को श्वेत वर्ण के अन्तर्गत परिगणित किया है और संकेत दिया है कि सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए कविता में श्वेत रंग का वर्णन करते समय इन वस्तुओं में से उपमान आदि को चुनना चाहिए :-

कीरति हरिहय, शरदघन, जोन्ह , जरा मंदार।
हरि, हर, हर गिरि, सूर,ससि, सुधा, सौर,घनसार।।[4]

रीतिकाल में चित्रालंकार के माध्यम से चित्र-काव्य की भी सर्जना हुई है। यह काव्य समुद्रवत है, इसमें बड़ी विचित्र प्रतिभा वाले कवि भी डूब जाते हैं। इसमें चित्र बनाकर कविता को प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित विभिन्न छन्दों के माध्यम से चक्रबन्ध, कमल-बन्ध, धनुष-बन्ध, पर्वत-बंध, हार-बंध, डमरू-बंध आदि चित्रकाव्यों की मनोरम चित्रावली प्रस्तुत की गई है। 'कवि प्रिया' के सोलहवें प्रभाव में वर्णित एकाक्षरी दोहा छन्द (आधा छन्द एकाक्षरी) का एक उदाहरण दृष्टव्य है, जिसके द्वारा निर्मित चित्र को चाहे जिस ओर से पढ़ा जाए, एक अर्धाली बन जाती है :-

---

1. *डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 39*
2. *सेत, पीत, कारे, अरुन, धूमर, नीले, वर्ण।*
   मिश्रित केशवदास कहि, सात भाँति शुभकर्ण।।
   – आचार्य केशव : कविप्रिया, पाँचवा प्रभाव, पृ0 60
3. *डॉ0 सी0 तुलसम्मा : महादेवी की कविता में सौन्दर्य भावना, पृ0 49*
4. *आचार्य केशव : कविप्रिया, पाँचवा प्रभाव, पृ0 60*

"केकी केका कीक का ; कोक कीक का कोक।
लोलि लालि लो लै लली, लाला लीला लोल।।"[1]

1. 'केकी' का उदाहरण :-

के
के की के
के की के की के
के की के का के की के
के की के का की का के की के
के की के का की क की का के की के
के की के का की क का का की का के की के

2. 'कोक' का उदाहरण :-

को
को क को
को क की क को
को क की क की का को
को क की क का क की क को
को क की क का को का क की क को
को क की क का को क को का क की क को

रीतिसिद्ध कवि बिहारी ने सतसई लिखते समय रंगों की संगति का स्थान-स्थान पर पर्याप्त ध्यान रखा है। हमारे यहाँ चित्रकला के अन्तर्गत लाल, पीला, और नीला प्राथमिक या मूलरंग माने गए हैं, जो किसी मिश्रण के द्वारा प्राप्त नहीं किए जाते हैं, वे शुद्ध रंग हैं। जो दो प्राथमिक रंगो के मिलाने से बनते हैं वे मध्यवर्ती रंग या गौण कहलाते हैं; यथा -

प्राथमिक रंग		**गौण रंग**
पीला + लाल	-	नारंगी
लाल + नीला	-	बैगनी
पीला + नीला	-	हरा

बिहारी ने सतसई के मगंलाचरण में जिस दोहे का प्रयोग किया है, वहाँ दर्शाया है कि राधा के गौर वर्ण(पीत) की आभा पड़ने से कृष्ण का श्याम (नील)शरीर हरे रंग का हो जाता है अर्थात् पीले और

---

1. आचार्य केशवदास : कविप्रिया, सोलहवाँ प्रभाव, खण्डसंख्या 4।
अर्थात, किसी नायिका का पति विदेश में है, वह अपने छोटे पुत्र को देखकर प्रसन्न होती है। वह पुत्र के मुख को पति का अनुहारि (बराबर) मानकर संतोष पाती है। वर्षा काल आ गया है, उसे विरह-दुःख होना चाहिए किन्तु उसके लिए मोर (मोरनी), चक्रवाक और दादुर का कोलाहल शब्द (कीक) क्या है (का) अर्थात् - कुछ नहीं। वह प्रेम से प्रभावित (लोलि) होकर और पुत्र का प्रेम जताकर (लालि), पुत्र (लाला) की चंचल (लोल), लीलाओं (लीला) से मुग्ध होकर वह नायिका (लली) इधर-उधर डोला-फिरा (लोलै) करती है।

नीले रंगो के मिश्रण से हरा रंग बनता है, यह वैज्ञानिक सत्य है।[1]

बिहारी, सेनापति, बेनी, रसनिधि, रामसहाय दास, द्विजदेव, (देवदत्त) वृन्द आदि रीतिसिद्ध कवि लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन में तो लीन नहीं हुए, किन्तु उनका रीतिज्ञान इतना परिपक्व एवं विशद् था कि उन्हे रीति सिद्ध हो चुकी थी। उन्होंने अपने लक्ष्यग्रन्थों के द्वारा अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है। ये चमत्कारवादी थे। उनके अलंकार-विधान, उक्ति कथन एवं वस्तु-वर्णन आदि सभी में चमत्कार का प्राध ान्य है। ऐसे कवियों को आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिसिद्ध तथा डॉ० मोहन अवस्थी ने रीतिस्पर्शी कवि कहा है। इन कवियों की सौन्दर्य-भावना इतनी अपूर्व है कि सुजन उनके वश में हो जाते हैं-

"अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरूनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान।।"[2]

इसके साथ ही साथ इस काल में घनानंद, बनवारी, आलम, नागरीदास, ठाकुरे (लाला ठाकुर दास), बोधा (बुद्धसेन वोधा) आदि कवियों ने न तो लक्षण-ग्रन्थ लिखे और न रीति का अनुसरण किया, वरन् उन्होंने रीति के बंधन को अस्वीकार कर स्वच्छन्द गति से अपने काव्य में 'प्रेम की पीर' को पहचाना है। इनका सौन्दर्य-वर्णन नैसर्गिक है, वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है। उन्होंने निज बीती कही है, परबीती नहीं। इन कवियों में फारसी भाषा का यत्र-तत्र प्रभाव है। फारसी में 'जाँ' या 'जान' शब्द माशूक के लिए प्रयुक्त होता है। धनानंद के काव्य में प्रयुक्त 'जान' या 'सुजान' शब्द इसी का प्रतीक है। 'अति सूधो सनेह को मारग है' में फारसी काव्य-परम्परा के अनुसार माशूक की निष्ठुरता का चित्रण करना ही प्रेम की पराकाष्ठा है, मर्यादा है। इन कवियों का प्रेम-वर्णन प्रारंभ में स्थूल व शारीरिक है, पर बाद में परमसत्ता के प्रति उन्मुख होकर ऊर्ध्वगामी बन गया है। इसलिए कहीं-कहीं रहस्यात्मकता आ गई है। घनानंद की निम्न पंक्ति देखिए -

'पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हे, धरती में धसौं कि अकासहिं चीरौं।'

रीतिकाल में वीरकाव्य, संत-काव्य, कृष्ण-भक्ति-काव्य, राम-भक्ति-काव्य, प्रेमाख्यानक-काव्य लेखन की परम्परा भी साथ-साथ चलती रही, किन्तु इन सब में रीति का प्रभाव है। गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि, वृन्द, बैताल आदि कुछ नीतिकार कवि भी हैं, जो रीतिकाल की गहरी श्रृंगार धारा से अछूते रहे।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जीवन की उदात्त साधना का चित्रण इस काव्यधारा में भले ही उपलब्ध न हो, किन्तु जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है। कलाओं का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था। रीतिकाल में सौन्दर्य-बोध की अनेक ऐसी कालजयी विशेषताएँ हैं जो आधुनिक युग में आज की परिस्थितियों में भी हमारे लिए उपयुक्त हैं, प्रासंगिक हैं।

(4) आधुनिक काल में सौन्दर्य-बोध :-

बहादुरशाह द्वितीय के बाद मुगल साम्राज्य का टिमटिमाता हुआ दीपक सदा के लिए बुझ गया और उसके स्थान पर धीरे -धीरे अंग्रेजों ने सन् 1849 तक सारे भारत पर आधिपत्य कर लिया। इसी के आस-पास सन् 1843 से हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल माना जाता है। इस युग तक आते-आते रेल,

1. जगन्नाथदास 'रत्नाकर' : 'बिहारी रत्नाकर' से
2. जगन्नाथदास 'रत्नाकर' : 'बिहारी रत्नाकर' से

तार व डाक जैसी यातायात की व्यवस्था काफी सुदृढ हो चुकी थी, जिससे ईसाइयों ने स्वधर्म प्रचारार्थ भारतीयों के धर्म पर आक्षेप करने शुरु कर दिए। इनका प्रत्युत्तर देने के लिए भारतीयों की तरफ से भी ब्रह्म-समाज (1828), प्रार्थना-समाज(1867), आर्य-समाज(1875) और रामकृष्ण-मिशन(1897) जैसे समाज-सुधार के संगठन स्थापित हुए। सन्1875 में थियोसॉफिकल सोसाइटी का जन्म अमेरिका में हो चुका था। उसका प्रचार करने के लिए श्रीमती एनी बिसेन्ट सन्1893 में भारत आई; उन्होंने हिन्दू-धर्म के पुनरुद्धार और राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण का जो नूतन संदेश भारतीयों को दिया, इससे उनको एक नया आलोक मिला। अब भारत की जनता अंधकार की सुरंग से बाहर निकलने लगी। जब उन्होंने देखा कि अंग्रेज लोग यहाँ की अपार धनराशि इंग्लैण्ड भेज रहे हैं, धार्मिक, सामाजिक और सैनिक उत्पीड़न कर रहे हैं, तो यहाँ के निवासियों ने अंग्रेजी शासन का अन्त करने के लिए सन्1857 में सैनिक विद्रोह कर दिया। यद्यपि अपने इस गन्तव्य में वे पूरी तरह सफलीभूत नहीं हुए, फिर भी आगे की रणनीति के लिए उनके कान खड़े हो गए। इन विद्रोही वारदातों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य-सेवियों पर भी पड़ा। आधुनिक काल में अनेक नवीन प्रवृत्तियों और वादों का विकास हुआ, जिन्होंने सौन्दर्य के नए-नए आयामों को सामने रखा। इस युग का सौन्दर्य-बोध नवजागरण का प्रसूचक है।

(क) भारतेन्दु युग :-

भारतेन्दु-युग का सौन्दर्य-बोध बहुत पुरानी परम्पराओं से ग्रस्त रहा क्योंकि रघुराज सिंह, बाबा रघुनाथदास 'रामसनेही', लछिराम भट्ट, गोविन्द गिल्ला भाई, नवनीत चौबे आदि कवियों ने रीतिकाल के ही ढंग पर ब्रजभाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। इनकी कविताओं में या तो नायिका-भेद का चित्रण है या फिर किसी राजा की प्रशंसा हुई है। कुछ कवि समस्या-पूर्ति में लोकप्रियता प्राप्त करते रहे। इस युग के जनक भारतेन्दु जी ने स्वयं केवल गद्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रयोग किया, किन्तु कविता के लिए उन्होंने ब्रजभाषा की ही पैरवी की।[1] क्योंकि उनका विश्वास था कि अच्छी कविता खड़ी बोली में नहीं हो सकती । रीतिकालीन परम्परा और श्रृंगार-रस के पोषक होने के कारण उनके नाटक - 'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'गंगा-वर्णन' तथा 'चन्द्रावली नाटिका' में 'यमुना-वर्णन' के जो अनेक चित्र मिलते हैं, उनमें अलंकार-भार के कारण कवि की स्वतंत्र अनुभूति कुछ दबी हुई-सी प्रतीत होती है। फिर भी उन्होंने प्रकृति को रीतिकाल की गन्दी गली से निकालकर स्वस्थ वातावरण में मानव की सहचारिणी के रूप में प्रतिष्ठित करने का जो साहस दिखाया है, वह उनके नितान्त प्रथक व्यक्तित्व का परिचायक है। यमुना-तट पर खड़े हुए वृक्षों की शोभा का काल्पनिक एवं अलंकारिक वर्णन बड़ा ही सजीव है। साहित्यिक ब्रजभाषा एवं माधुर्यगुण से ओत-प्रोत प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ है-

> **"तरनि-तनूजा - तट - तमाल - तरुवर बहु छाये।**
> **झुके कूल सो जल - परसन हित मनहुँ सुहाये।।**
> **किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा।**
> **कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।।"[2]**

इसके अलावा भारतेन्दु के नाटकों में अनेक छन्द ऐसे आए हैं, जो ब्रजभाषा में न होकर खड़ी

---

1. *डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 174*
2. *डॉ0 ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री : आधुनिक कवि : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ0 9*

बोली में है; जिनमें देश-दशा को बार-बार चित्रित किया गया है। भारतेन्दु के इन छन्दों से प्रेरणा लेकर पं० प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, जगमोहन सिंह, एवं बालमुकुन्द गुप्त ने अपनी रचनाओं द्वारा भुखमरी, फूट, देश का अधःपतन, भारतीय संस्कृति-सभ्यता का विनाश, पुलिस-अदालत का शोषण-चक्र, धनिकों के अनाचार एवं चाटुकारिता आदि सभी पर प्रकाश डाला है। बालमुकुन्द गुप्त ने कहा है -

'पेट भरन हित फिरै हाय कूकर से दर-दर।
चाटहिं ताके पैर लपकि मारहिं जो ठोकर।।[1]

(ख) द्विवेदी-युग :-

द्विवेदी-युग का सौन्दर्य-बोध नाना प्रकार के अनुशासन और मर्यादाओं से बँधा हुआ है। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', वचनेश, नाथूराम, शंकर शर्मा, जगदम्बाप्रसाद हितैषी और अनूप शर्मा जैसे कवियों ने सौन्दर्य-बोध को उभारने के लिए ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनो में दक्षता प्राप्त की। सत्यनारायण 'कविरत्न', जगन्नाथदास 'रत्नाकर' एवं वियोगी हरि जैसे कवि ब्रजभाषा में सौन्दर्य का अंकन करते रहे। तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि इस युग के कवियों ने अंग्रेजों के शोषण का पर्दाफ़ाश किया और नारी को रीतिकालीन रुढ़िवादिता से निकालकर उसे जननी, बेटी, बहन एवं आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित किया। हरिऔध जी अपने ' प्रिय-प्रवास' में कृष्ण को महापुरुष की पदवी प्रदान करते हुए लोकरंजक के स्थान पर लोकरक्षक का दर्जा दिया। उनकी राधा विश्वमैत्री की संदेशिका है। वह उद्धवशतक या पूर्ववर्ती रचनाओं की तरह रो- रो कर आँसू के नार(नाला) नहीं बहाती, बल्कि दीन-दुखियों की सेवा करते-करते उसका हृदय व्यष्टि से समष्टि में बदल गया है।[2]

इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' और 'यशोधरा' में नारी-जगत को नए सिरे से पुरुषों के बराबर लाने अथवा उससे भी आगे का दर्जा दिलाने में जो सिद्ध-हस्तता दिखाई है, वह नारी के सामाजिक सौन्दर्य-बोध का एक नव्यतम उदाहरण है। गौतम बुद्ध पर पालि, संस्कृत और हिन्दी में पर्याप्त लेखन हुआ है, पर यशोधरा या गोपा की करुण दशा पर किसी भी कवि ने आँसू नहीं बहाए। गुप्त जी को शायद यह सहन नहीं हुआ और उन्हें गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता देखकर शुद्धोदन के शब्दों में कहना पड़ा -

"गोपा बिनु गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको"।[3]

स्पष्ट है कि नारी-सौन्दर्य को स्थापित करने के लिए वे विश्वविश्रुत गौतम बुद्ध को एकान्ततः शीर्ष पर नहीं स्थित करते, बल्कि गोपा(यशोधरा)रुप शक्ति के साथ ही उन्हें महत्त्व देते हैं। यह सम्पूर्ण सौन्दर्य-बोध द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियों के आधार पर नैतिकता का नितान्त बंधन होने के कारण पारिवारिक परिधि से आगे नहीं बढ़ सका।

'द्विवेदी-युग में नवीन सौन्दर्य-बोध का आभास श्रीधर पाठक की रचनाओं में मिलता है। जिन्होंने

---

1. *डॉ० मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ० 273*
2. *"आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की, विश्व के काम आऊँ।*
   मेरा कौमार-व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे।।"
   – हरिऔध : प्रियप्रवास, 'षोडस सर्ग' से
3. *मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा, पृ० 95*

अंग्रेजी के पूर्ण स्वच्छन्दतावाद का अनुकरण किया। उनकी रचना द्विवेदी-युग की परम्परागत और नैतिक मान्यताओं से मुक्त थी।'[1]

इसी धारा से जुड़े हुए द्विवेदी-युग के कुछ नए प्रयोगवादी कवि भी सामने आए, जिनमें मुकुट्ध ार पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने सर्वाधिक रूप में प्रकृति का सहारा लेकर भावगत और कल्पनागत सौन्दर्य को उभारने का नूतन प्रयास किया है। रूपनारायण पाण्डेय की 1918 में लिखी गई कविता में चाँदनी रात का जो वर्णन है, उसका स्पष्ट प्रभाव छायावाद पर परिलक्षित होता है-

'शुक्लाभिसारिका सदृश यह शरद शर्वरी मन भाई।
प्रिय प्रभात से मिलने को हँसती सी देखो है आई।।'[2]

इसी चित्र को प्रसाद, पंत और महादेवी वर्मा ने अपनी मधुमयी कल्पना और ऊर्जस्वित कला से सौन्दर्य-बोध को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

(ग) छायावाद-युग :-

सौन्दर्यवादी दृष्टि से छायावादी काव्य का हिन्दी में सर्वोपरि स्थान है। छायावाद शब्द का प्रथम प्रयोगकर्ता मुकुटधर पाण्डेय को तथा प्रवर्त्तक जयशंकर प्रसाद को माना जाता है, किन्तु इसे पुष्ट करने का श्रेय पंत को है। छायावाद का सौन्दर्य-बोध द्विवेदी-युग के वस्तुगत और इतिवृत्तात्मक(वर्णन प्रधान) सौन्दर्य से तो भिन्न है ही, साथ ही अपने समस्त पूर्ववर्ती युग-सौन्दर्य से भी भिन्नता रखता है। भक्तिकाल में मानव को गौण तथा निर्गुण या सगुण ब्रह्म को प्रधान स्थान मिला था, किन्तु छायावाद में मानवीय सौन्दर्य का गुणात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है। वहाँ पर ब्रह्म को सत्य तथा जगत को मिथ्या माना गया, किन्तु छायावाद में जगत और प्रकृति को ही सत्य मानकर आत्मगत और सूक्ष्म सौन्दर्य उभारने का उदात्त प्रयास किया गया है। रीतिकाल का सौन्दर्य-बोध विषय-निष्ठ व स्थूल था, वह सौन्दर्य केवल राजघराने तक सीमित था; किन्तु छायावाद का सौन्दर्य-बोध व्यक्ति-निष्ठ व सूक्ष्म है, उसकी स्वानुभूति राजघराने से हटकर जनसामान्य की ओर उन्मुख हुई है। 'ये कवि स्थूल और मांसल सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट न होकर आत्मा के सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं। इसी कारण से इनकी कविताओं में सूक्ष्म सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। इनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यही है।'[3]

छायावादी काव्य में सौन्दर्य का प्रतिमान सर्वाधिक रूप में प्रकृति है। कवियों के हृदय में प्रकृति के प्रति अपार आकर्षण और अनुराग भरा था। पंत ने तो तरुणी या बाला के बाल-जाल से निकलकर निसर्ग के सान्निध्य में रहने का संकल्प किया था।[4] छायावादी कवियों ने सौन्दर्य को ही जीवन का सत्य

---

1. *डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 41*
2. *डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत : नवीन साहित्यिक निबन्ध, पृ0 327*
3. *डॉ0 टी0 तुलसम्मा : महादेवी की कविता में सौन्दर्य भावना, पृ0 12*
4. *छोड़ द्रुमों की मृदु छाया;*
   तोड़ प्रकृति से भी माया।
   बाले ! तेरे बाल-जाल में;
   कैसे उलझा दूँ लोचन ।।
   – सुमित्रानन्दन पंत : पल्लव, पृ0 57

और शिव माना है और उसे शाश्वत आध्यात्मिक सत्य भी घोषित किया है-

'तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के।
थे केवल जीवन संगी,
कल्याण-कलित इस मग के।।'[1]

छायावादी नारी स्वकीया-परकीया के बन्धन से मुक्त है। वह एक स्वच्छन्द प्रेयसी के रूप में चित्रित की गई है, किन्तु स्वच्छन्द और निर्बन्ध होते हुए भी उदात्त है; उसमें लज्जा, प्रीति, संकोच, और ग्लानि है। मनोविकारों की इसी व्यापक सौन्दर्य- चेतना से सुसम्पन्न होकर वह अपनी आत्मा का विकास करती है और इस प्रकार वह स्थूल से सूक्ष्म तथा बाह्य से आन्तरिक सौन्दर्य तक पहुँचने में समर्थ हुई है। कामायनी में कामगोत्रजा श्रद्धा के शील का अत्यन्त विशदता के साथ चित्रण हुआ है:-

'नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास-रजत-नग पगतल में,
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।'[2]

नारी के प्रथक चित्रण के साथ-साथ उन्होंने उसे प्रकृति के रूप में भी चित्रित किया है। प्रकृति-सौन्दर्य ही मानव के लिए प्रेयसी-सौन्दर्य का स्मारक बन गया है। श्रृंगारी चेष्टाओं का उद्दाम रूप प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'जूही की कली' में अर्ध प्रस्फुटित जूही की कलिका को तरुणी नायिका एवं मलय-पवन को नायक के रूप में चित्रित कर मानवीकरण के माध्यम से प्रणय का जो श्रृंगारिक और चपल चित्र प्रस्तुत किया है, वह इसी का सटीक प्रमाण है-

'विजन - वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी -
+ + + +
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की,
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झझकोर डाली।'[3]

छायावाद में कुछ हल्की सी रहस्यात्मकता भी है, लेकिन इस रहस्यात्मकता में अस्पष्टता का महत्व अधिक है। वहाँ किसी तत्व-चिन्तन के आभास का भाव नहीं है।'[4] इनके रहस्यवाद में कबीर, मीरा और जायसी जैसी एकनिष्ठ परिपक्वता नहीं है। वह किसी'नाम-रतन' और 'श्रेय-मार्ग' का संदेश नहीं देती। रहस्यानुभूति में व्यक्तित्व का विसर्जन आवश्यक है। इस युग में महादेवी वर्मा को छोड़कर कोई भी कवि व्यक्तित्व का विसर्जन नहीं कर सका। जयशंकर प्रसाद की अमर रचना एवं विरह-काव्य 'आँसू' में उनकी रहस्यमयी वेदना ने अवश्य ही चरमसीमा को छू लिया है। महादेवी वर्मा की कविता में व्यंजित रहस्य, भावानुभूति को प्रमुखता देता है। इसका मुख्य कारण यह है कि महादेवी के अनुसार-"सौन्दर्य एक

1. जयशंकर प्रसाद : आँसू, पृ0 16
2. जयशंकर प्रसाद : कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ0 45
3. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला : कविश्री, पृ0 8-9
4. डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 228

सर्वव्यापक विभु है। प्रत्येक सौन्दर्य खण्ड-अखण्ड सौन्दर्य से जुड़ा है।''[1]

इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी-न-किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास रहता है और प्रकृति के व्यष्टिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी।[2] महादेवी वर्मा का यह मत यूरोप के प्राचीन सौन्दर्य शास्त्री प्लेटनिस से मिलता-जुलता है, क्योंकि प्लेटनिस के अनुसार मानव-आत्मा उस परम सुन्दर से मिलने के लिए व्यग्र रहती है। छायावादी कवि नितान्त आशावादी है। महादेवी वर्मा आशा का आँचल पकड़कर प्रिय का राह देखती हैं, भले ही उनकी प्रतीक्षा चिर-प्रतीक्षा में बदल जाए; किन्तु उसकी आशा मिटती नहीं ।[3] छायावादियों की यह रहस्य-उपासना कहीं प्रकृतिमूलक रहस्यवाद को जन्म दे गई है, तो कहीं जिज्ञासामूलक रहस्यवाद को। किन्तु उनकी रहस्यमयी कल्पना-दृष्टि सौन्दर्यपरक रहस्यवाद में ही ज्यादा टिकी है। सौन्दर्य अलौकिक जगत में तो रहस्यमय होती ही है, किन्तु वह लौकिक धरातल पर भी रहस्यमय बना रहता है :-

'सौन्दर्यमयी चंचल वृतियाँ
बनकर रहस्य हैं नाच रहीं।'[4]

छायावाद युग में छाया और रहस्य के अतिरिक्त देश-प्रेम और मानवतावाद से जुड़ी हुई कविताएँ भी यथास्थान अभिव्यक्त हुई हैं। प्रसाद, पंत, निराला, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि की अनेक कविताओं में देश-प्रेम है, किन्तु पराधीनता के नाम पर अंग्रेजों को ललकारने वाला नहीं है। इन कविताओं में छायावादी कल्पना के स्थान पर मानवीय संवेदना ज्यादा मुखर है, जिसके कारण सरल, सात्विक और उदात्त सौन्दर्य की सृष्टि हुई है।

कलागत सौन्दर्य के अन्तर्गत इस युग में प्रगीत शैली, चित्र-भाषा, नूतन-छन्दों का निर्माण, बिम्ब-योजना, प्रतीक और अलंकार-योजना आदि बहिरंग घटक तत्त्वों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। शिल्प-सौन्दर्य में लाक्षणिकता और व्यंग्यार्थ की प्रधानता है, जो द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक सौन्दर्य से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार कला और शैली के क्षेत्र में छायावाद ने एक व्यवस्थित और संश्लिष्ट कान्ति की अवतारणा की है।

---

1. महादेवी वर्मा : दीपशिखा, पृ० 30
2. आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा, पृ० 10
3. ''जो तुम आ जाते एक बार!
   कितनी करुणा कितने संदेश,
   पथ में बिछ जाते बन पराग,
   गाता प्राणों का तार-तार,
   अनुराग भरा उन्माद राग,
   आँसू लेते वे पद पखार।''
   – महादेवी वर्मा : यामा, पृ० 65
4. जयशंकर प्रसाद : कामायनी; कामसर्ग, पृ० 28

पंचम अध्याय
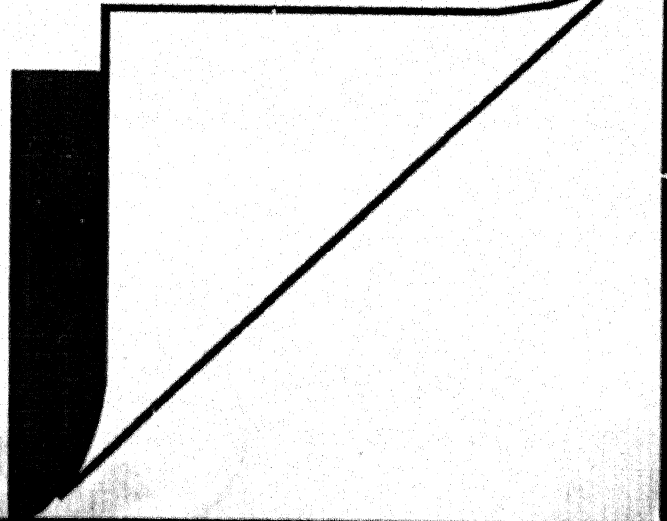
पंचम अध्याय

छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य और सौन्दर्य-बोध का नया सर्वेक्षण

1. प्रगतिवाद
2. प्रयोगवाद
3. नई कविता
4. अकविता एवं अन्य काव्यान्दोलन
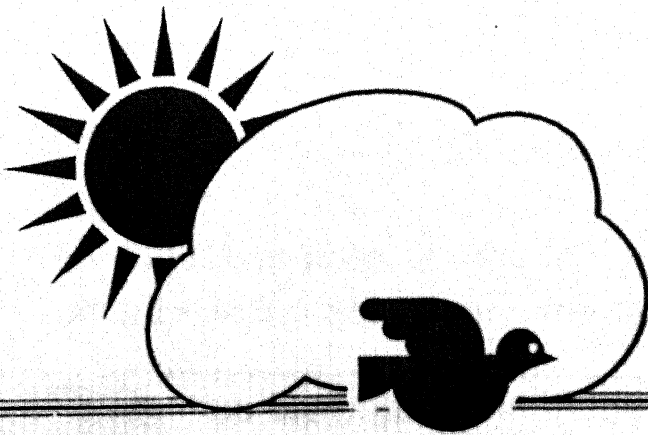
पंचम अध्याय

छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य और सौन्दर्य-बोध का नया सर्वेक्षण

हिन्दी-कविता में सन् 1935 के आस-पास परिवर्तन के चिह्न उभरने लगे थे। एक ओर पंत ने 'युगान्त' के बाद युग-जीवन को वाणी देने का बीणा उठाया तो दूसरी ओर निराला जैसे समर्थ छायावादी कवि नए छन्द, नए दृष्टिकोण लेकर नए प्रतीकों और नए वस्तु बिम्बों की रचना करने लगे। तीसरी ओर नरेन्द्र और बच्चन जैसे गीतकार भावना और भाषा की दृष्टि से जनजीवन के सम्पर्क में आ रहे थे। चौथी ओर राष्ट्रीय काव्य-धारा भी जनजीवन के स्तर को समेटने का काम कर रही थी। इन्ही तत्वों के संयोग से कविता के क्षेत्र में एक नया परिवर्तन आया, जिसके कारण सौन्दर्य-बोध भी एक नए सर्वेक्षण के रूप में प्रस्तुत हुआ।

छायावाद और इसके पहले की कविताओं का सम्पूर्ण सौन्दर्य- बोध थोडे बहुत अर्थ-भेद से भाववादियों के चंगुल में फँसा रहा। छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य में पहली बार वस्तुगत सौन्दर्य-बोध को खुलकर आने का मौका मिला। सौन्दर्य-बोध का यह नया सर्वेक्षण सम्पूर्ण छायावादोत्तर हिन्दी-कविता का प्राण है। छायावाद के बाद निम्नलिखित काव्य धाराएँ क्रमशः प्रकाश में आईं :-

1- प्रगतिवाद

2- प्रयोगवाद

3- नई कविता

4- अकविता एवं अन्य काव्यान्दोलन

1.प्रगतिवाद :-

प्रगतिवाद वस्तुतः राजनीतिक जागरण है, और उस जागरण का सम्बन्ध साम्यवाद से रहा है। सन्1935 ई0 में ई0 एम0 फोर्स्टर ने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की । डॉ0 मुल्कराज आनंद, सज्जाद जहीर, भवानी भट्टाचार्य आदि भारतीय लेखकों ने भी इंग्लैण्ड में ही भारतीय 'प्रगतिशील लेखक-संघ' की स्थापना की। भारत में इस वाद का उदय सन् 1936 में उस समय हुआ, जब लखनऊ में प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील - लेखक-संघ की पहली बैठक हुई। इस अवसर पर प्रेमचंद ने प्रगतिशील साहित्य के आदर्शो पर प्रकाश डालते हुए कहा था- *"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो.. ..../"*[1] सन् 1938 में 'रूपाभ' नामक मासिक पत्रिका के सम्पादकीय में इसके सम्पादकद्वय सुमित्रानन्दन पंत तथा नरेन्द्र शर्मा ने भी हिन्दी कविता को नए प्रगति- पथ पर लाकर खड़ा करने की आवश्यकता महसूस की थी।

प्रगतिवादी सौन्दर्य -भावना छायावादी काल्पनिक सौन्दर्य-भावना की प्रतिकिया है। डॉ0 अशोक सिंह ने अपनी पुस्तक' समकालीन कविता : एक विश्लेषण' में लिखा है- *"छायावादी प्रवृत्ति में सौन्दर्य मानसिक- आध्यात्मिक है, तो प्रगतिवाद में भौतिक; पहले में व्यक्तिनिष्ठ और भावाश्रित है, दूसरे में वस्तुनिष्ठ और ऐन्द्रिय रूपाश्रित। पहले के अनुसार सौन्दर्य- वस्तु की नैसर्गिकता स्वच्छन्दता में है, तो*

1. मुंशी प्रेमचंद : कुछ विचार, पृ0 21

दूसरे के अनुसार उसकी सामाजिकता में।'[1]

इस युग में दो प्रकार की रचनाओं का सृजन हुआ है- एक वे जिनमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है; जिन्हे प्रगतिवादी रचनायें कहा जा सकता है और दूसरी वे, जिनमें समाज-सुधार का दृष्टिकोण है, जिन्हे प्रगतिशील रचनाओं का नाम दिया जा सकता है। मार्क्सवादी रचनाओं में प्रचार की प्रवृत्ति अधिक है तथा सत्साहित्य का अभाव है। यत्र- तत्र गाली-गलौज की प्रवृत्ति भी है, जिसके कारण कविताओं में संवेदना का अभाव खटकता रहता है। कुछ प्रगतिवादी कवि फ्रायड के वासनावाद तथा अश्लील एवं कुत्सित चित्रों की अवतारणा को ही असली यथार्थवाद समझने लगे थे, उनकी आत्मा इतनी गिर गई थी कि उनकी रचनाओं को पढ़कर लज्जा आती है।

प्रगतिशील रचनाओं में जाग्रति और प्रगति का सन्देश है; सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की प्रवृत्ति है; साम्यवादी आदर्श है; शोषण के कटु स्वरूप पर कटाक्ष है; नारी की प्राचीन धारणाओं के प्रति विद्रोह है तथा समाज के प्रति उपयोगितावादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण है।

मार्क्सवादी भौतिक दृष्टि के अनुसार सौन्दर्य भौतिक वास्तविकता में है, वह न तो मन की कल्पना में और न ही आत्मगत चेतना में। पदार्थ या द्रव्य की उपेक्षा करके यथार्थ को छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इसका स्वस्थ स्वरूप ऐन्द्रिय, स्थूल और मांसल पुष्टि में है। प्रगतिवादी पंत ने उसका जो चित्र खीचा है, उसमें अन्तः सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य की ही झलक है-

"इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्फ डगर पर
सरकाती पट
खिसकती लट
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट।"[2]

यह रूप-सौन्दर्य श्रमिक वर्ग में ही दिखाई देता है। उच्च वर्गीय सुकुमारता में यह स्वस्थता नहीं हो सकती। शोषित वर्ग के समर्थक मार्क्सवाद की इस प्रकार की सौन्दर्य-भावना स्वाभाविक है।

मानव जीवन के दो पहलू हैं- वैयक्तिक और सामाजिक। व्यक्ति समाज का अंग है और जीवन का सारा सौन्दर्य उसके सामाजिक पहलू में है। सामाजिक दृष्टि के कारण प्रगतिवादियों ने प्रकृति - सौन्दर्य की अपेक्षा मानव-जीवन को अधिक महत्वपूर्ण माना है। प्रकृति को छोड़कर जीवन के क्षेत्र में आने के लिए संकोच करने वाले प्रकृति-प्रेमी पंत प्रगतिवादी दृष्टि से मनुष्य को सबसे सुन्दर घोषित करते हैं-

"सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम्।
निर्मित सब की तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरूपम।"[3]

---

1. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 44
2. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 45 पर उद्धृत।
3. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 45 पर उद्धृत।

प्रगतिशील लेखक का प्रथम प्रयास समाज में परम्परा से चली आ रही वर्ग-शोषण की प्रवृत्ति को नष्ट करना है और सौन्दर्य को कर्ममय जीवन में देखना है। इस दृष्टि से वह प्राचीन संस्कृति का विरोधी है, किन्तु प्रगतिशील कविता जिस समाजवादी व्यवस्था की हिमायती है, वह परम्परा से चली आती संस्कृति के स्वस्थ और विकासमान तत्वों को अपने में समेटकर नई संस्कृति की स्थापना करना ही अपना प्रथम कर्तव्य मानती है-

"दुनियाँ के नीरो सावधान
दुनिया के पापी जार सजग
जाने किस दिन फुंकार उठे
पद दलित काल सर्पो के फन।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में *'नीरो' और 'जार' इन दो प्रतीकों का उदाहरण सामने रखकर कवि वर्तमान समाज के शोषकों को चुनौती दे रहा है कि एक दिन यह पद्दलित जनता अवश्य इनका अंत कर देगी। कैलाश वाजपेयी के शब्दों में, "नीरो और जार इतिहास के वे दाग हैं, जो मानवता के नाम को सदैव गंदा करते रहेंगे । अपनी पशुता और नृशंसता का जो उदाहरण उन्होंने छोड़ा है, उसके कारण आने वाली संततियाँ उनसे सदैव घृणा करेंगी।"*[2]

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि वर्तमान समाज में वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण पर थोड़े से पूँजीपतियों का अधिकार है, जिसके कारण अधिकांश लोग गरीबी, भूख और अभावों से ग्रस्त रहते है तथा समाज में इस आधार पर शोषक और शोषित वर्ग के बीच आर्थिक दृष्टि से बहुत बड़ी खाई है, जिसे क्रान्ति द्वारा पाटा जा सकता है। इसी विचारधारा को आधार मानकर इस युग के कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न मार्क्सवादी प्रतीकों - हँसिया, खुड़पी, फावड़ा, कुदाल, हथौड़ा, हल, भैंसा-गाड़ी, लालतारा, लालसेना आदि के द्वारा वर्ग-भेद और श्रम आदि के महत्व को स्पष्ट किया है-

"हँसिया और हथौड़ा अब तक
हुआ नहीं पामाल।
यह पानी से नहीं
खून से ही था झंडा लाल।"[3]

यहाँ 'हँसिया' और 'हथौड़ा' जैसे प्रतीकों का प्रयोग साम्यवाद की स्थापना के लिए हुआ है।। मार्क्स के दर्शन को प्राथमिकता देते हुए सर्वप्रथम रूस ने उसका अनुगमन किया था। लाल झंडे से जो अर्थ लिया जाता है, वह इसी देश के सैनिकों के सम्बन्ध में रूढ़ हो गया है।

प्रगतिशील कवियों की रचनाओं में कहीं-कहीं ऐसे भी चित्र हैं, जो यथार्थवादी होने के साथ व्यंजना के तत्वों से समन्वित हैं। एक उदाहरण लें -

1. रामधारी सिंह दिनकर : हुकार (विपधगा से)
2. कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ0 210
3. शिवमंगल सिंह 'सुमन' : प्रलय सृजन, (बिघरबार से)

"चरमर चरमर चूँ चरर मरर

जा रही चली भैंसा-गाड़ी।"[1]

यहाँ भैंसा-गाड़ी जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही है, उसके बोझिल और चिन्ताग्रस्त होने के साथ ही विज्ञान के इस युग में वह एक प्रकार का व्यंग्यात्मक प्रभाव भी छोड़ती है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत भी प्रगतिवादी कवियों की आलोचना का विषय रहा है। उसके अनुसार आज भी देश में भूख और गरीबी उसी प्रकार अपनी जड़ें जमाए हुए है। सामन्तशाही के कीटाणु भी पूरी तरह नहीं मर सके। आज भी विदेशियों को यहाँ किसी-न-किसी रूप में प्रश्रय मिल रहा है; इस तथ्य की अभिव्यक्ति नीचे के उदाहरण में प्रतीकात्मक ढंग पर हुई है-

" पेटी में पिस्तौल सँभाले

अमन चैन के बोल अधर पर

अब भी बाइबिल बाँट रहे हैं

गोरी चमड़ी वाले बर्बर।"[2]

प्रगतिवादी सौन्दर्य-भावना नैसर्गिक न होकर मानव-सापेक्ष है। मनुष्य को सौन्दर्य का केन्द्र-बिन्दु बनाकर ही प्रगतिवादियों ने सृष्टि-सौन्दर्य को प्रगतिशील यथार्थोन्मुख दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। एक उदाहरण देखिए, जिसमें वर्तमान जीवन की विषमताओं को एक तीखी अभिव्यक्ति देने के लिए पौराणिक पात्रों का सहारा लिया गया है। व्यंग्य-रचना का उद्देश्य समाज में पलती बुराइयों का रचना के माध्यम से सुधार करना होता है। छायावाद जनजीवन के प्रति उदास था, अतः उस युग में व्यंग्य-रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रगतिशील-युग जन-जीवन के अति निकट है, अतः व्यंग्य-रचनाओं का बाहुल्य है-

"सत्य के हरिश्चन्द्र को अन्याय-घर में

झूठ की देते गवाही देखता हूँ

द्रोपदी को और शैव्या को, शची को

रूप की दूकान खोले

लाज को दो-दो टके में बेंचते मैं देखता हूँ।"[3]

प्रगतिवादी कविता सौन्दर्य-बोध के सन्दर्भ में अपने पूर्ववर्ती सौन्दर्य की विरोधिनी है। वह आभिजात्यवर्ग के सौन्दर्य का तिरस्कार करती है, क्योंकि उसका विश्वास है कि उसने इस सौन्दर्य को सर्वहारावर्ग का रक्त चूस कर प्राप्त किया है। वह इसके स्थान पर सामान्यजन के श्रम और कर्ममय सौन्दर्य का समर्थन करती है। इस प्रकार प्रारंभ से चला आ रहा जो कुछ सुन्दर, सुरुचि पूर्ण और सुसंस्कृत था, आम कम्युनिष्ट उसके विरोधी थे। बाग में गुलाब तो है ही, उसमें नकली पहाड़ी के ऊपर डेढ़ बित्ते का एक कुकुरमुत्ता भी उग आया है, जिसे निराला ने प्रचलित कम्युनिष्टों या सर्वहारा का प्रतिनिधि बनाया है। वह एक खिले हुए गुलाब को देखता है और अकड़कर उसे भला-बुरा कहने लगता है-

---

1. भगवती चरण वर्मा : मानव, भैंसागाड़ी

2. नागार्जुन : हंस, शान्त संस्कृति अंक, जयति जयति जय सर्वमंगला

3. शिवमंगल सिंह 'सुमन' : विश्वास बढ़ता ही गया, पृ0 67

" अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू, रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट
\+ + +
कली जो चटकी अभी
सूखकर काँटा हुई होती कभी।
रोज पड़ता रहा पानी,
तू हरामी खानदानी।"[1]

यहाँ पर निराला ने प्रकृति- प्रतीक गुलाब को शोषक-वर्ग का प्रतिनिधि मानकर जो चोट की है, वह सुन्दर होने के साथ वैज्ञानिक भी है। नंदकिशोर नवल के शब्दों में -*"कुकुरमुत्ता गुलाब के सौन्दर्य, उसके रंग और उसकी खुशबू को देखता है और उसे गाली देना शुरू कर देता है। आम कम्युनिष्टों की भाषा में जो कठोर शब्द हुआ करते थे, वह सब उस पर उड़ेल देता है- खून चूसने वाला, कैपिटलिस्ट, गुलाम बनाने वाला, गुलामों पर जुल्म ढाने वाला, औरतों का प्रेमी अथवा ऐय्यासी पसंद, बादशाहों, राजाओं, अमीरों का दुलारा आदि..........।"*[2]

प्रगतिवादी कविता यह मानती है कि जिस वर्ग-युक्त समान में स्वार्थ की वृत्तियों को मनोविज्ञान के पंडित शाश्वत मानते थे, आज वर्गहीन समाज में उन्ही का अभाव दिखाई दे रहा है। सुन्दर वस्तुएँ मानव की सेवा के लिए हैं,मानव उनकी सेवा के लिए नहीं। अतः प्रगतिवादी कवि सौन्दर्य को कुकुरमुत्ता में देखना चाहते हैं, जो सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है। जो स्वयं की मेहनत पर जीता है तथा दूसरों को जिलाता है और दूसरों की मेहनत पर जीने का सपना नहीं देखता, उसके लिए सौन्दर्य कर्ममय जीवन से बाहर नही होता। कर्मवीर तृप्त होने के लिए भोजन करता है, स्वाद के लिए नहीं। स्वाद के लिए भोजन करना अस्वस्थ आदमी का काम है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कविता में सौन्दर्य के क्षेत्र में कहीं भी भावात्मक और आदर्शवादी सौन्दर्य को महत्व नहीं दिया गया। यथार्थवादी सौन्दर्य की जो परिकल्पना हुई है, वह प्रशंसनीय है। डॉ0 कैलाश वाजपेयी के शब्दों में -*"अछूतोद्धार, वर्ण-व्यवस्था, सामन्तशाही, समानाधिकार आदि सभी समस्याओं पर एक साथ जितना वाद-विवाद इस युग में हुआ, पहले कभी नहीं।"*[3]

2. प्रयोगवादः-

हिन्दी-साहित्य में सन् 1935-36 के आस-पास प्रगतिशील लेखकों ने प्रगतिवाद के जिस पौधे का प्रत्यारोपण किया था, उसका विकास सन् 1943 के आस-पास अवरुद्ध हो गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद सामाजिक मूल्यों में विघटन शुरु हो गया था । बेकारी और भूख की समस्या ने जीवन में अनास्था और सनक को जन्म दिया। परिणामतः आगे का कवि अन्तर्मुखी होकर काव्य में आत्म-विश्लेषण और

---

1. नंदकिशोर नवल : तीन कवि, तीन कविताएँ, कुकुरमुत्ता, पृ0 11 पर उद्धृत।
2. नंदकिशोर नवल : तीन कवि, तीन कविताएँ, पृ0 12
3. कैलाश वाजपेयी : आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, पृ0 217

वैचारिक कुठांओं को महत्व देना प्रारंभ कर दिया। उसे प्रगतिवाद की नारेबाजी, नग्न यथार्थवाद, हल, कुदाल हँसिया, फावड़ा, लालतारा, लाल झण्डा आदि मार्क्सवादी प्रतीक अच्छे न लगे। परिणामतः इस गत्यावरोध में नए प्राण फूँकने का शुभारम्भ अज्ञेय ने प्रथम ताररप्तक (1943) का प्रकाशन करके किया। सन् 1947 में प्रकाशित 'प्रतीक' पत्रिका के पश्चात् उन्हे 'प्रयोगवाद' का जनक मान लिया गया।

प्रयोगवाद और उसके सौन्दर्य-बोध को जानने के लिए अज्ञेय द्वारा प्रकाशित' तार सप्तक'(1943) और' दूसरा सप्तक' (1951) की विविध नई प्रवृत्तियों की समझ आवश्यक है, क्योंकि ये दोनों ही सप्तक प्रयोगवाद के प्राण हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रयोगवादी कवि अपने खोए हुए स्वाभिमान और अपनी अहम् सत्ता को वापस लाना चाहता था, लेकिन उसके इस व्यापक व्यक्तिवाद और अहम्वादी प्रवृत्ति को विस्तृत कैनवस नहीं मिल सका। परिणामतः 'मै' और 'हम' के घेरे में चक्कर लगाता रहा। प्रयोगवाद के प्रर्वत्तक अज्ञेय को स्वीकार करना पड़ा- *"जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाए, यह पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"* [1]

परिणामतः उनका सौन्दर्य- बोध भी इसी घोर अहंवाद में फँस गया और समाज को कोई नई दिशा न दे सका। यथा -

"मै ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता -
मै ही हूँ वह मीनार शिखर का प्रार्थी मुल्ला -
मैं वह छप्पर तल का अहं लीन शिशु-भिक्षुक।" [2]

इसी अहम् के कारण वह कुंठा और वर्जनाओं का शिकार हो गया। उसका अहम् अतिवाद के रूप में प्रस्तुत हुआ । फ्रायडियन वासनाओं के आधार पर मांसल प्रेम व दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति हुई है, जिसके कारण सौन्दर्य-चेतना का कोई अमल-धवल स्वरूप सामने नहीं आ सका -

"मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
अतृप्त आकाँक्षाओं की एक वेश्या
बुरी तरह खाँस रही है।" [3]

यह उसके अहम् प्रयोग का ही परिणाम है कि उसने जनजीवन से सम्बन्ध रखने वाली छोटी- बड़ी वस्तुओं- इंजन, मील, भोंपू, चूड़ी का टुकड़ा, चाय की प्याली, चप्पल का तल्ला, ब्लेड, नाखून, वेटिंग रूम, नून, तेल, लकड़ी आदि का तो चित्रण किया ही है, साथ ही मूत्र-सिंचित-वृत्त में खड़े हुए गदहे, नुपूर-ध्वनि, शिफ्टे, कंकरीट के पोर्च, शराब की बोतल आदि सभी के लिए उनके मन में पर्याप्त आकर्षण है।

नए मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए समय-समय पर काव्य में नई शैलियों का जन्म होता रहा हैं। नई शैली का अर्थ है- जीवन या अनुभव-जगत के नए पहलुओं को नई दृष्टि से देखना और उन्हें नए चित्रों, प्रतीकों, अलंकारो द्वारा अभिव्यक्ति देना।[4] किन्तु प्रयोगवाद के नाम पर हिन्दी-कविता के क्षेत्र में जिस नई शैली का जन्म हुआ, उसमें नवीनता और सौन्दर्य-बोध के नाम पर अनेक अकाव्यात्मक तत्व आ मिले हैं, जिनके फलस्वरूप कविता में कौतुक की वृद्धि अधिक हुई है, कला की कम। शब्दों के चयन में

1. डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत : नवीन साहित्यिक निबन्धः पृ0 335 से
2. अज्ञेय : दूसरा सप्तक ('उषा की भव्य शान्ति') पृ0 228
3. डॉ0 गणपतिचन्द्र गुप्तः हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, पृ0 771 से उद्धृत।
4. डॉ0 देवराज : नई कविता, अंक - 2

प्रयोगवादी कवि या तो अत्यधिक क्लिष्ट संस्कृत के अनगढ़ शब्दों का प्रयोग करता है, या फिर उर्दू और अंग्रेजी के उन शब्दों का प्रयोग करता है, जिन्हें काव्य के लिए उपयुक्त नहीं माना गया, यथा -

"पंख मेरे/ तू कृती हरबार
नभ केवल प्रतीक्षा
तू उमड़ बढ़ वक्र में अपने गगन को घेरे।"[1]

यहाँ पर वक्र शब्द हिन्दी में व्याकरण की दृष्टि से विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे वक्र-कथन, वक्र भौंहे आदि, किन्तु अंग्रेजी से प्रभावित प्रयोगवादी कवि उसे अंग्रेजी शब्द 'कर्व' का स्थानापन्न मानकर इसके रूप में प्रयुक्त करता है। यह बेढंगा प्रयोग भाषिक-सौन्दर्य के ह्रास का द्योतक है। इसके अलावा हिन्दी-कविता में 'अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाना उतना घातक नहीं है, जितना कविताओं के शीर्षक अंग्रेजी में देना; यथा- आटोग्राफ, फार्मूला, प्रोलेतोरियत शाम, 'पीस और प्रोपोगण्डा', फेथफुल योर्स आदि। प्रयोगवादी काव्य पर सबसे तीखा और पैना आघात आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आधुनिक साहित्य' शीर्षक ग्रन्थ में किया है, जिसमें उन्होंने प्रयोगवादी कवियों की तुलना ऐसे लड़कों से की है, जो स्कूल से वापस आते हुए घर का रास्ता भूल गए हों।[2]

प्रयोगवादियों ने सौन्दर्य का नया सर्वेक्षण करने के लिए एकदम नए ढ़ंग की उपमाएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ उपमाओं में उन्होंने अपनी काल्पनिक सूझ और गम्भीरता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए वायु के चलायमान होने पर पीपल का पत्ता हौले- हौले हिलने लगता है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वामी की शह पाकर कुत्ता पूँछ हिला रहा हो-

"नाच रहे हैं सर-सर-सर पीपल के पत्ते
जैसे मालिक की शह पाकर
पूँछ हिलाते कुत्ते।"[3]

यहीं पर कुछ उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें हासोन्मुख कल्पना और अशोभनीय उत्प्रेक्षाएँ विद्यमान हैं। नीचे की पंक्ति में बादल के रंग की उपमा जिस वस्तु से दी गई है, वह बजाय किसी सौन्दर्य की सृष्टि करने के, मन में एक वीभत्स का भाव जाग्रत करती है-

"पूरब दिशि में हड्डी के रंग वाला बादल
लेटा है पेड़ो के ऊपर गगन- खेत में ।"[4]

प्रगतिवादी कवि ऐसी रचनाओं को अतियथार्थवाद अथवा अपरम्पराशील कहकर गौरवान्वित करते चले आए हैं, किन्तु संतुलित दृष्टि से ऐसी रचनाओं को सत्साहित्य की श्रेणी में कदापि नहीं रखा जाना चाहिए।

---

1. कुँवर नारायण : कविताएँ 1954, पंख मेरे
2. अरुण कुमार : नई कविता, कथ्य एवं विमर्श (आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का कथन), पृ0 34 पर उद्धृत।
3. 'संगम' पत्रिका, वर्ष-3, अंक 47 में प्रकाशित पं0 उदयशंकर भट्ट की 'पीपल के पत्ते' शीर्षक कविता से उद्धृत।
4. नरेश मेहता : दूसरा सप्तक, (समय देवता)

प्रयोगवाद की छवि को धूमिल करने एवं अपने-अपने नाम की मुहर लगाने के लिए बिहार के तीन कवियों - नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार, और नरेश मेहता- ने अपने नामों के प्रथमाक्षरों के संयोग को 'नकेन' की संज्ञा दी। सन् 1956 में इन लोगों की कविताओं का एक संकलन 'नकेन के प्रपद्य' नाम से प्रकाशित हुआ तथा इन कवियों ने अपनी संकलित कविताओं के लिए' प्रपद्य' अभिदान दिया। नकेन आरम्भ से ही कविता के वजन पर 'प्रपद्य' शब्द का प्रयोग कर रहे थे। वे प्रयोगधर्मी थे और अपने को ही सच्चा प्रयोगवादी मान रहे थे। ये कवि कविता में नया सौन्दर्य लाना चाहते थे। अतः उन्होंने कविता में छोटे-बड़े टाइप, आड़ी-तिरछी लकीरों, नए सामासिक चिह्नों, विराम संकेतो, उल्टे-सीधे अक्षरों, लोगो और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों आदि को ज्यादा महत्त्व दिया है।

प्रयोगवादियों पर अमरीकी कवि ई० ई० कर्मिंग्स का प्रभाव है। उसने सामासिक चिह्नों और कैपिटल लेटर का बहिष्कार किया है। कर्मिंग्स एक वचन प्रथम पुरूष को हमेशा छोटे अक्षरों में लिखता है। वह आई (I) को छोटा आई (i) तथा जी.ओ.डी.(GOD) के जी (G) को छोटा जी (g) लिखता है। उसकी मान्यता है कि ऐसा करने से यह सिद्ध हो चुका है कि वर्तमान संसार में उनका मूल्य घट गया है।

इसी प्रकार 'कलकत्ता-पंजाब-मेल' को अलग-अलग वर्णो में बाँटकर लिखने की यह नवीन कोशिश प्रयोगवाद बनाम नकेनवादियों का एक नया प्रयोग है -

'कलकत्-ताप्-अंजा-वमेल।'[1]

यहाँ वर्णो को अलग-अलग करके लिखने से उच्चारण में एक प्रकार की ध्वनि निकलती है, ठीक वैसी ही समतामयी ध्वनि जो कलकत्ता-पंजाब-मेल के चलने पर होती है।

कहीं-कहीं तो वर्णो को ऊपर-नीचे करके इस प्रकार लिखा गया है कि जब तक उनका तिर्यक् गुणा न किया जाए तब तक कोई अर्थ व्यंजित नहीं होता है-

मेरी गड़ती आँखे यहीं

आप्यायित

कविता का संदर्भ यह है कि एक नवयौवना बड़ी सादगी के साथ रेलगाडी के एक डिब्बे में बैठी हुई है। उसके सौंदर्य को देखकर हठात् नेत्र-दृष्टि उसके मुख-मण्डल पर टिक जाती है, किन्तु अपलक दृष्टि से उधर देखना या लगातार घूरना सामाजिक मर्यादा के कारण उचित प्रतीत नहीं होता। अतः देखने की प्रक्रिया कुछ थम-थम कर हो रही है अर्थात् निगाहें कभी हटा ली जाती हैं और कभी एकदम गड़ा दी जाती हैं। 'र दे ख हीं' में एक प्रकार का चक्षु-व्यायाम है। इस प्रपद्य में वर्णो को ऊपर-नीचे, आड़े-तिरछे लिखकर कवि ने अर्थ-सीमा का विस्तार करना चाहा है तथा वर्ण-विपर्यय द्वारा काव्य-मनीषियों को चौंकाने का काम किया है। इस वैचित्र्य के कारण प्रपद्यवादी कविता 'पर्सनल पोयट्री' बन कर रह गई है।

---

1. नलिन विलोचन शर्मा : नकेन के प्रपद्य, पृ09

2. नलिन विलोचन शर्मा : नकेन के प्रपद्य, पृ09

प्रयोगवाद के दूसरे चरण अथवा उत्कर्ष-काल में कवि अपनी वैयक्तिक चेतना और अहं के प्रति पूरी तरह सतर्क है। उसे सामाजिक चेतना के प्रति लगाव है, वह उसमें सम्मिलित भी होना चाहता है, किन्तु वैयक्तिक अस्तित्व को कायम रखते हुए। सौन्दर्य का अस्तित्व व्यक्ति की इसी मर्यादा और स्वाभिमान में निहित है। अज्ञेय की एक कविता है-

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।"[1]

यहाँ कवि स्वयं दीपक है, जो स्वतः प्रकाशित है। उसमें स्नेह भी है, प्रकाश भी है। गर्व व स्वाभिमान भी है, पर जो अकेला है। अतः उसे पंक्ति से मिल जाना चाहिए, किन्तु अस्तित्व को बिना विलीन किए हुए। अपनी पहचान अथवा शिनाख्त को बनाए रखना तथा अस्तित्व की संस्थापना उनकी प्राथमिकता है। प्रगतिवाद में यह प्राथमिकता वर्ग-चेतना के तुमुलनाद और नारेबाजी में विलीन हो गई थी, वहाँ व्यक्ति की इकाई का कोई महत्व नहीं था। रत्नाकर के उद्धव-शतक की गोपियों ने भी अपने अस्तित्व को निराकार सागर में विलीन न करने का ही दावा किया था, किन्तु सामाजिकता और सगुण के प्रतीक कृष्ण के प्रति उनका सरोकार बराबर बना रहा।[2]

इसी प्रकार वस्तुगत सौन्दर्य के अन्तर्गत व्यष्टिगत सत्ता को बनाए रखने के लिए कवि 'नदी के द्वीप' कविता में 'मै' के बहुवचन 'हम' का प्रयोग करता है और अपनी जैसी विचारधारा वाले लोगों को अपने में समेटना चाहता है। वह सामाजिकता रूपी स्रोतस्विनी के संसर्ग को स्वीकार करता है, किन्तु उसके मन में अपने अस्तित्व को खो न देने के लिए एक दृढ संकल्प भी है। वह नदी माँ से प्रार्थना करता है कि उसके अस्तित्व में कोई आँच न आए-

"किन्तु हम हैं द्वीप
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।"[3]

प्रयोगवादी कवि जैसे-जैसे प्रयोग के संकुचित दायरे से ऊपर उठकर उदात्त प्रयोग की ओर बढ़ा है, वैसे-वैसे उसके आस्था के स्वर मजबूत हुए हैं। अनास्था किसी भी रचना का मूल स्वर नही हो सकती, क्योंकि उसके मूल में वह पीड़ा छिपी रहती है जो आस्था की कामना से अनास्था को स्वर दिया करती है। डॉ0 धर्मवीर भारती ने तो 'अन्धायुग' को निःसंकोच ज्योति की कथा कहा है। अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा का बयान करना, अनास्था से आस्था की ओर उन्मुख होने का सीधा मार्ग है-

"यह कथा उन्हीं अन्धों की है,
यह कथा ज्योति की है, अन्धों के माध्यम से।"[4]

---

1. अज्ञेय : बाबरा अहेरी, यह द्वीप अकेला
2. जगन्नाथ रत्नाकर : उद्धवशतक, केन्द्रीय भाव छंद सं. 37
3. डॉ0 लक्ष्मीकान्त वर्मा : नई कविता के प्रतिमान, पृ0 199 से उद्धृत।
4. डॉ0 धर्मवीर भारती : अन्धायुग, पृ0 10

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद में 'भाषिक सौन्दर्य, अलंकारिक सौन्दर्य, छन्द-सौन्दर्य, ध्वन्यात्मक सौन्दर्य, रूप- सौन्दर्य, बाह्य एवं आन्तरिक सभी प्रलय कालीन ग्रहों की तरह चक्कर लगाते रहे।'[1] फिर भी प्रयोगवाद आधुनिक हिन्दी-कविता की वह महत्त्वपूर्ण धारा है, जिसके बिना अगली कविता की सौन्दर्यगत रूपरेखा नहीं समझी जा सकती। इसका मूल कारण यह है कि जिसे कवियों ने प्रयोगों की उद्दाम कामना का फल मानकर प्रयोगवाद का अभिधान दिया था, वही प्रयोगवाद सन् 1954 में डॉ0 जगदीश गुप्त और उनके मित्रों के सहयोग से नई कविता का बाना पहनकर अवतरित हुआ।

3. नई कविता -

'पंत' और 'निराला' को नई कविता का स्रष्टा और प्रवर्त्तक स्वीकार किया जाता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से कविता को राजमहलों से उतारकर झोपड़ी तक ले जाने का श्रेय 'पंत' को है। 'युगान्त' और 'ग्राम्या' की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। शिल्प-पक्ष की दृष्टि से कविता को छन्दों के बंधन से मुक्ति दिलाने का कार्य सर्वप्रथम निराला ने किया। 'जूही की कली'(1916) इसका प्रमाण है। इस साहस की उन्हे जबरदस्त कीमत चुकानी पड़ी थी। अनेक आलोचकों ने उन्हें 'केंचुवा छन्द का कवि' तक कह डाला था। इस प्रकार नई कविता के विषय-वस्तु की नींव 'पंत' ने तथा शिल्प-पक्ष की नींव महाप्राण 'निराला' ने डाली थी।

नई कविता का नामकरण प्रयोगवाद के जनक अज्ञेय ने किया। अज्ञेय ने प्रयोगवाद की अभिधा को नकारने के लिए दूसरा सप्तक की भूमिका में अपने को नया कवि तथा उसमें संकलित कविताओं को 'नई कविता' घोषित किया । उन्होंने लिखा -" *नए कवि तथ्यों को उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नए सत्यों का रूप दें, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करें, यही नई रचना है; इसे नई कविता का कवि नहीं भूलता।*"[2] सन् 1952 ई0 में अज्ञेय ने इलाहाबाद रेडियो स्टेशन से 'नई कविता' नामक एक 'फीचर'(वार्ता) पढ़कर सुनाया था। इसी बीच इलाहाबाद में 'परिमल' नामक साहित्यिक संस्था ने सर्वप्रथम एक परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन किया था, जिसमें 'नई कविता' शब्द व्यवहृत किया गया था। इसके बाद सन् 1953 में 'नए पत्ते' नामक पत्रिका का प्रकाशन इसी परिमल संस्था ने किया, जिसमें अज्ञेय की यह वार्ता छपी थी। आधुनिक कविता के सशक्त समालोचक एवं समीक्षक डॉ0 ओउम् प्रकाश अवस्थी ने यह माना कि नई कविता का नामकरण सर्वप्रथम अज्ञेय ने किया।[3] डॉ0 रघुवंश ने अज्ञेय को नई कविता का स्रष्टा स्वीकार किया है और अज्ञेय के पक्ष में यह तर्क उपस्थित किया है कि किसी भी प्रवृत्ति की कविता आगे-पीछे लिखना अलग बात है और नेतृत्व के अनुकूल गत्यात्मक व्यक्तित्व होना अलग बात है। इस दृष्टि से अज्ञेय की स्थिति विवाद से परे है।[4]

आगे चलकर सन् 1954 में डॉ0 जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'नई कविता' अर्द्धवार्षिक पत्रिका निकाली और इसमें प्रयोगवाद से भिन्न रचनाओं को स्थान मिला। इस पत्रिका के कुल आठ अंक निकले। इस पत्रिका के संपादक डॉ0 जगदीश गुप्त ने' अज्ञेय' को ही नई कविता के नामकरण

---

1. *डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 46*
2. *सं. अज्ञेय : दूसरा सप्तक (वक्तव्य), पृ0 11*
3. *डॉ0 ओउम्प्रकाश अवस्थी : नयी कविता : रचना प्रक्रिया, पृ0 81*
4. *डॉ0 रघुवंश : तीसरा सप्तक : आलोचना, कल्पना मार्च, 1960, पृ0 30*

का वाल्मीकि माना। किन्तु साहित्य के विद्वानों को नई कविता के नामकरण को लेकर उस समय सन्देह हुआ, जब डॉ0 गुप्त ने नई कविता के अंक 5-6 में वक्तव्य स्वरूप यह लिखा -*"उसे नई कविता का अधिष्ठित प्रवक्ता होने का गौरव प्राप्त है, वरन् जो एक ओर कविता को अहम् के विलयन का साधन मानता है तथा दूसरी ओर दुनियाँ को स्मरण दिलाना नहीं भूलता कि प्रचलित कविता के लिए नई कविता का नाम उसी ने सुझाया था।"*[1]

कुछ भी हो सन् 1954 से नई कविता का नामकरण साहित्य-जगत में रूढ़ हो गया। इसके अलावा धीरे-धीरे प्रतीक(अज्ञेय), निकष(धर्मवीर भारती), संकेत(उपेन्द्रनाथ 'अश्क'), कल्पना आदि पत्रिकाओं के माध्यम से नई कविता को बल मिला। कुछ लोग प्रयोगवाद को ही नई कविता मानते हैं। यह धारणा भ्रान्ति-पूर्ण है। जिस प्रकार छायावाद के बहुत से कवि प्रगतिवादी रचना में भाग लेने के कारण प्रगतिवादी कहलाए, उसी प्रकार प्रयोगवाद के बहुत से कवि प्रयोग से ऊबकर जब नई कविता के प्रति लालायित हुए तो उन्हें नई कविता का कवि माना जाने लगा।

नई कविता का भावबोध जिस यथार्थ और मानवीय स्तर को स्वीकार करता है, उससे एक नए प्रकार की दृष्टि विकसित होती है; जो सौन्दर्य- बोध को नए परिवेश और नए सन्दर्भ में देखने की प्रेरणा देती है। यह नया सन्दर्भ निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत दर्शाया जा सकता है-

(क) व्यष्टि से समष्टि की ओर

(ख) महामानव से लघुमानव की ओर

(ग) रूप-विरूप साम्य

(घ) राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना

(ङ) प्राकृतिक सौन्दर्य

(च) लोक सम्प्रक्ति

(छ)शिल्प का गणितीय सौन्दर्य

(क) व्यष्टि से समष्टि की ओर -

नई कविता में 'स्व' की स्थापना का स्वर साठोत्तरी कविता में समूहवाची हो गया। उनका व्यक्तिवादी 'मै' व्यष्टिपरक काव्य ही कलान्तर में साठोत्तरी का 'हम' समष्टिपरक हो गया। इस प्रक्रिया से अस्तित्ववादी धारणा को जन्म मिला; जो आधुनिक संकटापन्न युग में 'स्व अस्तित्व' को बनाए रखने के सन्दर्भ में व्यक्ति की स्वतंत्र सम्बद्धता द्वारा गुणात्मक मूल्यों का बोध कराती है। प्रस्तुत कविता इस सम्बन्ध में देखी जा सकती है-

'फूल थी। पर बन गई पहचान
मैं भी स्मरण से नहा आया।'[2]

यहाँ पर 'मैं' से हटकर 'हम' की ओर प्रस्थान करना व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की स्थापना का एक बहुमूल्य प्रयास है। इसे ही नई कविता की सौन्दर्यगत उपलब्धि माना जा सकता है।

यदि नई कविता में अकेलेपन की अनुभूति है तो वह सामाजिकता और व्यक्तित्व के तनाव से

---

1. नई कविता : अंक - 5-6, पृ0 5
2. अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ0 71

उत्पन्न अकेलापन नहीं है, बल्कि उनकी कविता में एक प्रकार का आध्यात्मिक अकेलापन है। उनकी कविता में समाज से कटने की प्रक्रिया अवश्य है, लेकिन इसी बहाने वह आत्मरति की स्थिति में पहुँच गई है। मुक्तिबोध, अज्ञेय, कीर्ति चौधरी आदि का अकेलापन इसी का संकेतक है। कीर्ति चौधरी की ये पंक्तियाँ अकेलेपन और आत्मरति के भाव को जगाती हैं :-

"धीरे से उठकर,
अपनी ही अंजलि में अपना मुख धर
मैंने बहुत देर अपने से प्यार किया।"[1]

'असाध्य वीणा' अज्ञेय की एक आत्मपरक कृति है। यह वीणा असाध्य है, इसे कोई बजा नहीं पाता। यह राजा को वज्रकीर्ति द्वारा प्रदान की गई है। अंत में राजा के आमंत्रण पर प्रियंवद केशकंबली नामक एक साधक आया। उसने पहले वीणा को उठाकर अपनी गोद में रख लिया। फिर धीरे-धीरे उस पर झुककर उसके तारों पर अपना माथा टेक दिया। देखने वालों के मन में आशंका पैदा हुई कि वह कहीं सो तो नहीं रहा है, हारकर तो नहीं वाद्ययंत्र पर झुक गया है? यथा -

"भूल गया था केशकंबली राजसभा को
कंबल पर अभिमंत्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिसमें साक्षी के आगे था
जीवित वही किरीट-तरु................।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियों का तात्पर्य यह है कि साधक अपने लक्ष्य को यानी जीवन-सत्य को तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह लक्ष्य के प्रति जीवन को समर्पित कर दे, यानी जीवन और उसके बीच कोई भेद न रह जाए। नए कवियों की यही समर्पण भावना है। इसी समर्पण भावना के बल पर केशकंबली ने उस असाध्य वीणा को अच्छी प्रकार बजाया और स्वर-संघात से वातावरण को झंकृत कर दिया।

(ख) महामानव से लघुमानव की ओर :-

प्रगतिवाद में मानव-विशिष्टता पर आग्रह नहीं है, बल्कि मानव की कृत्रिमता पर अधिक जोर दिया गया है। उसकी साम्यवादी विचारधारा में 'लघुमानव' का कोई महत्त्व नहीं है। प्रगतिवादी अपने बहुजन जीवन के नारे में 'बहु' के संघरूप को ही (Collection) स्थापित करना चाहता है, व्यक्ति-मानव की इकाई का महत्त्व उनके सामने नहीं था। इसलिए व्यक्ति की बलि वे जीवन की दुहाई देकर करते हैं, साथ ही सौन्दर्य की बलि यथार्थ की दुहाई देकर कर डालते हैं। नई कविता महान के स्थान पर लघुमानव को महत्त्व देती है और यह लघुमानव नई कविता की एक नवीन शोध है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के शब्दों में - *"लघुता परिवेश या मानव व्यक्तित्व की होती है, जबकि जीवन अजस्र स्रोत-सा सतत् गतिशील रहता है। ऐसी दशा में जीवन लघु नहीं होता। उसका सतत् प्रवाह बाँधा नहीं जा सकता।"*[3] डॉ० जगदीश ने लघुता को दूसरो की महानता से उत्पन्न एक अभिशाप माना है।[4] यही कारण है कि नया कवि परम्परा

---

1. कीर्ति चौधरी : तीसरा सप्तक, पृ० 64
2. नंदकिशोर नवल : तीन कवि, तीन कविताएँ, पृ० 32 पर उद्धृत।
3. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ० 110
4. डॉ० जगदीश गुप्त : नयी कविता : स्वरूप एवं सीमाएँ, पृ० 40

से दूर हटकर प्रगति के उस धरातल पर आ जाता है, जहाँ न तथाकथित प्रगतिवाद की नारेबाजी है और, न रूढ़ियों के प्रति मोह, बल्कि व्यक्ति और समाज के बीच एक स्वस्थ और रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास है। डॉ0 रामविलास शर्मा यह तथ्य स्वीकार करते हैं :-

"बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु मानव
लघु जीवन से अमर बनेगा बहुजन जीवन
\+ + + + + +
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है
भय से सिहर उठे वह तरूपात नहीं है।"[1]

इसी प्रकार धर्मवीर भारती ने अपनी रचना 'अन्धायुग' (1955) में लघुमानव के व्यक्तिगत साहस को इस प्रकार व्यक्त किया है -

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाए
\+ + + +
तब मैं रथ का टूटा पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ।[2]

वस्तुतः नया सौन्दर्य-बोध उस बड़े होने की सौन्दर्य-भावना का विरोध करता है, जिसमें मनुष्य स्वयं अपने को छोटा अनुभव करने लगता है।

(ग) रूप-विरूप साम्य :-

नई कविता का कवि सुन्दर को विरूप से प्रथक नहीं मानता, क्योंकि उसका विश्वास है कि इस जगत् में असुन्दर उतना ही सत्य है, जितना सुन्दर तथा विरूप उतना ही महत्त्वशाली है, जितना रूप। विरूपता कोई अश्लीलता नहीं है। कमल के साथ कीचड़ के अस्तित्व को स्वीकार करना सबसे बड़ा यथार्थ है। ये सभी द्वन्द्व-पक्ष-विपक्ष, अनुलोम-विलोम, अनुक्रम-व्यतिक्रम - सौन्दर्य को सम्पूर्ण बनाते हैं। नया कवि सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में जो कीचड़ या उबकाई है, उससे एलर्जी करके अथवा मुँह बिचकाकर कभी नौ दो ग्यारह होने की कोशिश नहीं करता। यथा -

"कीचड़ काई
पाप उबकाई के
स्तर छए थे............?

---

1. डॉ0 लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, पृ0 111 पर उद्धृत।
2. धर्मवीर भारती : अन्धायुग, पृ0 25

याद करो

अब, तुम भी कछुए थे

धरती उठाई थी

सब का बोझा

अपने पर लेने की ताकत कहाँ पाई थी?"[1]

नये कवियों का दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। उनकी सभी उपमान योजनाएँ युगबोध के निकट हैं। आज की नई कविता के सौन्दर्य-बोध के अन्तर्गत प्राकृतिक-बोध कम और युगबोध अधिक है। इन कवियों ने उपयोगी वस्तुओं से बहुत सारे अप्रस्तुत विधान ग्रहण किए हैं :-

(1) **'यह पान फूल सा मृदुल वदन।'[2]**

(2) **'व्यापार का नाम लेते ही। बिजली के स्टोव सी**
जो एकदम सुर्ख हो जाती है।'[3]

(3) **'एक मुट्ठी कौड़ियों-से श्वेत बगुले**
व्योम पर फिक्कर खिले। फिर खो गए।'[4]

पहले उदाहरण में कवि अपने प्रेयसी के वदन को पान-फूल से उपमित किया है। दूसरे में प्यार से उद्दीप्त छवि को बिजली के स्टोव से प्रत्यक्ष किया है। तीसरे में श्वेत बगुलों को सफेद कौड़ियों से उपमित करके बिखर कर ओझल हो जाने की सुन्दर व्यंजना की है। इन कविताओं में पान, बिजली का स्टोव (हीटर) और सफेद कौड़ी की उपयोगिता निर्विवाद है। अतः हम कह सकते हैं कि नए कवियों का दृष्टिकोण समाजोपयोगी तो है ही, साथ ही अधिक से अधिकतर और समग्र से समग्रतर जीवन अर्थमय हो सके, यह उसकी महत्वाकांक्षा है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में - *"जीवन में यदि उन्मुखता है तो और ऊब है, तो दोनों ही अनुभव उसके लिए मूल्यवान हैं। ऊब को भी अर्थ दे सकें, यह उसके लिए एक रचनात्मक चुनौती है, जिसे उसने स्वयं वरण किया है।"*[5]

(घ) राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना :-

राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना सौन्दर्य-बोध के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। राजनीति में व्यंग्योक्ति के माध्यम से तथा राष्ट्रीय चेतना में स्वदेश के प्रति समर्पण भावना के माध्यम से सौन्दर्य-बोध की अभिव्यंजना हुई है। नई कविता को राजनीतिक चेतना उत्तराधिकार के रूप में प्रगतिवाद से मिली है, किन्तु उसके व्यंग्य में वह गर्जन-तर्जन नहीं है जो प्रगतिवाद में थी। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि नए कवियों का राजनीतिक सरोकार न तो तीखा है, और न ही नक्सलवादियों से प्रभावित है। तीखेपन की यह प्रभाविता सन् 1965 के बाद की कविताओं में देखने को मिलती है। नई कविता का राजनीतिक व्यंग्य सरल, सरस,

1. सं. जगदीश गुप्त : नई कविता, अंक - 3
2. धर्मवीर भारती : ठंडा लोहा, पृ०25
3. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : नई कविता अंक, 1,पृ060
4. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, कुँवर नारायन की कविता, पृ0 48 पर उद्धृत।
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी : नयी कविता : एक साक्ष्य, पृ0 30

मीठा एवं सधी हुई भाषा में प्रस्फुटित हुआ है –

"हम जैसे थे, वैसे ही अब भी
शासक बदले। स्थितियाँ बिल्कुल वैसी हैं
इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे.............. लेकिन वे शासन तो करते थे
ये तो संत ज्ञानी हैं। शासन क्या करेंगे?"[1]

इसी प्रकार नई कविता को राष्ट्रीय चेतना भारतेन्दु-युग से पितृ-ऋण और गुरु-ऋण के रूप में मिली है, जिसका स्वरूप उतना निखरा हुआ नहीं है। फिर भी राष्ट्रीय चेतना की अनेक महत्त्वपूर्ण किरणों के प्रकाश से यह कविता आलोकित हुई है। डॉ0 अरूण कुमार के शब्दों में *"कहीं राष्ट्र की श्रद्धा पूर्वक आरती, कहीं देश के जवानों को उद्बोधित करने की राष्ट्रीय भावना है और कहीं अनाचार को पस्त कर देने वाला सहज-शौर्य-प्रदर्शन भी।"*[2] अज्ञेय, शमशेरबहादुर सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा आदि की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना का दिग्दर्शन हुआ है। जिस प्रकार भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' में आँसू बहाने के लिए देशवासियों को आमंत्रित किया, राष्ट्रीय चेतना की ठीक वही धड़कन निम्नलिखित कविता में देखिए –

"फट जा आज धरित्री! मेरी
दुस्सह लज्जा आज मिटा दे
रक्त स्नात वह मेरी साकी
मेरी दुखिया भारत माँ है।"[3]

(ङ). प्राकृतिक सौन्दर्य :-

यद्यपि नए कवियों का मन प्राकृतिक सौन्दर्य में नहीं रमा, फिर भी अधिकांश नए कवियों ने प्रकृति के प्रति अभिरूचि दिखाई है। इनमें अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल, धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ कवियों ने प्रकृति को अलंकरण का रूप देते हुए उसे अप्रस्तुत विधान के माध्यम से व्यक्त किया है, तो कुछ कवियों ने प्रकृति का विशुद्ध चित्रण किया है।

नए कवि ने प्रेमिका को 'कलगी छरहरे बाजरे की' कहा है, जो यह सिद्ध करता है कि उसे परम्परागत उपमान स्वीकार्य नहीं हैं-

"हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की
अगर मैं तुमको ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता

\+ \+ \+ \+ \+ \+ \+ \+

---

1. धर्मवीर भारती : अन्धा युग, पृ0 107
2. डॉ0 अरूण कुमार : नई कविता : कथ्य एवं विमर्श, पृ0 226
3. डॉ0 अरूण कुमार : नई कविता : कथ्य एवं विमर्श, पृ0 221 पर उद्धृत

बल्कि केवल यही, ये उपमान मैले हो गए हैं।

देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच

कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।"[1]

यहाँ पर कवि ने नायिका के लिए 'बिछली घास' तथा 'कलगी बाजरे की' जैसे उपमानों का प्रयोग करके आदर्शवादी सौन्दर्य से विमुख होकर यथार्थवादी सौन्दर्य का परिचय दिया है।

शुद्ध प्राकृतिक कविताओं में सौन्दर्य की अच्छी जाँच-पड़ताल हुई है। प्रकृति के माध्यम से नए कवियों ने सुन्दर, श्रृंगारिक एवं मनोरम वातावरण का सृजन भी अपनी कविताओं में किया है। नए कवियों ने प्रकृति के सहारे जिस माध्यम से अपने काव्य को तराशा है, उसमे अपार निखार एवं मानवीय सौन्दर्य का स्पष्ट आभास परिलक्षित होता है। प्रकृति का मानवीकरण, श्रृंगारिक अनुभूति एवं प्रकृति के गत्यात्मक सौन्दर्य उनकी कविताओं में स्पष्ट दिखाई देते हैं। समग्र नए कवियों में भवानीप्रसाद मिश्र को प्रकृति का पुरोधा कहा जाता है। जिस प्रकार कालिदास को 'वसंत' का, रबीन्द्रनाथ को 'सरिताओं' का तथा निराला को 'बादलों' का कवि कहा जाता है, उसी प्रकार भवानीप्रसाद मिश्र को 'वर्षा' का कवि कहा जाता है -

"बूँद टपकी एक नभ से/ किसी ने झुककर झरोखे से

कि जैसे हँस दिया हो / हँस रही-सी आँख ने जैसे

किसी को कस दिया हो

ठगा - सा कोई किसी की आँख/ देखे रह गया हो।"[2]

नए कवियों ने अपने को मानवीय सरोकार और प्राकृतिक सौन्दर्य की धरती पर प्रस्तुत किया है। वे प्रकृति-सौन्दर्य के समर्पित रचनाकार हैं। काव्य-शिल्प की दृष्टि से प्रकृति के मानवीकरण रूप और उसके गत्यात्मक सौन्दर्य का जितना सफल अंकन केदारनाथ अग्रवाल की कविता में है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। गत्यात्मक सौन्दर्य का एक उदाहरण देखें -

"हवा हूँ हवा मैं

उतर कर भगी मैं / हरे खेत पहुँची

वहाँ गेहुओं में/ लहर खूब मारी..............

खड़ी देख अलसी/ लिए सीस कलसी

मुझे खूब सूझी / हिलाया झुलाया

गिरी न पर कलसी।"[3]

(च) लोक-सम्प्रक्ति -

लोक-सम्प्रक्ति कविता की अपरिहार्य विशेषता है। हिन्दी की कविता पर लोकगीतों की लय, ध्वनि, सहज अलंकार-योजना, सहज भाव-चित्रण और सहज-रूप-चित्रण आदि का सम्यक् प्रभाव पड़ा है। नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन' भवानीप्रसाद मिश्र, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव आदि कवियों की कल्पना लोकजीवन को काव्य में उतारने के लिए प्रयासरत रही है। केदारनाथ सिंह की निम्न 'दुपहरिया'

---

1. *अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर, पृ0 37*
2. *भवानी प्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक, पृ0 13*
3. *डॉ0 अरूण कुमार : नई कविता : कथ्य एवं विमर्श, पृ0 153 पर उद्‌धृत।*

शीर्षक कविता देखिए -

> "झरने लगे नीम के पत्ते
> बढ़ने लगी उदासी मन की,
> उड़ने लगी बुझे खेतों में
> झुर-झुर सरसों की रंगीनी
> धूसर धूप हुई, मन पर ज्यों-
> सुधियों की चादर अनबीनी।"[1]

(छ) शिल्प का गणितीय सौन्दर्य :-

नया कवि भाषा की असमर्थता को देखकर उसमें नया और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है। इसके लिए उसने नए-नए माध्यमों की खोज की है। नए कवियों का छान्दसिक रचना-विधान तो संसार का एक अजूबा है। पंचमात्रिक, रूबाई छन्द, मुक्तक, चीनी टंका (तीन पंक्तियों का), जापानी हाइ कू (पाँच पंक्तियों का) आदि नाना प्रकार के छल-छन्दों का प्रयोग किया गया है। नवीनता के व्यामोह मे पड़कर त्रिकोण, त्रिभुज, कोष्ठक चिह्न, धन-चिह्न, संकेतक चिह्न, निर्देशक चिह्न, अधूरे वाक्य आदि गणितीय चिह्नों का प्रयोग करके कविता में नवीन सौन्दर्य उभारना चाहा है, किन्तु उनकी यह अनुभूति प्रायः भाव-बोध से परे हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि तारसप्तक में अज्ञेय के वक्तव्य से (भाषा को अपर्याप्त मानकर आड़ी-तिरछी लकीरें, छोटे-बड़े टाइप आदि) प्रभावित होकर अनेक नए कवियों ने नवीनता के नाम पर निम्नलिखित खिलवाड़ किया है -

1. 'ए + क = एक
   एक + वियोग = कवि
   एक + वियोग + तीन = कविता।'[2]

   - श्रीरमण

2. →▽←

   "(हाय!)"

   →△←

   (नहीं चैन
   जागते ही कट गई रैन ....
   प्रेम यानी इश्क यानी लव।)
   " ।"
   " ।। "[3]

   - सैय्यद शफी उद्दीन

---

1. केदारनाथ सिंह : तीसरा सप्तक, पृ0 123
2. डॉ0 ओउम् प्रकाश अवस्थी : नई कविता : रचना-प्रक्रिया, पृ0 243 पर उद्धृत।
3. जनभारती अंक-1

3. "मैं------ने

देखा

पेड़

चाँद का ---।"[1] – रमण

4. "साँझ : एक जिद्दी लड़की की तरह

के

कमरे

रे

में घुसी।"[2] – राजा दुबे

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपनी संवेदना और अनुभूति के स्वरों को अभिव्यंजित करने के लिए नए कवियों में व्याकरण के अनुशासन को बड़ी निर्ममता के साथ तोड़ा है। अपने शिल्पगत सौन्दर्य को उभारने के लिए इन्हें कोई सीमा-शर्त स्वीकार नहीं है। डॉ0 ओमप्रकाश अवस्थी के शब्दों में – *"उसका प्रसार यदि फ्रांस की विचित्रता से एक ओर है तो दूसरी ओर ग्राम-गीतों की लोक धुनों तक। यदि उसका दूसरा चरण अमेरिका के क्यूमिंग्ज और ह्विटमैन के पास है तो उसकी बाँहें बँगला-छन्दों के प्रयोगों तक। उसकी उदारता उर्दू को आत्मसात करने की है तो संस्कृत के विषम छन्दों को भी ग्रहण करने में उसने कृपणता नहीं बरती।"*[3]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नई कविता के आयाम अत्यन्त व्यापक हैं। प्रत्येक स्थान पर उसमें नवीनता का आग्रह है। प्रेम और काम, जीवन-मृत्यु का अहम् सवाल, इतिहास और पौराणिकता, मिथकीय प्रसंग, फैन्तासी प्रयोग, आस्था-अनास्था-मूलक स्वर, व्याकरणिक स्वच्छन्दता आदि विभिन्न माध्यमों से नई कविता ने सौन्दर्य-बोध के नए-नए तत्वों की खोज की है और श्लीलता-अश्लीलता की सीमा से मुक्ति पाने का पुरजोर प्रयास करती रही है।

4. अकविता एवं अन्य काव्यान्दोलन :-

नई कविता से पार्थक्य-बोध स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम इलाहाबाद के दो प्रसिद्ध कवियों – श्रीकान्त वर्मा और नरेश मेहता – ने सन् 1958 में 'कृति' पत्रिका का प्रकाशन किया और नवलेखन का एक नया आन्दोलन चलाया। इस पत्रिका के प्रथम अंक के सम्पादकीय में नई कविता और अज्ञेय की कविताओं के प्रति गहरा आक्रोश व्यक्त किया गया, किन्तु यह आक्रोश नई कविता के तत्कालीन वैभव के सामने घुटने टेककर रह गया। कुछ आलोचकों ने तीसरा सप्तक (1959) को नई कविता का अन्तिम दौर कहा। डॉ0 ओमप्रकाश अवस्थी के अनुसार – *"वस्तुतः 'तीसरा सप्तक' इस धारा का पूर्ण विराम है। यहाँ से सन् 1960 के बाद नई कविता की काल-अवधि समाप्त होती है और उसके सामने अस्वीकृत मूल्यों की कविता का रूप दिखाई देता है।"*[4] कुछ सुधी आलोचक इसकी काल-अविध को 1961 तक खींचकर

1. राजेन्द्र किशोर : स्थितियाँ, अनुभव तथा अन्य कविताएँ, पेड़ चाँद का
2. अज्ञेय : समवेत, अंक-1, साँझ
3. डॉ0 ओमप्रकाश अवस्थी : नयी कविता : रचना-प्रक्रिया, पृ0 237
4. डॉ0 ओमप्रकाश अवस्थी : नयी कविता : रचना-प्रक्रिया, पृ0 279

ले गए हैं। वस्तुतः नई कविता की अविच्छिन्न धारा सन् 1964 तक असरार गति से चलती रही, क्योंकि इस काल-अवधि तक इसके प्रतिपक्ष में भले ही विरोध-बाण चलते रहे हों, किन्तु कोई नया नाम उभर कर सामने नहीं आ सका। सन् 1964 के बाद सर्वप्रथम जगदीश चुतर्वेदी ने नई कविता से पार्थक्य-बोध स्थापित करने के लिए एक नया नाम 'अकविता' लाने की पहल की। सन् 1963 में उन्होंने अज्ञेय के सप्तकों से प्रतिस्पर्धा करने के लिए 'प्रारंभ' शीर्षक से 14 कवियों का एक काव्य-संकलन निकाला और कहा कि वे अभिनव काव्य की स्थापना करने जा रहे हैं। इस अभिनव काव्य को ही उन्होंने 'एन्टी पोयट्री'(Anty Poetry), 'नान पोयट्री' (Non Poetry) या 'अकविता' कहा। बाद में सन् 1965 में 'अकविता' पत्रिका में इसका अनुमोदन हुआ। इसके प्रमुख कवियों में जगदीश चतुर्वेदी, गंगा प्रसाद विमल, श्याम परमार, सौमित्र मोहन, रामकमल चौधरी, मोना गुलाटी, चन्द्रकान्त देवताले आदि प्रमुख हैं और आगे चलकर जगदीश चतुर्वेदी ने 1967 में दिल्ली से तीन कवियों के नाम पर 'विजप' नामक एक कविता-संकलन निकाला, जिसमें गंगा प्रसाद 'विमल', जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार को अकवितावादी घोषित किया गया। डॉ0 महेन्द्र मधुकर ने सन् 1966 में जगदीश चतुर्वेदी द्वारा सुझाए गए अकविता को 'कवितान्तर' नाम से सम्बोधित किया और कहा – *"व्यक्तिगत रूप से अकविता से अधिक मैं इसे 'कवितान्तर' कहना उचित समझता हूँ।"*[1]

इस प्रकार हिन्दी-जगत् में नई कविता से अलग पहचान बनाने के लिए सर्वप्रथम 'अकविता' का पदार्पण हुआ, इसके बाद प्रथक-प्रथक यशः प्राप्ति की कामना से नए-नए नामों की नारेबाजी प्रारम्भ हो गई। यह आपाधापी सम्पूर्ण सातवें दशक तक छाई रही। डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'नई-कविता' पत्रिका के अन्तिम अंक (8वाँ अंक) में 'किसिम-किसिम की कविता' शीर्षक के अन्तर्गत नए-नए नामों का विवरण प्रस्तुत किया है – *"सनातनी सूर्योदयी कविता, अपरम्परावादी कविता, सीमान्तक कविता, युयुत्सावादी कविता, अस्वीकृत कविता, अकविता, सकविता, विद्रोही कविता, कबीरपंथी कविता, नाटकीय कविता, एन्टी कविता, एब्सर्ड कविता, साम्प्रतिक कविता, नंगी कविता, सहज कविता, अप्रस्तुत कविता, आँख कविता. ...."*[2]

सातवें दशक में अकविता के बाद जितने भी काव्यान्दोलन हुए, वे सब एक ही प्रवृत्ति के अलग-अलग पहलू हैं। सन् 1966 में 'विद्रोही पीढ़ी' का नाम उपस्थित हुआ। यह केशनी प्रसाद चौरसिया द्वारा इलाहाबाद से सम्पादित 48 पृष्ठों का एक लघु काव्य-संकलन है। इसमें आठ कवियों की तीन से आठ तक कविताएँ संकलित हैं। सन् 1966 में ही श्रीराम शुक्ल ने 'अस्वीकृत कविता' की स्थापना 'उत्कर्ष' पत्रिका के माध्यम से की। इसी प्रकार इसी सत्र में शलभ श्रीरामसिंह ने कलकत्ता से प्रकाशित 'युयुत्सा' पत्रिका के द्वारा 'युयुत्सावादी कविता' का स्वरूप उपस्थित किया। 'सहज कविता' जैसे काव्यान्दोलनों का प्रारम्भ डॉ0 रवीन्द्र कुमार ने 1967 में किया। सहज कविता नए सिरे से कविता की खोज करना चाहती है। सन् 1968 में डॉ0 रणजीत ने बीकानेर से 'प्रतिश्रुत पीढ़ी' काव्य-संकलन निकाला। यह आठ कवियों का संकलन है। इसमें मृत्युंजय उपाध्याय, निरंजन, श्याम सुन्दर घोष, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, जुममिन्दर तायल, अजित पुष्कल, राजीव सक्सेना और रणजीत की सौ कविताएँ संकलित हैं।

---

1. डॉ0 महेन्द्र 'मधुकर' : 'धर्मयुग' पत्रिका, रविवार, 15 मई 1996
2. नई कविता : अंक-8, पृ0 247

इसके अलावा सातवें दशक में पीढ़ियों पर आधारित अनेक काव्यान्दोलन हुए, किन्तु पीढ़ी-आधारित वर्गीकरण पूरी तरह अवैज्ञानिक हैं, फिर भी भूखी पीढ़ी, श्मसान पीढ़ी, नंगी पीढ़ी आदि बहुत सी पीढ़ियाँ आईं।

उपर्युक्त सभी काव्यान्दोलनों को देखने से पता चलता है कि सभी संयुक्त संकलनों के नामकरण भले अलग-अलग हों, किन्तु बात कहने का ढ़ंग एक-दूसरे की कार्बन कापी जैसा प्रतीत होता है। यदि हम नवगीतकारों को छोड़ दें तो सातवें दशक की कविता में प्रधान रूप से केवल दो अन्तर्धाराएँ दिखाई देती हैं- पहली अन्तर्धारा में अकविता के सम्पूर्ण कवियों तथा इससे बाहर रहकर काम करने वाले उन समस्त कवियों को लिया जा सकता है, जो मुख्यतः 'मृत्युबोध' और 'यौनवाद' से प्रभावित हैं। दूसरी अन्तधारा में प्रतिश्रुत पीढ़ी के कवियों के साथ-साथ उन कवियों को भी, जिनमें विद्रोह का स्वर मुखरित है, लिया जा सकता है। ये कवि नई प्रगतिशील चेतना के संवाहक हैं। केदारनाथ सिंह और डॉ0 परमानंद श्रीवास्तव ने इन्हीं दो धाराओं को सातवें दशक की कविता की मुख्य धाराएँ मानते हैं और इन्हें क्रमशः 'अकविता' और 'प्रतिबद्ध कविता' नाम देते हैं।[1]

अकविता, प्रतिबद्ध कविता, विविध काव्यान्दोलनों तथा काव्यान्दोलन से बाहर रहकर लिखने वाले सातवें दशक के अन्यान्य कवियों को दृष्टि में रखते हुए उनकी प्रवृत्तिगत विशेषता के आधार पर इस युग के सौन्दर्य-बोध का आकलन मुख्यतः निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है :-

(i) **अस्तित्ववाद**

(ii) **यौन एवं कुंठावाद**

(iii) **विशिष्ट प्रयोगवाद**

(iv) **समकालीन विचारवाद**

(i) अस्तित्ववाद :-

सामान्यतः अस्तित्व का अर्थ उपस्थिति का बोध होता है, किन्तु अस्तित्व की विवेचना आत्यन्तिक रूप से मानवीय अस्तित्व की पुष्टि करती है। अस्तित्व का सौन्दर्य-बोध कविता में सदैव एक विलक्षण स्वरूप लेकर आता रहा है। सातवें दशक के काव्यान्दोलनों में पीढ़ियों पर आधारित विभिन्न आन्दोलनों में भूखीपीढ़ी, श्मसान पीढ़ी, नंगी पीढ़ी का बोलबाला रहा है। भूखी पीढ़ी पर अमेरिका की 'बीट पीढ़ी', इंग्लैण्ड की 'हंगरी पीढ़ी' तथा जापान की 'हैपनिंग पीढ़ी' का पूरा प्रभाव है। गिन्सबर्ग, कैसवाक, कोर्सो, कीर्केगार्ड तथा सार्त्र जैसे दार्शनिक भी इससे प्रभावित हैं। भारत में भूखी पीढ़ी का आगमन सर्वप्रथम पश्चिमी बंगाल में हुआ, क्योंकि सन् 1963-64 में जब अमेरिका के दार्शनिक गिन्सबर्ग 'बीट पीढ़ी' को लेकर कलकत्ता पधारे तो इस पीढ़ी से वहाँ के शक्ति चटोपाध्याय, सुग्रीव गंगोपाध्याय, मलराम चौधरी, समीरराय चौधरी आदि अत्यधिक प्रभावित हुए। इसके बाद सम्पूर्ण साहित्य में क्षणजीवी ओले की तरह इसका प्रभाव फैल गया। राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन, जगदीश चतुर्वेदी, मोना गुलाटी आदि कवियों की कविताओं में यह भूख, अश्लीलता और अस्तित्व-प्रेम के रूप में इधर-उधर भटकती रही। बंगाली कवियों द्वारा प्रकाशित

---

1. केदारनाथ सिंह : धर्मयुग, सन् साठ के बाद की कविता, 4 जुलाई 1965 एवं डॉ0 परमानंद श्रीवास्तव : आज की कविता : अकविता और प्रतिबद्ध कविता लहर कवितांक, नवम्बर 1966

'भूखी पीढ़ी' नामक कविता-संग्रह की कुछ पंक्तियाँ देखिए -

"मैंने सपने में
मोरार जी भाई को
कुछ सोचते देखा
माथा ठनका
हे भगवन्! ....कहीं सपनों पर टैक्स न लग जाए!"[1]

अकविता एवं अन्य काव्यान्दोलनों से जुड़े हुए कवि क्षण-क्षण जीते हुए संत्रास, भय, अविश्वास, अनास्था, अनिश्चय, बेसब्री, बेचैनी आदि से पीड़ित अनुभूतियों को बड़ी ईमानदारी से व्यक्त किया है; किन्तु उस अनुभूति में गम्भीरता नहीं, बौखलाहट है; तभी तो वह अपने को 'हृदयहीन' घोषित करता है -

"क्या ऐसा सम्भव नहीं
कि मैं हृदयहीन हो जाऊँ
कि एक साथ
बहुत से लड़कों को प्यार करूँ।"[2]

कवि अपनी शिनाख़्त और अस्तित्व के प्रति अत्यन्त आकुल है। उसका मानना है कि 'सहृदय' होने से केवल 'सहृदय समाज' में ही उसकी पहचान बनेगी, हृदयहीन होने से उसकी पहचान का दायरा बढ़ जाएगा क्योंकि हृदयहीनों की संख्या समाज में ज्यादा है। इस प्रकार उसका यह सौन्दर्य-बोध नीरस एवं शुष्क है।

इस दशक में कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जो सचमुच क्षणवाद के माध्यम से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न कर सके हैं। वे क्षण की अनुभूति पर बल देते हैं, क्योंकि वे समसामयिक परिप्रेक्ष्य में अपने को पूर्ण उत्तरदायी समझते हैं। यदि एक क्षण भी निरर्थकता के खाते में चला जाए तो उन्हें इस अभाव शून्यता का जवाब देना पड़ेगा। अस्तित्व जल की वह लहर है जो जल से भिन्न और अभिन्न दोनों है। जल से उसकी भिन्नता नितान्त क्षणजीवी है, जबकि अभिन्नता दीर्घजीवी है। इस प्रकार के दार्शनिक सौन्दर्य काव्य की शोभा बढ़ाने में सदैव सहायक रहे हैं। रत्नाकर की गोपियाँ भी अपने अस्तित्व के प्रति चिन्तित थीं। पानी की एक बूँद के मिलने या न मिलने से समुद्र का कुछ नहीं बिगड़ता, किन्तु उस बेचारी बूँद का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।[3] इसी भावधारा से जुड़ी हुई राजीव सक्सेना की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए -

"अस्तित्व एक लहर की तरह है
जो अपनी स्थिति में है और नहीं भी है
हो गई है रूपायित एक नई धारा में।"[4]

---

1. डॉ० गोविन्द रजनीश : समकालीन हिन्दी कविता : विविध परिदृश्य, पृ० 184 पर उद्धृत।
2. मोना गुलाटी : अकविता, अंक - 5
3. जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहैं बूँद बिवस बिचारी की। - रत्नाकर : उद्धवशतक, छंद सं. 37
4. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर, पृ०201

(ii). यौन एवं कुंठावाद :-

अकविता एवं अन्य काव्यान्दोलनों में व्यक्त अतिकाम की भावना फ्रायड की काम-ऊर्जा का समर्थन है। फ्रायड के अनुसार आधुनिक युग का साधारण आदमी भी यौन-वर्जनाओं का पुंज है। आज के मानव का मन कुंठा और यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और उसकी कल्पनाएँ दमित-कुंठित हैं। पाश्चात्य कवियों में बिल्फ्रेड, ओवेन, रूपर्ट ब्रुक, एजरा पाउन्ण, टी0एस0इलिएट से लेकर डायलन टामस तक यही प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इसी का परिणाम है कि अकविता व्यक्ति के अकेलेपन और उसकी काम-कुंठाओं का चित्रण करती है। जो कुरूप और विकृत है, उसे अनावृत करती हैं और जो अनावृत है, उसे प्रस्तुत करती है। आत्मरति एवं विकृत सम्बन्धों पर टिकी हुई सम्पूर्ण विषय-सामग्री अकविता का मुख्य विषय है -

'क्या ही अच्छा होता कि
सोसाइटी गर्ल की तरह
सोसाइटी ब्वायेज भी होते
इस तरह का न कटने वाला वक्त का
थोड़ा-सा हिस्सा तो किराए पर काटा जा सकता।'[1]

अकवितावादियों के लिए प्राचीन संस्कृति नपुंसक और दकियानूसी जैसी प्रतीत होती है। इस संस्कृति में समाहित सौन्दर्य उसे किंचित भी नहीं भाता। उसे पुरानी कथाओं और पुराख्यान तत्त्वों से अभिमंडित संसार स्वीकार्य नहीं है। यौन-कुंठा से प्रभावित होने के कारण वह अश्लील शब्दावली का प्रयोग करने एवं मानवीय सम्बन्धों का घिनौना चित्र खींचने में पूर्ण माहिर है। अपने को किसी भी चितेरे चित्रकार से कम नहीं समझता। परिणामतः उसका सौन्दर्य-बोध अश्लील शब्दावली में अभिव्यक्त हुआ है-

"जोरू के गुलाम साले तमाम मर्द
पतलूनों के ढीले पायचे चढ़ाकर
सड़कों पर घूमते हैं।"[2]

सातवें दशक के सभी काव्यान्दोलनों की भाषा कटु यथार्थ का अंकन करती है। इसे नंगी भाषा का नाम भी दिया जा सकता है। केवल यौन-विषयों और शब्दों तक सीमित हो जाना ही नंगी भाषा का प्रयोग नहीं है, सच तो यह है कि यौन-शब्दावली को ही आधुनिकता का प्रतीक मानने वाले कवि अपने अश्लील शब्दों को शब्द-कोश में ढूँढ़ते हैं और लोकभाषा में प्रचलित शब्दों अथवा ठेठ शब्दों से कतराते हैं। कविता में महत्व प्रयोग का होता है, शब्दों का नहीं; किन्तु यहाँ पर शब्दों को ही महत्व दिया गया है। डॉ0 जगदीश गुप्त के शब्दों में -*"यदि कुछ शब्द इतने अलग दिखाई देने लगें कि पूरी रचना के स्थान पर ध्यान उन्हीं पर जाए तो सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से प्रयोक्ता की सफलता नहीं, असफलता मानी जाएगी।"*[3] यह देखने वाले का नहीं बल्कि दिखाने वाले का दोष है:-

---

1. *मोना गुलाटी : कृति-परिचय, अकवितांक, पृ0 54*
2. *डॉ0 मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0 317 पर उद्धृत।*
3. *डॉ0 जगदीश गुप्त : कवितान्तर, पृ0 71*

"राज्य का तख्ता उलटकर
नए लड़कों ने किया देश पर अधिकार - दूसरी खबर
तीसरी खबर है-
किसी ने आज अपनी प्रेमिका की योनि पर तेजाब छिड़का।
अब आप पूरी खबरें सुनेंगे.............।"[1]

उपर्युक्त कविता को देखकर कोई यह कहे कि दृष्टि एक स्थान पर न गड़ाकर पूरी रचना को देखना चाहिए तो उसकी यह तरजीह ग़लत है। विकृति तो मूलतः रचनाकार के ही दृष्टिकोण में आई, जिसके कारण वह विशेष प्रकार के शब्द-समूह का प्रयोग करके अपनी विशिष्टता उजागर करना चाहता है।

(iii). विशिष्ट प्रयोगवाद :-

विशिष्ट प्रयोगवाद से तात्पर्य हिन्दी के किसी युग अथवा वाद से नहीं है, बल्कि काव्यभाषा में सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट शब्द-विधान से है। इस काल-अवधि के कवियों ने समाज में अपनी पहचान बनाने के लिए अथवा अपनी सृजनशीलता में नया सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया है। सातवें दशक की बहुत सारी कविताएँ यदि छोड़ दी जाएँ तो सन् 1961 से लेकर 1970 तक की रचनाओं में शब्द-विधान के विशिष्ट प्रयोग के अन्तर्गत ये रचनाएँ प्रमुख हैं - संक्रान्त (कैलाश वाजपेयी), दिनारंभ (श्रीकान्त वर्मा), मुक्ति प्रसंग (राजकमल चौधरी), विजप (विमल, जगदीश, परमार), शहर अब भी संभावना है (अशोक वाजपेयी), आत्म-निर्वासन (राजीव सक्सेना) और इतिहास का दर्द (डॉ० रणजीत)।

सातवें दशक में उपसर्ग-प्रत्यय-योजना, वर्ण-विन्यास-योजना, ध्वनि-बोधक-शब्द, क्रियेतर -वाक्य, नव्यतर क्रिया-प्रयोग, क्रिया विशेषण व विशेषण-प्रयोग, देशज-आगत शब्दावली आदि के माध्यम से कविताओं में सौन्दर्य उत्पन्न करने की पुरजोर कोशिश की गई है। कविता मूलतः सार्थक शब्दों की कला है। अज्ञेय के शब्दों में -*"काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यह बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।"*[2]

ध्वनि-बोधक-शब्द सान्द्र वातावरण को आन्दोलित करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। ध्वनि या नाद आकर्षण का केन्द्र है, ललित कलाओं में एक सूक्ष्म कला है, किन्तु इस दशक में नाद-सौन्दर्य के अन्तर्गत जिन शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है, वे उदात्तवाद की कोटि में नहीं आती है। इन कविताओं में चिड़चिड़ाना, चिचियाना, रिरियाना, कुलबुलाना, भिनभिनाना, मिनमिनाना, कड़कड़ाना, चुचुवाना आदि शब्दों का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया गया है। प्रमाण स्वरूप दो उदाहरण निम्नलिखित है :-

(1) **'भूख से कुलबुलाती हुई ओस की दुधमुँही बूँदे**
अपने अस्तित्व की भीख माँग रही हैं।'[3]

---

1. *डॉ० मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ० 317 पर उद्धृत।*
2. *अज्ञेय : तारसप्तक के नए संस्करण में पुनश्च शीर्षक के अन्तर्गत कवि-वक्तव्य, पृ० 38*
3. *डॉ० रणजीत : इतिहास का दर्द (पृष्ठभूमि से) पृ० 234*

(2) **'मुँह से चुचाता है खून और पीप और मवाद।'[1]**

प्रथम उदाहरण में यदि 'कुलबुलाना' शब्द को प्राथमिकता दे दी जाए तो काई गलत नहीं है, किन्तु जब इस शब्द को अमल, धवल, दुधमुँही, ओस के साथ जोड़ा जाता है तो हमारी मानसिकता कुछ समय के लिए शैर करने के बजाय बीमार हो जाती है। इसके अलावा कवि अस्तित्व की आपाधापी को 'हारिल की लकड़ी' की तरह छोड़ नहीं पाता। अतः सौन्दर्य-बोध द्वादशबानी कुन्दन बनने से वंचित रह जाता है।

दूसरे उदाहरण में 'चुचाना' शब्द एक नई संरचना है जो 'चुवाना' के आधार पर बनाई गई है। यदि कविता की पूरी पंक्ति न पढ़कर केवल 'चुचाना' शब्द का बार-बार प्रयोग किया जाए तो मधुर रस का आभास होता है, किन्तु जब कविता की पूरी पंक्ति पढ़ ली जाती है तो मानसिकता में बदलाव आ जाता है। यह बदलाव एक वीभत्स रस का संचार करता है, जो सौन्दर्य-बोध के लिए अनुपयुक्त है। यदि असुन्दर में सुन्दर खोजने की कोशिश की जाए, तो भी कठिनाई है।

कैलाश वाजपेयी की कविता 'संक्रान्त' का एक उदाहरण देखिए, जिसमें सम्पूर्ण दुनियाँ को एक छत्ते के रूप में उपमित किया गया है, छत्ता मधुमक्खी का हो या कटुमक्खी का, हृदय में दंश और खौफ की स्थिति अवश्य पैदा कर देता है। इस उदाहरण में जहाँ एक ओर नवीनता के प्रति आग्रह है, वहीं दूसरी ओर यथार्थ जगत का भी चित्रण है, जिसके कारण वस्तुपरक सौन्दर्य का एक अनुपम चित्र अंकित हो गया है -

"ऊर्ध्व संगमरमर पर
लगे हुए छत्ते-सी यह सारी दुनियाँ।"[2]

ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। शब्द-विधान के अन्तर्गत इसे कई रूपों में देखा जा सकता है। संज्ञा-विधान के अन्तर्गत 'संगमरमर', 'छत्ता' और 'दुनियाँ' ये तीन संज्ञाएँ हैं। विशेषण-विधान के अन्तर्गत 'ऊर्ध्व', 'यह' और 'सारी' ये तीन विशेषण हैं, किन्तु यहाँ पर 'उर्ध्व संगमरमर पर लगे हुए छत्ते-सी' को एक वाक्यांशीय-विशेषण के रूप में भी मान्यता दी जा सकती है।

(iv) समकालीन विचारवाद :-

सातवें दशक के क्रोड़ में ही समकालीन विचारवाद का बीज-वपन हो चुका था, जिसका भरा पूरा कायिक पौधा सातवें दशक के बाद दृष्टिगोचर हुआ। यह समकालीन विचारवाद या समकालीन विचारधारा है, आगे चलकर यही समकालीन कविता के नाम से जानी गई। प्रतिश्रुत कविता, वाम कविता, विचार कविता और जनवादी कविता की विचारधाराओं का सम्यक संकलन ही समकालीन कविता है। प्रतिश्रुत कविता और वाम कविता ये दोनों काव्यधाराएँ सातवें दशक में जन्म ले चुकी थीं तथा विचार कविता एवं जनवादी कविता ये आठवें दशक के दो नाम हैं, जिनकी विचारधाराएँ एक हैं।

प्रतिश्रुत पीढ़ी सन् 1968 में डॉ0 रणजीत द्वारा बीकानेर से प्रकाशित आठ कवियों - मृत्युजंय उपाध याय, निरंजन महावर, श्यामसुन्दर घोष, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, जुगमिन्दर तायल, अजित पुष्कल, राजीव सक्सेना और रणजीत- का काव्य-संकलन है। यह प्रतिश्रुत पीढ़ी ही प्रतिश्रुत कविता या प्रतिबद्ध कविता के

1. डॉ0 सुधाराजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, जगदीश चतुर्वेदी की कविता : 101 पर उद्धृत।
2. डॉ0 सुधाराजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, पृ0 18 पर उद्धृत।

नाम से जानी जाती है। प्रतिश्रुत कविता का मिजाज एवं उसके तेवर सातवें दशक के सभी काव्यान्दोलनों से भिन्न है। इस कविता ने अपने समय की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विसंगतियों के प्रति सदैव तीखा प्रहार किया है और प्रगतिशील रचनाओं के प्रति सदैव गतिशील रही है।

वाम कविता का स्वर न तो ह्रस्व है और न ही दीर्घ, बल्कि इसकी तीखी और तल्खी भरी अभिव्यंजना 'प्लुत स्वर' में हुई है। प्लुत स्वर दोनों स्वरों की तुलना में तीव्रगामी होता है। वाम कविता इसी स्वर का सहारा लेकर अपने युगबोध के प्रति व्यंग्य प्रहार करती रही है। रमेश कुन्तल 'मेघ', शलभ श्रीराम सिंह और धूमिल इस कविता के प्रारम्भिक पुरोधा हैं। ये सभी लोहियावादी हैं। यदि प्रतिश्रुत कविता में इन तीनों को शामिल कर लिया जाता अथवा ये तीनों शामिल हो गए होते तो 'प्रतिश्रुत कविता' नाम अपने आप में पूर्ण और सार्थक हो जाता। फिर शायद अलग से इन कवियों अर्थात् वामवादियों को 'वाम कविता' की आवश्यकता न पड़ती। प्रतिश्रुत कविता की उष्ण और वाम कविता की अति उष्ण विचारधाराएँ मिलकर समवेत रूप में एक नए साहित्य का सृजन करतीं और यही विचारधारा आगे चलकर शायद प्रतिबद्ध कविता अथवा विचार कविता अथवा विमर्श कविता के नाम से संबोधित की जाती।

यह कहा जा चुका है कि प्रतिश्रुत कविता सातवें दशक के सभी काव्यान्दोलनों से भिन्न है। उसके सौन्दर्य-बोध में युयुत्सा की प्रवृत्ति नहीं है, रुग्णता और कुंठापन नहीं है। उसमें बराबर का रचना-बोध है, ध्वंश-बोधकता नहीं है। नमूने के तौर पर एक उदाहरण इस प्रकार है:-

"वे हर जेल को कहते हैं अस्पताल
और हर अस्पताल को घर
और घर में वे स्वयं बैठे हैं
काले मणिधर
और अपने ही घर में, मेरा अपना निर्वासन।"[1]

– राजीव सक्सेना : 'आत्म निर्वासन' से

उपर्युक्त कविता में वर्तमान राजनीतिज्ञों और प्रतिवादी देशभक्तों पर व्यंग्य किया गया है और कहा गया है कि इनका 'स्व' अपने आप में इतना केन्द्रित हो गया है कि दूसरे का 'घर' हथिया लेने में इन्हें कोई शर्म और संकोच नहीं है।

आठवें दशक के प्रारम्भ में केवल दो नाम उभरकर सामने आए हैं – विचार कविता और जनवादी कविता। ये दोनो ही नाम 'वाम कविता' से प्रभावित हैं, दोनों का स्वर सामाजिक यथार्थ है। ये दो अलग-अलग आन्दोलन नहीं, बल्कि एक ही धारा की कविता के दो अलग-अलग नाम हैं। आठवें दशक में ये दोनों काव्य-धाराएँ 'वाम कविता' में मिल गई। वाम कविता का रूझान बड़ा तीखा, अश्लील और माओवादी है। धूमिल जैसे कवियों की कविताओं में राजनीतिक तल्खियों के कारण नक्सलवाद की आक्रामक मुद्राएँ भी परिलक्षित हुई हैं। इन कवियों ने सड़क से लेकर संसद तक की भाषा का प्रयोग किया है। इस प्रकार आठवें दशक में प्रतिश्रुत कविता और वामकविता के मिले-जुले स्वर गूँजते रहे। आठवें दशक के उत्तरार्द्ध तक पहुँचते-पहुँचते वाम कविता के तेवर मन्द पड़ते गए और इसी के साथ समकालीन कविता का स्वरूप भी बदलता चला गया। परिणामतः समकालीन कविता का रचना-सृजन बिना किसी नाटकीय शोरगुल

1. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर, पृ० 208 पर उद्धृत।

के सच्चे यथार्थ के साथ केन्द्रीय विधा के रूप में आज हमारे सामने है।

सारांश यह है कि सन् 1964 में नई कविता की अविछिन्न काव्यधारा ऐतिहासिक रूप से विराम ले लेती है। इसके विरोध में पार्थक्य-बोध दर्शाने वाली जितनी अल्पजीवी काव्यधाराएँ आईं, वे सब नई कविता के आगे के काव्यान्दोलन हैं। उन्हें नई कविता की परिसीमा में नहीं रखा जा सकता (भले ही उनका भाव-बोध नई कविता से मिलता-जुलता हो) और न हि नई कविता को और आगे खींचकर ले जाया जा सकता है।

सन् 1964 से 1970 तक के सभी काव्यान्दोलनों और इससे इतर कविताओं को समकालीन कविता की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार करते हुए आठवें दशक से उसके बहुआयामी स्वरूप तथा उसके वस्तुपरक सौन्दर्य का काव्यानुशीलन किया जाएगा। अतः नई कविता को समकालीन कविता के घेरे में लाने का प्रयास अनैतिहासिक है।
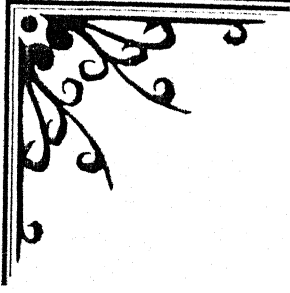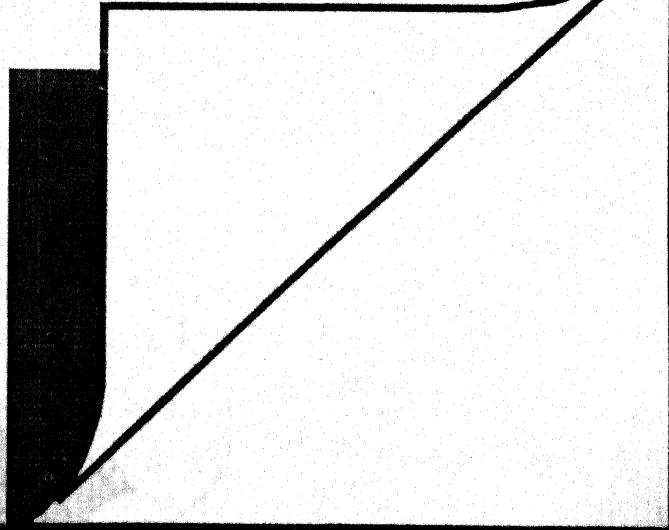
षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय

समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के प्रधान रूपों का मूल्यांकन

1. वस्तुगत सौन्दर्य-बोध
   - (क) यथार्थवादी सौन्दर्य
   - (ख) मानवतावादी सौन्दर्य
   - (ग) लोकवादी सौन्दर्य
   - (घ) प्राकृतिक सौन्दर्य
   - (ड0) बौद्धिक सौन्दर्य
2. शिल्पगत सौन्दर्य-बोध
   - (क) काव्यभाषा और सृजनशीलता
   - (ख) पुराख्यान तत्त्व तथा कवि-समय
   - (ग) अलंकरण
   - (घ) बिम्बगत सौन्दर्य
   - (ड0) प्रतीकगत सौन्दर्य
   - (च) छन्द और लयात्मक सौन्दर्य
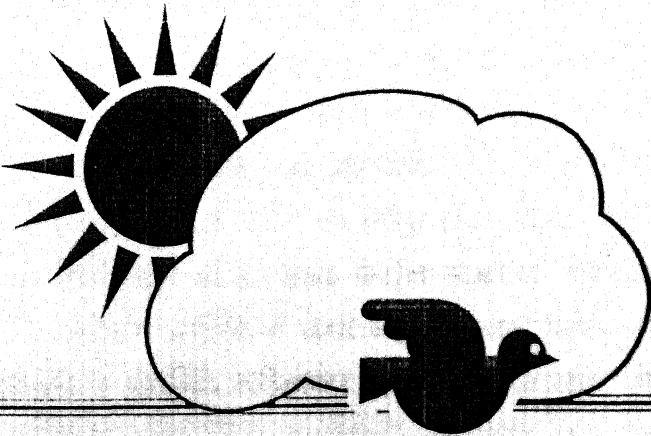
षष्ठ अध्याय

समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के प्रधान रूपों का मूल्यांकन

सौन्दर्य की सत्ता को लेकर वस्तुवादी, भाववादी, आत्मवादी, उदात्तवादी, कल्पनावादी और शिल्पवादी इत्यादि नाना विरोधी वर्ग कविता के विकास काल से ही चलते चले आ रहे हैं। वस्तुवादी वस्तुगत सत्ता में, भाववादी मनुष्य के मन में, आत्मवादी वस्तु के आन्तरिक स्वरूप में, उदात्तवादी महान आत्मा में, कल्पनावादी बिम्ब में और शिल्पवादी विषय के टेकनीक में सौन्दर्य को खोजते आए हैं। इस आधार पर सौन्दर्य-बोध के कई वर्ग बनते हैं, किन्तु सबका समवेत रूप में आकलन करने के पश्चात् समकालीन कविता के सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है- प्रधान रूप और गौण रूप। प्रधान वर्ग के अन्तर्गत वस्तुगत और शिल्पगत सौन्दर्य-बोध को रखा गया है तथा गौण वर्ग के अन्तर्गत भावगत, आत्मगत, उदात्तगत एवं कल्पनागत सौन्दर्य-बोध को रखकर उनका मूल्यांकन किया गया है। इस आधार पर समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के प्रधान रूप इस प्रकार है :-

1. वस्तुगत सौन्दर्य-बोध
2. शिल्पगत सौन्दर्य-बोध

1. वस्तुगत सौन्दर्य-बोध :-

वस्तुगत सौन्दर्य-बोध को रूपगत सौन्दर्य-बोध की भी अभिधा दी गई है। इस वर्ग के सौन्दर्य-चिन्तकों के अनुसार सौन्दर्य वस्तुगत सत्ता पर निर्भर रहता है, वह सौन्दर्य उस वस्तु में अपने आप समाया हुआ है, उस पर मन या आत्मा का आरोपण करना व्यर्थ है। दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य की सत्ता वस्तुओं से हटाकर मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा पर छोड़ देना असंगत है। वस्तुगत सत्ता कोई अपार्थिव अगोचर सत्ता नहीं है। सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह रूपाकार में निहित रहता है। वस्तुगत सौन्दर्य-बोध का मूल्यांकन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है -

क. यथार्थवादी सौन्दर्य
ख. मानवतावादी सौन्दर्य
ग. लोकवादी सौन्दर्य
घ. प्राकृतिक सौन्दर्य
ड0. बौद्धिक सौन्दर्य

(क) यथार्थवादी सौन्दर्य :-

यथार्थवाद साहित्य की एक विशिष्ट चिन्तन-पद्धति है, जिसके अनुसार कोई कलाकार अपनी कृति में जीवन के यथार्थ रूप का अंकन करता है। यह दृष्टिकोण वस्तुतः आदर्शवाद का विरोधी है। यथार्थ के दो रूप मिलते हैं - प्रकृतिवाद और सामाजिक यथार्थवाद। प्रकृतिवाद नियति में पूर्ण विश्वास करके चलता है, नियतिवादी होने के कारण वह व्यक्ति अथवा समाज में सुधार आदि को असाध्य मानता है। इस अर्थ में वह निराशावादी भी है। इसके विपरीत सामाजिक यथार्थवाद न तो नियतिवादी है और न निराशावादी।

यूरोपीय साहित्य में जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ड, जोला मोपाँसा, ई0ई0कमिंग्स, फ्लावेयर आदि प्रकृतिवाद के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं। बाल्जाक, टालस्टाय, गोर्की आदि सामाजिक यथार्थवाद के लेखक हैं।

भारतीय साहित्य में अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी पर फ्रायड का प्रभाव अधिक होने से उन्हें अक्सर प्रकृतिवादी मान लिया जाता है। सामाजिक यथार्थवाद के रचनाकारों में प्रेमचंद, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, दिनकर, निराला और कुछ अंशो में पंत का नाम उल्लेख्य है। इधर प्रयोगवादी कवियों - रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध और धर्मवीर भारती की कविताओं में सामाजिक यथार्थ की प्रवृत्ति दिखाई देती है। समकालीन कविता में सामाजिक यथार्थ का भरपूर चित्रण हुआ है। हिन्दी साहित्य-कोश के अनुसार *"आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का सम्मुच्चय ही सामाजिक यथार्थ है। ये शक्तियाँ मिलकर उस सामाजिक वातावरण का निर्माण करती हैं, जिनसे हमारे संस्कारों की सर्जना होती है।"*[1]

सातवें दशक में विद्रोही पीढ़ी, विजप तथा अकविता ने मृत्युबोध और युयुत्स मुद्रा के जो आक्रामक और रुग्णवादी संस्कार ग्रहण किए थे, वे आठवें दशक में समाप्त हो गए। इसी के साथ नए-नए नामों की प्रतिस्पर्धाएँ भी समाप्त हो गई। आठवें दशक में मुख्य रूप से केवल दो नाम उभरकर सामने आये - विचार कविता और जनवादी कविता। दोनों की विचारधाराओं और कार्यप्रणालियों में पर्याप्त साम्य होने के कारण कुछ मनीषियों ने इसी को 'वाम कविता' कहा है। ये सभी नाम समकालीन कविता के पोषक हैं और सामाजिक यथार्थ के नाम पर समाज में जहाँ कहीं भी विसंगतियाँ दिखाई देती हैं, उन्हें काव्य-स्वर के माध्यम से दूर करने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक यथार्थ में जिस आर्थिक सम्मुच्चय की कल्पना की गई है, समकालीन कविता उसके प्रति पूरी तरह सचेष्ट है। आज के कवि को प्रातः कालीन मलयानिल, सुमन-गंध, खगों का कलरव उतना प्रभावित नहीं करता, क्योंकि प्रातः काल होते ही वह अपनी बेकारी को सोचने लगता है। आज का भारतीय आम आदमी भूख और गरीबी का शिकार है। वह इन दोनों के शिकंजों में इतना अधिक जकड़ा हुआ है कि उनसे परे वह सोच ही नहीं सकता। आर्थिक विषमता के कारण वह जो जिन्दगी जी रहा है, वह बेमानी है, ऊब से भरी हुई है, वह बस भरी हुई जिन्दगी को जीवित रखने का चाव भर है -

"एक भेड है
जो दूसरों की ठंड के लिए
अपनी पीठ पर
ऊन की फसल ढो रही है।"[2]

इस देश का आदमी एक शब्द है, कुहरा, कीचड़ और काँच से बना हुआ, जिसमें न उत्तेजना है और न विद्रोह। निरन्तर शोषित बने रहना ही उनकी नियति है। वह एक ऐसी भेड है जो बुद्धिजीवी अवसरवादियों के लिए ऊन की फसल ढोए जा रही है। आत्मगत तनाव के सिलसिले में कवि ने इन्हें जिस रूप में लिया है, वह इस बात का सूचक है कि कवि तनाव को महज वैयक्तिक अर्थ में ग्रहण नहीं कर रहा, बल्कि उसे व्यापक धरातल पर प्रतिफलित कर रहा है।

समकालीन कविता में अर्थ-तंत्र को लेकर क्रान्ति, मजदूर, हड़ताल, बोनस, शोषण, धोखाधड़ी आदि अनेक प्रश्नों को उठाया गया है :-

1. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश : भाग - 1, पृ0 758
2. धूमिल : संसद से सड़क तक (पटकथा से) पृ0 104

"हर मिल में अमन है / चैन है
उत्पादन बढ़ रहा है
उत्पादन करने वालों का वजन घट रहा है
कैसे बढ़े लोगों का लगातार घटता वजन
कैसे सुधरे उनके आँखों की रोशनी
कैसे सँवरे उनके बाल/ कैसे आए उनके बच्चों के
चेहरों पर / सदियों से गायब चमक।"[1]

यहाँ पर मिल-मालिकों के शोषण की घिनौनी प्रवृत्ति का पर्दाफाश किया गया है, मजदूरों की बेवसी का करूण चित्र खींचा गया है, मजदूर नेताओं के बिकाऊपन को उभारा गया है। कवि मजदूरों के घटते हुए वजन और उनके विक्षिप्त परिवार के प्रति विशेष चिन्तित है। उसकी यह चिन्तना विश्वव्यापी है और समाज में एक 'सम अर्थतंत्र' की व्यवस्था कायम करना चाहती है।

यथार्थ का मुख्य स्वर राजनीतिक प्रतिपक्ष का है, जो बड़ा ही गहरा और तीखा है इस राजनीतिक हलचल से आज के नए युवा समकालीन कवि उग्र वामपंथी चेतना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। समकालीन कवियों की यह वामपंथी रूझान स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है, क्योंकि सही लेखन के लिए अन्याय, दमन, शोषण और इजारेदारी का पक्षधर होना सम्भव नहीं होता। इसीलिए समकालीन कविता में 8वें दशक के नये कवियों का स्थापित व्यवस्था के प्रति आक्रामक रवैया, माओवादी राजनीतिक विचारध ारा का साहित्यिक संस्करण समझा जा सकता है। *"आम आदमी के लिए दो रोटियों के सीमित लक्ष्य तक जीवन-निर्वाह करना और अपने अस्तित्व की पहचान बनाये रखना दूभर हो गया। वह स्वयं को बड़ा असुरक्षित, बेसहारा, दिशाहीन-सा हाथ में राशन कार्ड थामे, दीवारों पर टँगे पोस्टर अथवा सलीब पर लटके भूखे मसीहा की तरह हवा में झूलता हुआ पा रहा था।"*[2]

आम आदमी का नासूर समकालीन कविता को विद्रोह और प्रतिहिंसा के लिए भड़काता है। इसीलिए वाम कवि धूमिल नक्सली मुद्रा में कहता है-

"तुम वापस चले जाओ
हत्यारी संभावनाओं के नीचे
सहनशीलता का नाम
आज भी हथियारों की सूची में नहीं है
रात खत्म हो चुकी है/ और वह सुरक्षित नहीं है
जिसका नाम हत्यारों की सूची में नहीं है।"[3]

जिन कवियों में व्यंग्य, आक्रोश और आक्रमता विशेष रूप से देखने को मिलती है, उनमें धूमिल, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, वेणु गोपाल, रणजीत, लीलाधर जगूड़ी आदि के नाम प्रमुख हैं।

जब कोई रचनाकार किसी सामाजिक स्थिति के प्रति विद्रोह करता है तो वह उसका यथार्थवादी चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार वह अपने पाठक के मन में उस आक्रोश को जन्म देना चाहता है, जिसके

1. प्रताप सहगल : सवाल अब भी मौजूद है (साक्षात्कार -29 अप्रैल 1982),पृ045
2. युग-परिबोध : जनवरी-मई 1977, पृ0 7
3. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 - 81

बिना किसी सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। आज आम आदमी के लिए पुलिस से कोई राहत नहीं है, उसके लिए पुलिस का कानून अन्धा और बहरा है। वह उत्कोच स्वरूप पैसा नहीं दे सकता, परिणामतः न्याय से वंचित रह जाता है। रिश्वत न देने की विवशता में वह पुलिस-कर्मी उस आदमी से गवाह और डाक्टरी रिपोर्ट की माँग करता है -

"दीवान कहता है - कल आना
मगर अपना गवाह भी साथ लाना
और किसी डाक्टर से यह भी लिखवा लेना
कि तुमने मार खाई ही खाई है।"[1]

यहाँ पर व्यवस्था की लचरता, पुलिस-विभाग की रिश्वत खोरी और आम आदमी की विवशता का यथार्थ अंकन हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि समकालीन कविता का सौन्दर्य-बोध ा छोटे परिवेश में जीने वाले आम आदमी की संवेदना को स्वीकार करता है।

यथार्थवादी सौन्दर्य को लेकर आठवें और नवें दशक की कविता में कोई खास गुणात्मक अन्तर नहीं है। एक अन्तर अवश्य दिखाई देता है और वह यह कि वाम-कविता की जो बौखलाहट और आक्रोश-व्यंजना आठवें दशक में थी, वह नवें दशक और इसके बाद की कविताओं में नहीं है। इस दशक की कविता में देश-विदेश का तो चित्रण हुआ ही है, किन्तु स्वदेशी रूझान ज्यादा गहरा है। समकालीन कवि को यह विश्वास हो चुका है कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान इतना समृद्ध है कि उसे बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। अशोक वाजपेयी के शब्दों में - *"यद्यपि पिछले पच्चीस वर्षों में हिन्दी साहित्य पर पश्चिम का गहरा प्रभाव रहा है, पर इधर कम-से-कम समकालीन कविता को देखते हुए लगता है कि हमारी आधुनिकता अब उतनी पश्चिमाभिमुख नहीं रही।"[2]*

आज की कविता अपने इतिहास और भूगोल से जुड़ी हुई है, इसीलिए वह अपने आम आदमी से ज्यादा सरोकार रखती है। आज सरकारी तंत्र की अनियमितता के कारण जिन कर्मठ और ईमानदार कवियों को 'पुरस्कार' मिलना चाहिए, उन्हें न मिलकर चाटुकार कवियों को मिल जाता है; ऐसे ताजपोशी हकदारों का समकालीन कविता विरोध करती है -

" पत्थर / अगर तेरहवें प्रहार में टूटा
तो इसलिए टूटा
कि उस पर बारह प्रहार हो चुके थे
तेरहवाँ प्रहार करने वाले को मिला
पत्थर तोड़ने का सारा श्रेय
कौन जानता है, बाकी बारह प्रहार
किसने किए थे।"[3]

उपर्युक्त कविता से स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति ने पत्थर पर बारह बार प्रहार करके उसके

---

1. *लीलाधर जगूड़ी : बची हुई पृथ्वी, पृ0 110*
2. *अशोक बाजपेयी : कुछ पूर्वाग्रह : अपना रथ पे हम जीते रहे, पृ0 10*
3. *प्रधान सं0 विजय कुमार राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), राजेन्द्र राजन की कविता, - पृ0 26, मार्च 1997*

अन्तः प्रदेश को ढीला और कमजोर किया था, उसका कहीं नाम नहीं है। जिस व्यक्ति ने बिना किसी परिश्रम के चाटुकारिता का संबल लेकर सारा 'फल' हथिया लिया, उसका जयघोष किया गया। समकालीन कविता ऐसे कर्मठ और श्रम-शील व्यक्ति को उसका हक दिलाना चाहती है और महान के स्थान पर लघु, उच्च के स्थान पर सामान्य तथा व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की स्थापना करना चाहती है। उसका यही सौन्दर्य-बोध है।

आज की दल-बदल की राजनीति में फँसा हुआ व्यक्ति उससे निकलना चाहता है, किन्तु उसका मोह-पाश इतना तिलस्मी है कि वह उससे निकल नहीं पाता। आज का दिल्ली-दरबार किसी भी 'इन्द्र-सभा' से कम नहीं है। देवराज के 'इन्द्र-पद' को पाने के लिए जोड़-तोड़ की राजनीति करते-करते समकालीन युग के न जाने कितने 'तथागत' और 'विश्वामित्र' खफा हो गये, न जाने कितने त्रिशंकु आज भी निराधार लटके हुए हैं। सधे-सधाए शब्दों में बिना किसी आक्रोश के यह यथार्थ कितना रमणीक है। राजेन्द्र वर्मा की जुलाई 2002 में प्रकाशित कविता 'बीत रहे दिन-मास-वर्ष' में इसका यथार्थांकन हुआ है-

"इन्द्रसभा के पीछे पागल
विश्वामित्र हुए
कैसे प्राप्त परमपद हो, बस इसका युद्ध छिड़ा
अभिशापित त्रिशंकु जीता है सिर धुनते-धुनते।"[1]

समकालीन कविता उपर्युक्त भागदौड़ में लगे हुए लम्पटी व्यक्तियों को आगाह करती है कि कामनाओं की शान्ति कभी कामनाओं के उपभोग से नहीं होती, वह तो अनल में डाले गये घृत की तरह और अधिक प्रज्ज्वलित होती है। अतः उन्हें 'त्यक्तेन भुंजीथाः' का सहारा लेकर जीवन को सार्थक और सफल बनाने की होड़ में लग जाना चाहिए।

(ख) मानवतावादी सौन्दर्य :-

मानवतावादी सौन्दर्य मानवीय सौन्दर्य से भिन्न है। मानवीय सौन्दर्य में इन्द्रिय-बोध की प्रधानता होती है, जिसके कारण वह सौन्दर्य आंगिक चित्रण तक सीमित रह जाता है। मानवतावादी सौन्दर्य अखण्ड, अगोचर और रूपातीत होता है; इन्द्रिय-बोध के बल से उस रूपातीत को नहीं पकड़ा जा सकता। उसके लिए सूक्ष्म अनुभूति और संवेदना की आवश्यकता होती है। सातवें दशक की कविता विभिन्न अल्पजीवी काव्यान्दोलनों के मध्य पिसती रही, जिसके कारण मानवतावादी सौन्दर्य का स्वस्थ स्वरूप विकसित न हो सका। सातवें दशक के बाद समकालीन कविता मानवीय सरोकारों से जुड़ गई।

समकालीन कविता में मानवतावादी सौन्दर्य को प्रक्षेपित करने के लिए निम्नलिखित चार धरातल साफ-साफ दिखाई देते हैं :-

(i) अभावपरक धरातल
(ii) अनुभूतिपरक धरातल
(iii) सांकेतिक धरातल
(iv) विसंगतियों की आड़ का धरातल

1. प्रधान सं0 विजय कुमार राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 57, जुलाई - 2002

(i) अभावपरक धरातल :-

अभावपरक धरातल के अन्तर्गत 'नहीं' को 'हाँ' के रूप में स्वीकार किया जाता है। मानवता के अभाव को सूचित कर देना मानवता के प्रति श्रद्धा का भाव ही जगाता है। इससे कम से कम यह तो एहसास हो ही जाता है कि मानवता की अवधारणा का यदि पालन हो जाए तो जीवन में शान्ति की संभावना काफी बढ़ जाती है। आज मनुष्य असुन्दरता और विरूपता के दुष्कर जाल में फँस गया है, किन्तु ये दोनों ही विषमताएँ समकालीन कविता के लिए विशेष महत्व और मूल्य की वस्तु है। गौतम बुद्ध को शायद उस असुन्दर ने अधिक प्रेरणा दी थी जो जर्जरित कंकाल के रूप में प्रस्तुत होकर अनुभूति के स्तर को झंझोड़ गया था। कलिंग का लोमहर्षक युद्ध और उसका वीभत्स ही अशोक को यह विवेक दे सका था, जिसमें मानवीय करूणा के प्रति सहसा आस्था जाग्रत हो सकी थी। आज मानवता के नाम पर घर और समाज से 'वृद्धोपिसेविनः' का लोप हो रहा है। बुजुर्गों का अभिवादन नहीं हो रहा है। पिता द्वारा पुत्र की और पुत्र द्वारा पिता की अवहेलना तथा केवल अपने सुख तक सीमित रहने की संकीर्ण मनोवृत्ति की अभिव्यंजना हो रही है, समकालीन कविता इन सब अभावों को दिखाकर एक प्रकार से मानवतावादी सौन्दर्य की संस्थापना करना चाहती है; यथा :-

> **"सत्तावन बरस के आदमी से कोई नहीं पूछता**
> **उसके प्रेम के बारे में**
> **कोई नहीं पूछता रगों में दौड़ती-फिरती**
> **उसकी इच्छाओं के बारे में**
> **कोई नहीं पूछता आँखों में बसे**
> **उसके सपनों के बारे में।"[1]**

यही कारण है कि राष्ट्रीयता से ऊपर उठता हुआ समकालीन कवि अन्तरराष्ट्रीयता को व्यक्त कर रहा है। देश का सुख-दुख समूचे विश्व का सुख-दुख बनता जा रहा है। मानवता के इसी दीर्घ पटल के कारण समकालीन कवि राष्ट्रीय समस्याओं में तो रूचि रखता ही है, साथ ही चीन, जापान, सोवियत संघ, अमेरिका, अफ्रीका, न्यूयार्क, वियतनाम, ईरान, ईराक, मेक्सिको सिटी आदि की समस्याओं से भी अपने को जुड़ा हुआ पाता है। मेक्सिको सिटी और दिल्ली की सड़कों पर काम करने वाले बाल-श्रमिकों का चित्रण सुरेशचन्द्र शुक्ल की कविता 'महानगरों के बीच' में देखिए -

> **"मेक्सिको सिटी में / दो वक्त की रोटी से ज्यादा**
> **ड्रग्स पर आश्रित/ माफिया के गिरफ्त में फँसे**
> **वदन बेंचते बच्चों का बचपन?**
> **दिल्ली की सड़कों और बुद्धिजीवियों के घरों पर**
> **बाल मजदूरों की अपनी व्यथा है?**
> **जितनी गरीबी उतनी ही सजा है।"[2]**

---

1. प्रधान संपादक-अरूण पुरी : इंडिया टुडे (साहित्य वार्षिकी)
   भागवत रावत की कविता, पृ0 136, 1997
2. सं0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ0 108 अप्रैल जून 2001

अभावपरक धरातल का यह विश्वव्यापी दृष्टिकोण मानवतावाद की चेतना से अनुप्राणित है।

(ii) अनुभूतिपरक धरातल :-

अनुभूतिपरक धरातल के अन्तर्गत अनुभूति और संवेदनशीलता को मानवता की कुंजी माना जाता है। क्योंकि इसी रामबाण के सहारे समकालीन कवि जाति, देश, भाषा, वर्ग और धर्म के संकीर्ण बन्धनों को तोड़कर प्राणिमात्र से प्रेम करने की संवेदना जुटा लेता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "वह अपनी अपार सहानुभूति से पद्दलित मानव के अशेष निहित शक्तियों और संभावनाओं का उल्लेख करता है।"[1]

प्रेम अनुभूति की वस्तु है, विचार की नहीं। सभी धर्मों के मूल तत्व एक जैसे ही हैं, फिर भी मानवता की अनुभूति उनके व्यावहारिक धरातल पर नहीं आ पाती। ईर्ष्या और वैमनस्य तो पारिवारिक प्रेम-सम्बन्धों में भी आग लगा देते हैं, फिर विश्व-प्रेम और मानवतावाद तो और आगे की चीज है। विश्व-प्रेम और मानवतावाद को बढ़ावा देने का काम जितना समकालीन कवियों ने किया है, उतना किसी ने नहीं किया; यथा -

"आत्मिक सूत्र अदेखे / कुसुम-गन्ध से जुड़े
चुम्बन खिंचे लोहे से / हृदय के हृदय मुड़े।"[2]

आत्मा के सूत्र अदृश्य होते हैं; किन्तु मानव को मानव से पुष्प-गन्ध की तरह तथा हृदय को हृदय से चुम्बक की तरह जोड़ते हैं। इस जुड़ाव में जाति, धर्म, राष्ट्र, भाषा आदि मानव के विभाजक तत्व आड़े नहीं आते।

(iii) सांकेतिक धरातल :-

सांकेतिक धरातल के अन्तर्गत वैश्विक मानवतावाद को प्रतीकात्मक अभिव्यंजना द्वारा रूपायित किया जाता है। मानवता जब अनुभूति का रूप धारण कर लेती है तो व्यक्ति अपने आप को भूलकर दूसरों के कष्ट से विचलित होने लगता है। गौतम ने जब बीमार एवं कमर से झुके व्यक्ति को देखा तो उनमें लोकोत्तर संवेदना जगी, जिसमें सम्पूर्ण विश्व के प्रति सहानुभूति बिम्बित थी। आज की आजादी, गुलामी से भी ज्यादा बदतर हो गई है। ऐसी परिस्थिति में मानवतावादी सौन्दर्य को गहरी चोट लग रही है। स्वतंत्रता दिलाने वाले तिलक और गाँधी की सांकेतिक संवेदना इन पंक्तियों में अवलोकनीय है :-

"समाजवाद के मसीहा
आज भारत में यदि तिलक और गाँधी फिर जन्मे
तो जानते हो, वे क्या कहेंगे?
वे चीख-चीखकर कहेंगे -
यह मेरे सपनों की आजादी नहीं है, नहीं है
इस आजादी से तो कहीं गुलामी बेहतर थी।"[3]

---

1. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ0 72
2. सं0 मधुकर गौड़ : गीत और गीत : डॉ0 दयाकृष्ण विजय, पृ0 48,1991 - नगर ज्योति, मुम्बई
3. डॉ0 तपेश्वर नाथ : सूर्यग्रहण, प्रथम संस्करण 1978, पृ0 9

यहाँ कवि व्यवस्था के साथ बगावत नहीं करता, बल्कि अपने व्यंग्य-बाणों से तीखा प्रहार करता है। कविता में जो नैराश्य और टूटन उपस्थित हुआ है, उसे दूर करना समकालीन कवि अपना कर्तव्य समझता है।

अपने परिचितों, सम्पूर्ण सम्बन्धियों, जाति-भाइयों तथा सम्पूर्ण सहनागरिकों को छोड़कर व्यक्ति जब किसी अनजान व्यक्ति के प्रति प्रेम दिखाता है तो वह विश्वप्रेम की श्रेणी में आ जाता है। उमाशंकर तिवारी की पंक्तियों में देखें -

"चेहरा छोड़कर अपना / कभी घर से निकल जाता
मेरे सामने होते हजारों आइने चेहरे
ठिठक कर भागते चेहरे / बगल से झाँकते चेहरे।"[1]

कवि को दिखाई देने वाले ये चेहरे न तो उसके अपने हैं और न उसके सम्बन्धियों के। ये चेहरे विश्वभर के चेहरे हैं, जिन्हें सहानुभूति और सहारे की आवश्यकता है। इस कथ्य में निहित तत्व मानवतावादी सौन्दर्य का ही संकेत देता है। मानवता का ऐसा सांकेतिक धरातल समकालीन कविताओं में स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है।

(iv) विसंगतियों की आड़ का धरातल :-

मानवतावादी सौन्दर्य की स्थापना के लिए विद्रोह और शिकायत का स्वर प्रमुख माना जाता है, यह स्वर धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक किसी भी कोटि का हो सकता है। आज के वर्गहीन समाज में भी धनी-मानी वर्ग को अपनी प्रभुता पर 'अहं' है, आज समाज में चारो ओर वासनाओं का काजल और विलास का मनोराज्य फैला हुआ है। इन्द्रियों के बड़े-बड़े स्वामी भी अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पा रहे; आज जन्नत में भी लोग खुदा की इबादत करने नहीं, ऐशो-आराम के लालच से जाने के लिए चोर-दरवाजा तलाश रहे हैं। आज के परिवेश में इन्द्र द्वारा प्रताड़ित अहल्या नारी-अस्मिता का प्रश्न-चिह्न लेकर खड़ी है और 'राम' से प्रश्न करती है -

"सर्वमान्य सामान्य न नारी का जीवन है,
दग्ध, प्रवंचित, अभिशापित नारी-समाज है
\+ \+ \+ \+
हरण-अपहरण हिंसा का आतंक घना क्यों?
जीवन के यातना शिविर में कुंठा या संत्रास तना क्यों?[1]

समकालीन कविता में प्रायः यह कहा जाता है कि हर जगह मार-काट मची है, तो इसका अर्थ यह भी होता है कि मार-काट नहीं होनी चाहिए। उपर्युक्त कविता में अहल्या की अविराम गाथा सुनकर राम का माथा क्रोधानल से चमक उठा और आसुरी शक्तियों के विनाश हेतु अपना 'आयुध' उठा लिया। उनके हृदय-अन्तराल से निकलने वाली प्रज्ज्वलित वाणी देवलोक तक पहुँचती है, जिससे इन्द्र भयाक्रान्त हो जाता

---

1. डॉ० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' : यात्रा के साथ-साथ, पृ० 83, 1984,
- पराग प्रकाशन, दिल्ली

2. डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ० 67-71

है। तात्पर्य यह है कि अहल्या और राम के संवेगात्मक संवाद नारी-जागरण का एक इतिहास रचते हैं। ऐसे ही संवाद मानवतावादी सौन्दर्य के उन्नायक एवं परिपोषक माने जाते हैं।

इसी प्रकार वंदना केंगरानी ने बाल-श्रम और बाल-विवाह के सन्दर्भ को लेकर वर्तमान सरकार और उसकी शिक्षा-प्रणाली पर गहरा व्यंग्य किया है। यह व्यंग्य यह सूचित करता है कि समाज में ऐसा नहीं होना चाहिए। इनकी कविता 'बहस जारी है' का एक अंश देखिए -

" बहस जारी है -
लड़कियों को पढ़ाना जरूरी है
\+ \+ \+ \+
इससे परे
लड़कियाँ थाप रही हैं उपले
तोड़ रही हैं पत्थर
खट रही हैं चूल्हे की आग में
उग रही हैं मातृत्व का बोझ कच्ची उम्र में।"[1]

समकालीन कविता की मानवतावादी चेतना मनुष्य को उसके असली परिवेश में प्रस्तुत करके उसके व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण में संलग्न है, जिससे वह अपने दायित्व-बोध से सजग होकर स्वस्थ समाज की इकाई बन सके।

21वीं सदी के आरम्भिक दशक का मानव युद्ध की पुनर्विभीषिका नहीं देखना चाहता। पाक और भारत के बीच आपसी तालमेल और समझौते की जो बार-बार सरकारी चर्चाएँ चल रही हैं या चलाई जा रही हैं, वे इसी मानवतावादी सौन्दर्य-चेतना का नूतन प्रमाण है।

(ग) लोकवादी सौन्दर्य :-

'लोक' शब्द संस्कृत की 'लोक दर्शने' धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है। 'लोक दर्शने' धातु का अभिप्राय है - 'देखना'। इस धातु का लट्लकार में अन्य पुरुष एकवचन रूप 'लोकते' बनता है। इस प्रकार 'लोक' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है - 'देखने वाला'।[2] मानक हिन्दी-कोश में भी लोक शब्द का यही व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताया गया है।[3] इस प्रकार देखने की क्रिया करने वाला समस्त जन-समुदाय 'लोक' है।

'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'फोक' (FOLK) का पर्याय है, जिसकी उत्पत्ति एंग्लो सेक्सन शब्द फोल्क (FOLC) से मानी जाती है; जिसका अर्थ है- असभ्य एवं मूढ़ समाज।[4] इस प्रकार पाश्चात्य जगत् में लोक शब्द 'असभ्य, असंस्कृत एवं विमूढ़ समाज के अर्थ का द्योतक है।

भारतीय वाङ्मय के प्रसिद्ध ग्रन्थों - वेदों, उपनिषदों, अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य, भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, महर्षि व्यास के महाभारत आदि में लोक का अर्थ 'साधारण जनता' के रूप में कई स्थानों

1. डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ0 77, जुलाई-सितम्बर 2001
2. भट्टोजि दीक्षित : सिद्धान्त कौमुदी, पृ0 417
3. सं0 रामचन्द्र वर्मा : मानक हिन्दी कोश, प0ल0 पृ0 596
4. Encyclopaedia of social Science, Vol. V.P. 288

पर किया गया है। डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि गाँवों और नगरों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वालों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।"[1]

समकालीन कविता के अन्तर्गत लोक वह अभिव्यक्ति है, जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी साधना समाहित रहती है; जिसमें लोकमानस प्रतिबिम्बित रहता है, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा सहज की लोक (लोग) का अपना है। 'लोक' शब्द को लेकर कहीं-कहीं लोक-साहित्य के पर्याय के रूप में 'ग्राम्य साहित्य' का भी नाम लिया जाता है, किन्तु ग्राम्य साहित्य अपने संकुचित अर्थ में केवल ग्रामों तक सीमित है, जब कि लोक-साहित्य में नगर, शहर और गाँव सभी शामिल हैं।

समकालीन कविता में लोकवादी सौन्दर्य का अपना एक अलग निखार है। इसमें एक ओर लोक में प्रचलित धार्मिक और सामाजिक विश्वास, अंधविश्वास ग्राम्य एवं नगरीय चित्रण है तो दूसरी ओर जन्म से लेकर मृत्यु तक के विभिन्न रीति-रिवाजों, प्रथाएँ, व्रत-पर्वोत्सव आदि लोकाचार भी इसमें समाहित हो जाते हैं। लोकवादी सौन्दर्य वस्तुगत सत्ता का प्रमुख प्राण है; यह सौन्दर्य चाहे जिस रूप में प्रगट हुआ हो, वस्तुगत सत्ता से बाहर नहीं है। समकालीन कवियों की कविताओं में गाँव के चटकीले चित्र अच्छे बन पड़े हैं। भाषा में ग्रामीण जीवन की सरलता व सादगी है। नीचे के उदाहरण में ग्राम्य झाँकी का एक चित्र देखिए, जिसमें आभीर जाति द्वारा सिर पर लिए हुए मटकों, गठरी और लकड़ी के बोझ जैसे दैनिक उपयोग की वस्तुओं का चित्रण है। लोक-संस्कृति के इस उदाहरण में सौन्दर्य की संस्थापना न तो वक्ता में है और न श्रोता में, बल्कि स्वयं उस पदार्थ अथवा वस्तुगत सत्ता में है, जिसमें वह सौन्दर्य समाया हुआ है;यथा –

"यहीं से मटके लिए एक-एक अहीरों को
जाते देखता हूँ
कभी-कभी किसी के सिर पर लकड़ियों के बोझ भी होते हैं
या गठरियाँ, खरीदे सौदे-सुलुफ की
उनकी परछाईयां शान्त हरे जल पर अच्छी लगती हैं।"[2]

समकालीन कविता के अनुसार आज के परिवेश में संयुक्त परिवार टूट चुके हैं, एकल परिवार की महत्ता और अधिकता है, फिर भी उस एकल परिवार का भावी पिता ही अपने परिवार का मुखिया माना जाता है। आज के इस आपाधापी और मँहगाई के समसामयिक युग-बोध में पुत्री के विवाह की चिन्ता घर के मुखिया 'दादा जी' को कुरेदती रहती है। लोक-भाषा से जुड़ा हुआ गाँव की गरीबी का एक चित्र श्यामसुन्दर दुबे की कविता 'परदादा की चौखट' में इस प्रकार देखिए-

"खुली किवरियाँ/ दादा बैठे
मिला रहे हैं/ ब्याज-त्याज के कर्ज-कुलाबे

---

1. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी : जनपद वर्ष 1, अंक-1 पृ0 65
2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 15

अधाधुन्ध में/ जेठ-मास की
जेठी बिटिया क्वारी रह गई
सूरज करता वारे-न्यारे।''[1]

यहाँ पर किवरियाँ, ब्याज-त्याज, कर्ज-कुलाबे, अधाधुन्ध, जेठ-मास, जेठी बिटिया आदि अनेक लोक-भाषायी शब्दों की अभिव्यंजना हुई है। दादा के घर में ज्येष्ठ-मास में जन्म लेने वाली बिटिया ज्येष्ठ-मास की तरह लम्बी और बड़ी हो गई है, मँगनी भी हो चुकी है, किन्तु वर पक्ष की (सूरज) आना-कानी तथा हैसियत से परे दहेज माँगे जाने के कारण दादा जी इस वर्ष भी बिटिया के हाथ पीले न कर सके। चिन्ता की काली रेखा का चित्रण कवि ने जिस सहज भाव से किया है, वह आज के समाज का गहरा चिन्तन है। चिन्ता में भी सौन्दर्य है।

लोकवादी सौन्दर्य में वात्सल्य भाव की अपनी अलग पहचान है। भावपक्षीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत वात्सल्य भाव की पृष्ठभूमि में हर माता-पिता अपनी सन्तति को अपनी आँखों के सामने रखना चाहता है, सन्तति-वियोग उसे स्वीकार नहीं। समकालीन कवियों ने इस प्रकार के वात्सल्य भाव को कहीं-कहीं लाक्षणिक और प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है। हमारें यहाँ किसान की खून-पसीने की कमाई से उत्पन्न किया गया 'अनाज का दाना' खाद्य पदार्थ के अन्तर्गत आता है। उस दाने के साथ किसान का असीम प्रेम जुड़ा हुआ है और दाने का वात्सल्य भाव भी पिता तुल्य किसान के साथ कम नहीं है। जब वह पक कर तैयार हो जाता है तो किसान उसे खलिहान से मण्डी भेजने की तैयारी कर देता है, किन्तु वह 'दाना' किसान का दामन छोड़कर मण्डी नहीं जाना चाहता क्योंकि उसे विश्वास है कि मण्डी में उसे उठा-पटक की अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ेंगी तथा वह दुबारा अपने पिता कृषक से कभी नहीं मिल सकेगा

''नहीं/ हम मण्डी नहीं जाएंगे
खलिहान से उठते हुए/ कहते हैं दानें
जाएंगे तो फिर लौटकर नहीं आएंगे।
अगर आएँ भी/ तो तुम हमें पहचान नहीं पाओगे।'[2]

लोकजीवन से जुड़ा हुआ वात्सल्य भाव और वात्सल्य जनित चिन्तना, भावात्मक एकता की सबसे बड़ी पहचान है। लोकजीवन की परम्पराएँ, प्रथाएँ, विश्वास आदि तत्वों से ही समाज में भावात्मक एकता स्थापित होती है। इसीलिए लोकरंजन, लोकमंगल एवं लोकोन्नयन के अपूर्व साधनों के रूप में इन तत्वों का विशेष महत्व है।

लोक-सौन्दर्य के अन्तर्गत ग्राम्य-सौन्दर्य की अपनी अलग विशेषता है। आज मानव 'मुडो गाँव की ओर' का नारा दे रहा है; 'मेरा गाँव मेरा घर' अपनी प्रमुख पहचान बनता जा रहा है। इसका मूल कारण यह है कि आज मानव शहरी जीवन की विडम्बनाओं के कटु अनुभवों से ऊब चुका है। सड़कों पर दौड़ते हुए सघन वाहनों में उसे 'मौत का सिगनल' दिखाई देता है, पेट्रोल की दुर्गन्ध, धूल और धुआँ से वह त्रस्त है, संसद और विधानसभाओं के कोलाहल भरे स्वरों से उनके कान फटने लगे हैं, कुल मिलाकर वहाँ की विद्रूपता उसे अपच हो गई है। फलतः ग्राम्यांचल की ओर उसकी प्रस्थानगी स्वाभाविक है।

---

1. सं० बलदेव सिंह मदान : आजकल (मासिक), पृ० 25, दिसम्बर 2002
2. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ० 79

गाँव में स्थान-स्थान पर आम, महुआ, नीम, आँवला, इमली, कदम्ब, शीशम, अमरूद, तमाल, पलाश, वट, लसोढ़े, विल्व, कपित्थ, जामुन आदि के वृक्ष मिलते हैं। कमल, कुमुदिनी, केतकी, सोनजुही, चम्पा, अशोक, गुड़हल, कनेर आदि वृक्षों के पुष्प भी गाँव में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। गाँव में गौओं, वृषभों, मेढ़ों, महिषों, बकरियों आदि पशुओं को पालने की प्राक्तन परम्परा आज भी कायम है। खरीफ, रबी और जायद की लहलहाती फसलें लोगों का मन मुग्ध कर लेती हैं। समकालीन कविता में ग्रामीण सभ्यता से जुड़े हुए इन सभी सन्दर्भों का यथास्थान उल्लेख किया गया है। समकालीन कवि ब्रजनाथ श्रीवास्तव की 'अगहन' कविता का एक चित्र इस प्रकार है -

"गाँव लगे/ अगहन की/ बाँचने कहानी
काटने को धान खडे/ बाजरा, उड़द, तिल
पिला रहे गेहूँ को/ पानी सब मिल-जुल
बीत गए/ सपनों में/ चल रही मथानी।"[1]

तथा इसी प्रकार -

"संध्या में भील खड़े ताक रहे
घर लौटे मृग मन में हाँफ रहे
और, वे गड़रिये लो कुछ उधेड़बुन करते हैं
अपनी भेड़ों में
वर्षा को बाँध रहे हैं खेतिहर मेड़ों में।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीन कविता का लोकवादी सौन्दर्य बड़ा ही समृद्ध है और गहराई से विचार करें तो हमें पता चलता है कि लोकजीवन की परम्पराएँ, प्रथाएँ, विश्वास आदि तत्व समाज में भावात्मक एकता की आधारभूमि उपलब्ध कराते हैं, लोक की चेतना का संस्कार करते हैं। भौतिक उपकरणों की चकाचौंध से लोक-मूल्यों का संक्रमण वर्तमान समाज में भले ही हो रहा हो, किन्तु वस्तुतः भौतिक और भावात्मक समन्वय में ही लोक-सौन्दर्य का मंगल निहित है।

(घ) प्राकृतिक सौन्दर्य :-

समकालीन कविता यथार्थ की बेवाक अभिव्यक्ति है; समसामयिक अन्तर्विरोधों और बिड़म्बनाओं का खुला हस्ताक्षर है। वह अलंकार और साज-सज्जा की परवाह नहीं करती, लेकिन वह सौन्दर्य की उपासिका है और व्यंग्योन्मुखी कल्पना के माध्यम से प्राकृतिक सौन्दर्य का अपूर्व समर्थन करती है। समकालीन कविता के सम्पूर्ण फलक पर प्रकृति-सर्जना को लेकर दो प्रकार के आधिकारिक प्रसंग उभरकर सामने आए हैं। प्रथम प्रसंग के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं; जो प्रकृति-प्रतीकों के सहारे वर्तमान यांत्रिकी और राजनीति पर तीखा प्रहार करती हैं तथा दूसरी वे रचनाएँ, जो शुद्ध प्रकृति-परक हैं, जिनमें मानव-समाज के निर्माण और उसकी सृजनशीलता की वांछित पहचान दर्ज की गई है; किन्तु ऐसी रचनाएँ अत्यल्प हैं।

सबसे पहले प्रकृति-प्रतीकों को लेते हैं, जहाँ पर प्राकृतिक यथार्थ की असंगतियों पर समकालीन

---

1. सं० डॉ० रामशरण गौड़ :इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक) पृ० 106, जनवरी-मार्च 2002
2. डॉ० चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ० 8

कवि का व्यंग्य-विद्रूप आद्योपान्त मुखरित हुआ है। यह सत्य है कि परिस्थिति और समय सौन्दर्य के निर्माता हैं; किन्तु यह बात उससे भी ज्यादा सत्य है कि वास्तविक सौन्दर्य व्यक्ति या वस्तु की विशिष्टता में है, समय अथवा परिस्थिति की सृष्टि में नहीं। समय और परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता का सौन्दर्य तो आत्मवादी सौन्दर्य-चिन्तकों पर लागू होता है, वस्तुवादी सौन्दर्य चिन्तकों पर नहीं।

आज वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव की मानसिकता में अनचाहा परिवर्तन ला दिया है, वह मानव जो प्रकृति के प्रति समर्पित था, उससे दूर होता चला जा रहा है। जिस प्रकृति ने उसे पुत्रवत् पाला था, आज वह उसी प्रकृति के उपकारों को भूलकर उसका स्वामी बनने का दिवा-स्वप्न देख रहा है, वह वनों की अधाधुन्ध कटाई कर रहा है, स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रकृति का सन्तुलन बिगाड़ रहा है। परिणामतः आज प्रदूषण, भूस्खलन, भूंकप, अतिवृष्टि अनावृष्टि जैसी अनेक भयंकर समस्याओं का जन्म हो रहा है। समकालीन कवि इस गम्भीर समस्या के प्रति चिन्तित है। चिन्ता व्यक्त करने वाले नवोदित रचनाकारों में प्रीति श्रीवास्तव, राजेन्द्र राजन, बलदेव वंशी, देवेन्द्र आर्य, ब्रजनाथ श्रीवास्तव, शैलेन्द्र कुमारी, देवव्रत जोशी, रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' आदि के नाम प्रमुख हैं। डॉ0 प्रीति श्रीवास्तव ने अपनी कविता 'वो कौन' में प्रकृति का स्वामी बनने वालों पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-

"वो कौन हैं?
जो उगा रहे हैं, झील के तन पर
कैक्टस के मरूस्थल
ताड़, ओक, देवदार, चिनार के वृक्षों को रौंद रहे हैं
नफ़रत की अँधेरी गुफाओं में
लिख रहे हैं, दरिंदगी का नफरतनामा।"[1]

वृक्ष प्रकृति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग हैं। वनों के कटाव के कारण धरती के सौन्दर्य पर कुठाराघात हुआ है। पशु-पक्षियों की अनेक दुर्लभ प्रजातियाँ लुप्त होती चली जा रही हैं। नदियों के उद्गम-स्थलों व पर्वत-पठारों से वृक्षों के कटाव के कारण स्थिति और भी भयावह हो गई है; अनेक औषध ा-वनस्पतियाँ अतीत की कहानी बन चुकी है। भारत सरकार द्वारा 1952 में प्रारम्भ किया गया 'वन-महोत्सव' आज अन्तिम साँसे ले रहा है। इन सभी विषपायी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए समकालीन कवि लिखता है-

"लेकिन आज
जब मैंने एक जवान पेड़ को कटते हुए देखा
तो मैंने अपने भीतर सुनी
एक हरी भरी चीख।"[2]

- राजेन्द्र राजन

यह प्रकृति के असन्तुलन का ही कारण है कि आम, महुए, जामुन, अमरूद, नींबू आदि फलदार

---

1. सं0 विजयकुमार राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 33, फरवरी 1997
2. सं0 विजयकुमार राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), राजेन्द्र राजन की कविता, - पृ0 26, मार्च 1997

वृक्ष जो प्रतिवर्ष फल देते थे, आज एक-एक वर्ष के अन्तराल में फल देने लगे हैं। यदि यही अनाचार बना रहा तो सभी वृक्ष एक-न-एक दिन पूरी तरह से फल देना बन्द कर देंगे। रामराज्य में 'फूलहिं फलहिं सदा अरु कानन' का जो संदेश था, आज वह लुप्त होने के कगार पर है। ऋतुचक्र पर आधारित वनस्पतियाँ न तो समय पर फूल देती हैं और न फल। जो वसंत किसी समय सारे परिधान पहनकर अपनी ललित-ललाम रक्तिम आभा से लोगों को लुभाता था, आज वह उदासमना है।

"देखो तो वसंत आ गया है!
सिर पर न फूलों का मुकुट है
न कानों में कुण्डल
आँखे सूनी, उदास आकाश पर टिकीं
क्या यही है वसंत!"[1]

समकालीन कवि इन सभी अभावपरक धरातलों का परिवेशगत चित्रण करके वनस्पति-जगत का संरक्षण चाहता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि प्रकृति मानव-जीवन की संजीवनी है, उसके संरक्षण में ही मानव और मानवता का भविष्य सुरक्षित है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह प्रकृति से अपने सम्बन्ध सुधारे तथा उसकी ओर मुड़े।

प्रकृति और कविता संघर्ष का शमन करती है, यांत्रिकी और राजनीति उसे उत्तेजित करती है। आज समकालीन कविता की नियति इस आकर्षण-विकर्षण के बीच है। इस धावक-युग में मनुष्य के कार्य कुछ भी हो, किन्तु उसकी कविता का कार्य नव निर्माण है। कविता सिर्फ हृदयस्थ रागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यंजना नहीं है, वह उससे आगे बढ़कर मानवीय संबोधन और संवाद भी है। समकालीन कवि मानवता का पोषक है, अतः वह मानव को विभाजित करने वाले राजनीतिक तत्वों को 'पागल' करार देता है। उसकी सोच मानवता और विश्वमैत्री की सुगन्ध से महकती रहती है। इस सुगन्ध को यदि कोई प्रदूषित करने की अनर्गल चेष्टा करता है तो वह उसे 'सिडी हवाएं' कहकर पुकारता है -

"आँगन के / पीपल पर बैठ
वे झगड़ती हैं / सोए दरवाजे से
बार-बार लड़ती हैं / उठा पटक करती हैं
घर भर में / ये 'सिडी' हवाएं!"[2]

यहाँ पर 'हवा' को अलगाववादी तत्व के रूप में चित्रित किया गया है। यदि हवा सिडी या सिर्री स्वभाव की हो गई तो अनुशासन हीनता के कारण उसकी गति और चाल टेढ़ी हो जाती है। राजनीति के मद में बौखलाया हुआ राजनेता यदि 'सिडी' स्वभाव का हो गया तो अपने स्वार्थी दाव पेचों से सारे समाज को प्रदूषित कर देता है। प्रकृति-प्रतीकों के माध्यम से दिखाया गया यह दृष्टान्त प्राकृतिक सौन्दर्य का एक अनूठा उदाहरण है।

मनुष्य का मनुष्य पर तथा यंत्र का दबाव जितना अधिक होता है, जीवन में प्रकृति का एहसास

---

1. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक) , शैल कुमारी की कविता - पृ0 62 , जनवरी-मार्च 2001

2. कुमार रवीन्द्र : आहत के वन, पृ0 42, 1984, पराग प्रकाशन, दिल्ली

कवि के लिए उतना ही तीव्र होता है। आज का मनुष्य एक तरफ स्वार्थपरक राजनीतिक दबाव से त्रसित है, तो दूसरी तरफ यांत्रिक सभ्यता की मर्मान्तक घुटन से। यदि मनुष्य विज्ञान के 'नरमेघ यज्ञ' और 'बारूदी घर आँगन' से बचना भी चाहे तो उसके लिए सभी रास्ते बन्द हैं। आज टूटी हुई सड़कों की धूल, इंडियन आयल और पेट्रोल की दुर्गन्ध चारो ओर उड़ रही है। नदी, पर्वत, फूल, पशु-पक्षी अब मनुष्य की भाषा नहीं समझते, केलि-गृह में अब मणियों के दीप नहीं जलते, अशोक के फूलने के लिए अब युवती-रमणी का पदाघात आवश्यक नहीं है। हरम से लेकर बेहरम तक हर जगह कृत्रिम-प्रसाधनों की ध ूम मची हुई है। महानगरों में मनुष्य ने प्रकृति से मिथ्या सान्निध्य स्थापित करने के लिए अपने-अपने घरों पर दो-चार कृत्रिम पुष्प-वृक्ष लगा रखे हैं और छोटी सी तख्ती पर बड़ा-सा आदेशनुमा सुझाव लिख रखा हैं - 'फूल तोड़ना मना है'। एक उदाहरण दृष्टब्य है -

"सड़कों के हाशिए
या मकान के अहातों में खड़े पेड़
अक्सर बेहद शालीन-आज्ञाकारी
और कभी-कभी बेहद पालतू नजर आते हैं।"[1]

-चन्द्रकान्त देवताले

इसी प्रकार उन्मुक्त नीलगगन में विहार करने वाले पक्षी का दायरा कितना सीमित हो गया है, मानो मालिक का आँगन ही उसका आकाश है -

"पिंजड़े के पक्षी को
स्वतंत्र करने के लिए
जंगल नहीं जाना होता
घर के आँगन में पिंजड़ा खोल
उड़ा दिया जाता है।"[2]

- विनोद कुमार शुक्ल

प्रकृति-प्रतीकों का यह व्यंग्य-सौन्दर्य समकालीन कविता के सन्दर्भ में अपने युग-सत्य को उद्‌घाटित करता है। व्यंग्योन्मुखी कल्पना के माध्यम से प्रकृति-प्रतीकों का संबल लेते हुए वस्तुगत सौन्दर्य का जो चित्र अनुरेखित किया गया हैं, वह युग-सापेक्ष है। समकालीन कवियों ने असुन्दर को कभी छिपाया नहीं, और सुन्दर की बड़ाई करने से कभी चूके नहीं। यहीं पर यदि रीतिकालीन कवि होता और उसे कविता में असुन्दर का अनुस्वार कहीं दिखाई देता तो वह प्रकृति के असुन्दर रूपों पर नायिका-भेद के माध्यम से मानव रूप का आरोपण करके उसे सुन्दर बनाने का प्रयास करता अथवा असुन्दर को स्पर्श करने का प्रयास ही न करता।

समकालीन कविता में कुछ रचनाएँ शुद्ध प्रकृति-परक हैं, किन्तु ऐसी रचनाएँ उँगलियों पर हैं। ये रचनाएँ मानवीय सृजनशीलता की अलग पहचान बनाती हैं। इनमें राजनीतिक उठा-पटक नहीं है, बड़ी सरल, सरस एवं अनुशासित हैं। उदाहरणार्थ एक कवि उदर-पूर्ति हेतु रोजमर्रा की वस्तुएँ खरीदने हेतु बाजार जाने

---

1. डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पेड़ कविता, पृ0 267
2. प्रधान सम्पादक अरुणपुरी : इंडिया टुडे (साहित्य वार्षिकी), पृ0 135, सन् 1996

वाले लोगों से अनुरोध करता है कि आज वे बाजार न जाएँ, बल्कि उन खेतों की ओर प्रस्थान करें, जहाँ खरीफी फसल का मुखिया 'धान' अपने पूरे यौवन के साथ लहरा रहा है -

"क्यों न ऐसा हो कि आज शाम
हम अपने थैले और डोलचियाँ/ रख दें एक तरफ
और सीधे धान की गंजरियों तक चलें
हम सीधे वहीं पहुँचे / एकदम वहीं
जहाँ चावल / दाना बनने से पहले
सुगंध की पीड़ा से छटपटा रहा हो !"[1]

प्राकृतिक सौन्दर्य को लेकर समकालीन कविता में अनेक सुन्दर मिशालें प्रस्तुत की गई हैं; यथा- सुन्दर बाग, पाषाणी शिलाखण्ड, तारों भरी रात, सोई हुई मछलियाँ, बनैले सूअर आदि। सच्चे पारखी का हृदय इन सभी रूपों में सौन्दर्य का दर्शन करता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण क्षण-क्षण परिवर्तित उसका व्यवहार नहीं है, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित सौहार्द्र है।

सुन्दर बाग बड़े ही सुखद और मनाकर्षक होते हैं। जी चाहता है कि उनकी छाया तले अहर्निशि विश्राम किया जाए, किन्तु किसी को ये बाग अच्छे न लगे और वह उनसे मुँह फेरकर अपने घर के गमलों में ही दो-चार कृत्रिम पौधे लगाकर प्रकृति से सम्पर्क साधने की अनायास चेष्टा करे तो उसे तमाशबीन ही कहा जाएगा, सच्चा भावुक या सहृदय नहीं। हो सकता है कि कुछ लोगों को 'पाषाणी शिलाखण्ड' भयानक प्रतीत होती हो, चाँदनी रात में उसकी श्वेतिमा देखकर किसी कोढ़ी की याद आ जाए, अथवा उसकी बेडौल आकृति से किसी को चक्कर आने लगे। यह गुण या दोष उस पाषाणी शिलाखण्ड में नहीं, आप की मानसिकता में है। आप की मानसिकता से शिलाखण्ड का कुछ लेना-देना नहीं है।

इसी प्रकार 'तारों भरी रात' में यदि प्रेतात्मा की आहट प्रतीत होती हो तो हनुमान चालीसा की एक आध अर्द्धाली का परायण कर डालिए। मछली हमारे यहाँ सौन्दर्य का प्रतीक मानी गई है। समकालीन कवियों के अनुसार 'गंगा तट पर सोई हुई मछली' से यदि दुर्गन्ध आती हो और जी मिचलाता हो तो कुंजल क्रिया कर डालिए। 'बनैले सुअर' से यदि आत्मवादी चिन्तकों को मन्दिर की पावनता नष्ट होने की आशंका है तो उन्हें चाहिए कि वे उस मन्दिर में गुजराती ताला लगवा दें।

"अभी मछलियाँ सोई तल में
लिपटे हों ज्यों शिशु आँचल में
\+ + + + +
न तालों में कहीं दिखते बनैले सूअर कलछौंहे
कमल को, दूब की जो जट्टियों को खोदकर खाते
बड़े ही भोर में जो जागकर पीते रहे पानी !"[2]

कहने का तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य की सत्ता व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा अथवा व्यवहार पर निर्भर नहीं है, वरन् वह उस वस्तु में स्वयं निहित है अर्थात् उसकी वस्तुगत सत्ता है। अतः प्रसिद्ध

---

1. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 13*
2. *डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 22-23*

समकालीन कवि डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' के शब्दों में प्रकृति ही चर्या है, प्रकृति ही सृष्टि है, प्रकृति ही विश्लेष और बोध है -

"प्रकृति सृजन करती परन्तु, उसके विरूद्ध
जीवन जीना ही जड़ता का सूचक
पाषाणी शिलाखण्ड है
और प्रकृति के ही विरोध में जीवन जीने का प्रतीक
दण्डकारण्य है।"[1]

(ङ) बौद्धिक सौन्दर्य :-

समकालीन कविता बौद्धिक सौन्दर्य-बोध को प्रमुख रूप से तीन कोणों से देखने का प्रयास किया गया है- मस्तिष्क मूलक, सपाटबयानी और तर्कमूलक। इन तीनों प्रकार के सौन्दर्यावलोकन में कवि पूरी तरह स्वतंत्र व स्वच्छन्द है, वह किसी के द्वारा प्रत्यारोपित नहीं है। छायावाद और प्रयोगवाद में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषणवाद का स्वर हावी रहा। अतः वे मानसिक रूप से कुंठा का शिकार रहे। समकालीन कवि विज्ञान और राजनीति से प्रभावित होने के कारण अपने विचारों को किसी की परवाह किए बिना व्यक्त कर देता है। आज के समाज में जो घटनाएँ घटित होती हैं, उसका चित्रण खुले आम कर देता है जो उसकी स्वस्थ मानसिकता और बौद्धिकता को प्रदर्शित करता है। बौद्धिकता के इस आग्रह के कारण कहीं-कहीं 'असुंदर' शब्दों के सृष्टि-संकेत मिलते हैं, किन्तु अनर्गल शब्दों के नहीं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की घोषणा है -

"एक गलत भाषा में/ गलत बयान देने से
मर जाना बेहतर है / यह हमारी टेक है।"[2]

(i) मस्तिष्क मूलक सौन्दर्य -

समकालीन कविता में बौद्धिक सौन्दर्य के अन्तर्गत मस्तिष्क प्रधान सौन्दर्य को प्रमुखता दी गई है। आज के आदमी का जीवन दिनोदिन चिन्तन प्रधान होता जा रहा है, क्योंकि भावनाओं से वह अपनी समस्याओं को नहीं सुलझा पाता। हृदय से अधिक उसे मस्तिष्क पर भरोसा है।

आज आर्थिक दृष्टि से विपन्न आदमी यह सोचने लगा है कि वह गरीब इसलिए नहीं है कि पूर्व जन्म में उसने कोई पाप किया है, बल्कि वह गरीब इसलिए है कि समाज में उसका शोषण हो रहा है। आज उसकी सोच भाव-बोध की न होकर चिन्तन-बोध की है। तभी तो आज का अन्त्यज वर्ग अपने पतन के लिए 'दूसरे आदमी' को "जिसकी जेब में पैसा और हाथ में अधिकार होता है," जिम्मेवार मानता है-

"बाबू, ई दूसरा आदमी
चाहे मेरी झोपड़ी मे हो, चाहे तुम्हारे घर में
उसकी जात एक होती है, न छोट खराब है, न बड़।
खराब तुम्हारा ई दूसरा आदमी है-
बिल्कुल जल्लाद होता है, राक्षस!

1. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 35
2. सर्वेश्वरदयाल संक्सेना : गर्म हवाएँ, पृ012

बाबू, करना ही है तो पहले ई दूसरे आदमी का
हिसाब करो।"[1]

इतना ही नहीं, आगे चलकर वह इतना आश्वस्त हो जाता है कि उसका सारा सामन्त-जनित भय समाप्त हो जाता है और वह कहने लगता है कि इस बार शोषण की गोली उसके नहीं, बल्कि सामन्त वर्ग को लगेगी –

"वे जब फायर करेंगे
तो यह तय है
कि इस बार कौवे नहीं मरेंगे।"[2]

यहाँ पर अन्त्यज और आभिजात्य वर्ग के विचार परस्पर हावी हैं, हृदय नगण्य है। इस प्रकार समकालीन कविता में मस्तिष्क प्रधान सौन्दर्य की प्रधानता है।

(ii) सपाटबयानी मूलक सौन्दर्य –

बौद्धिक सौन्दर्य में सपाटबयानी का महत्वपूर्ण स्थान है। सपाटबयानी की भाषा अत्यन्त सरल, सरस एवं सीधी होती है, इसमें भाव-जाल नहीं होता। समकालीन कविता में सपाटबयानी का आगमन बिम्ब के विरोध में हुआ है। समकालीन कवियों का मानना है कि बिम्ब में भाव की प्रधानता होती है तथा यह वास्तविकता से बचने या भाग निकलने का एक ढ़ंग होता है, जबकि सपाटबयानी में बुद्धि की प्रधानता होती है और यह जीवन की यथार्थता का डटकर मुकाबला करती है। हिन्दी के छठे दशक के उत्तरार्द्ध एवं सातवें दशक के प्रारम्भ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो गई थी कि बिम्बों के आधिक्य के कारण कविता अनावश्यक भार स्वरूप हो गई थी। सातवें दशक के अन्त में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने कविता में बिम्ब तोड़ने की परम्परा अपनाई और भाषा का आभिजात्य तोड़ते हुए सपाटबयानी से काम लेने को कहा।[3]

सपाटबयानी में वास्तविकता को और अधिक जीवंतता प्रदान करने के लिए रघुवीर सहाय तथा अन्य बहुत सारे समकालीन कवियों ने एक और अच्छा तरीका निकाला है। उन्होंने इसके लिए व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग किया है, चाहे वह संज्ञा हो या सर्वनाम। यथा –

"प्रिय पाठक / ये बच्चे हैं
कोई प्रतीक नहीं / और इस कविता में
मैं हूँ मैं / कोई रूपक नहीं
यह मै खड़ा हूँ / भरा पूरा आदमी।"[4]

---

1. *डॉ0 युद्धवीर धवन : समकालीन कविता की पहचान, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की कविता 'भंगी कालोनी', पृ0 23 पर उद्धृत।*
2. *लीलाधर जगूड़ी : बची हुई पृथ्वी (बलदेव खटिक) पृ0 114*
3. *" बिम्ब और प्रतीकों को / मारिए गोली*
   बोलिए मेरे साथ / खड़ी फर्रुखाबादी बोली।"
   – सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : गर्म हवाएँ, पृ0 32
4. *रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध, पृ0 74*

सपाटबयानी में इसी स्वरूप को प्रगाढ़ बनाने के लिए बहुत सारे कवियों ने विशिष्ट कवियों और महापुरूषों के नाम पर कविताएँ लिखना शुरू कर दियां है। इससे उस कवि या महापुरूषों में छिपी हुई वास्तविकता और यथार्थता निखरकर सामने आती है, जिसमें कृत्रिमता और कल्पना का सर्वथा अभाव रहता है। यह सौन्दर्य की निजी परख है, जो उस वस्तु में बिना किसी साज-सज्जा और मुलम्मे के मौजूद रहती है। कहीं-कहीं कवियों ने सपाट बयानी में चालू भाषा के मुहावरों में गहरा अर्थ भरने की कोशिश की है। आज का कवि जिस असंतोषजनक स्थितियों के बीच जी रहा है, वहाँ वह व्यवस्था को तोड़नें के साथ-साथ उस काव्य के ढाँचे को भी तोड़ना चाहता है, जो वर्षो से चला आ रहा है :-

"न कोई छोटा है/ न बड़ा है,
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है,
जो मेरे सामने / मरम्मत के लिए खड़ा है।"[1]

ऊपर की पंक्तियों में आदमी और जूते के बीच रूपक अलंकार की बौद्धिक छटा विद्यमान है।

(iii) तर्कमूलक सौन्दर्य :-

बौद्धिक सौन्दर्य के अन्तर्गत समकालीन कविता का सौन्दर्य सम्बन्धी दृष्टिकोण तर्कमूलक है। वह तर्क का सहारा लेकर वस्तु या वाणी में सौन्दर्य का दर्शन करता है। उदाहरणार्थ मयूर हमारा राष्ट्रीय पक्षी है, उसे सभी सुन्दंर कहते हैं, किन्तु कई स्थानों पर समकालीन कवियों ने उसकी सुन्दरता का निषेध करके श्वानं और काक के सौन्दर्य की प्रशंसा की है। यह उसके तर्कमूलक सौन्दर्य का परिणाम है। आज श्वान का भौंकना अच्छा लगता है, क्योंकि उससे मुहल्ला गूँज उठता है, जबकि मयूर बिल्ली के समानं बोलता है, मानो भीख माँग रहा हो। कौआ एक ही आँख को उलट-पलट कर सब को समान दृष्टि से देखता है, यह विशेषता मयूर में नहीं है।

इस प्रकार बहुत सारी तुलनात्मक वस्तुओं में तर्क के असीमितं अवसर मौजूद हैं। अभी तक नायिका के नाक की तुलना शुक की लाल चोंच से दी जाती थी। कभी-कभी तोते की लाल वर्णी चोंच पर भँवरे को पलाश-पुष्प का भ्रम हो जाता था तथा तोते को भ्रमर पर काले रंग की जामुन का। किन्तु समकालीन कविता में ये सारे प्रतिमान बदल चुके हैं। आज का कवि उपयोगितावादी है, वह समाजवादी व्यवस्था का हिमायती है। एक उदाहरण इस प्रकार है :-

"लाल मिर्च के खेत / लाल-टुइयाँ की नाक काटने वाले
ये मकई के खेत / जड़े थे जिनके ऊपर / दाने-दाने।"[2]

यहाँ पर किसान की मेहनत से उगाए गए लाल मिर्च टुइयाँ (तोता) को केवल पराभूत ही नहीं करते, अपितु उसकी नाक काट लेते हैं। 'नाक कटना' एक मुहावरा भी है। लाल मिर्च के खेत के सामने लाल मिर्च द्वारा तोते की नाक काट लेने में जो सौन्दर्य है, वह पराभूत होने में नही है। लाल मिर्च का खेत स्वयं इसका गवाह हैं कि शोषक वर्ग का प्रतीक तोता जो समाजवादी व्यवस्था के प्रति कुचक्र रचता है, अब वह दुबारा मुड़कर उस खेत की ओर नहीं आएगा। समकालीन कविता ने तर्क देकर जो सिद्धहस्तता हासिल की है, वह श्लाघनीय है।

---

1. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 37
2. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसादं दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 43

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वस्तुगत सौन्दर्य के अन्तर्गत जितने भी उपशीर्षक हैं, वे सब सौन्दर्य की सत्ता को मानव के कर्ममय जीवन में देखते हैं। संसार की सभी वस्तुएँ सभी मानवों के लिए हैं, उन पर व्यक्तिगत किसी का अधिकार नहीं है। वस्तु में समाया हुआ सौन्दर्य या असौन्दर्य उस वस्तु का स्वाभाविक गुण है। यह व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर नहीं है कि वह उन्हें अच्छा माने या बुरा। वस्तुवादी सौन्दर्य में भाववादियों की तरह मनुष्य की भावनाओं को कभी चिरन्तन या शाश्वत नहीं माना जाता। यह सौन्दर्य केवल शारीरिक सौन्दर्य (इन्द्रिय-बोध) तक सीमित नहीं होता, बल्कि वह उस वस्तु के चरित्र, भाव और विचारों में निहित रहता है। यदि किसी को कुरूप नारी अच्छी लगती है तो वह उस नारी के चरित्र की विशेषताएँ जानता है, जिसके कारण वह अच्छी लगती है। वह केवल इन्द्रिय-बोध तक सीमित नहीं है। रीतिकाल का दरबारी साहित्य केवल इन्द्रिय-बोध तक सीमित था।

यह भी सत्य है कि व्यवहार के आधार पर सभी वस्तुओं के गुण एक-से नहीं होते, अतः सौन्दर्य में भी भिन्नता आ जाती है। कुछ वस्तुएँ हमारी इन्द्रियों को भाती हैं, कुछ हृदय को और कुछ मस्तिष्क को। ललित कलाओं के पाँच भेदों में - स्थापत्य, शिल्प और चित्रकला का सीधा सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से, संगीत कला का भावना से तथा साहित्य (काव्य) का विचारों से है। इस प्रकार इन तीनों में प्रथक-प्रथक एकतानता का अभाव दिखाई देता है, किन्तु इन्द्रिय-बोध, भावना और विचार की एकता सभी में विद्यमान है।

2. शिल्पगत सौन्दर्य-बोध :-

समकालीन कविता में विषय की अपेक्षा 'टेकनीक' पर अधिक ध्याज दिया गया है। 'टेकनीक' शब्द अंग्रेजी का है, जो शिल्पविधि का ही बोधक है। काव्य में शिल्प का पक्ष काव्य के बाह्य परिधान का वाहक है। इसके बिना कविता का सौन्दर्य अधखिला रह जाता है। शिल्पविधिक दृष्टिकोण के आधार पर समकालीन कविता के शिल्पगत सौन्दर्य-बोध को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत दर्शाया जा सकता है :-

क. काव्यभाषा और सृजनशीलता

ख. पुराख्यान तत्व और कवि-समय

ग. अलंकरण

घ. बिम्बगत सौन्दर्य

ङ. प्रतीकगत सौन्दर्य

च. छन्द और लयात्मक सौन्दर्य

क. काव्यभाषा और सृजनशीलता :-

कविता अनुभूति की अभिव्यक्ति है और भाषा उस अभिव्यक्ति का माध्यम है। कविता में जीवन के विभिन्न अनुभवों का विभिन्न धरातलों पर पुनर्सृजन होता है। यह सृजनशीलता नए अनुभव-खण्डों के आधार पर नए-नए शब्दों को जन्म देती है, जिन्हें एक सफल रचनाकार भाषा के माध्यम से सार्थकता प्रदान करता है। काव्यभाषा में जीवन को अर्थवान बनाने की प्रक्रिया सर्वाधिक तीव्र होती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में *"वर्णों की चारुता से लेकर शब्दों के रूप-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य का आकलन करते हुए कवि अपनी भाषा-प्रतिभा का निर्माण करता है, जिससे अभिव्यंजना का सम्पूर्ण सौन्दर्य*

प्रस्फुटित होता है।''[1]

काव्यभाषा और सृजनशीलता नए सौन्दर्य-बोध को प्रकट करती है। काव्यभाषा में उसकी रचनाधर्मिता शामिल है, इस रचनाधर्मिता अथवा सृजनशीलता के अधोलिखित आधार हैं :-

(i) समकालीन कविता का शब्द-भण्डार
(ii) उपसर्ग और प्रत्यय-योजना
(iii) वर्ण-विन्यास-योजना
(iv) नव्यतर क्रिया-प्रयोग
(v) नव्यतर विशेषण-प्रयोग
(vi) विराम चिह्नों का नए तरीके से प्रयोग
(vii) लोकोक्ति और मुहावरे

(i). शब्द-भण्डार :-

शब्द-भण्डार अथवा शब्द-समूह को अंग्रेजी में 'वॉकेबुलरी' (Vacabulary) कहते हैं। *'शब्द-भण्डार से तात्पर्य उस शब्द-समूह से है जो किसी भाषा, बोली, उपबोली में बोलचाल या पुस्तकों में प्रयुक्त होता है। वृहत् हिन्दी-कोश के आधार पर हिन्दी में लगभग डेढ़ लाख शब्दों के होने का अनुमान लगाया जा सकता है।*[2] निरन्तर प्रयोग में न आने के कारण कुछ शब्द हटते जाते हैं और सभ्यता के विकास के साथ नए-नए शब्द बढ़ते जाते हैं। उदाहरण के लिए समकालीन कविता में रत्ती, तोला, माशा, सेर, छटाँक आदि शब्द लुप्तप्राय हो गए हैं तथा दूरदर्शन, आकाशवाणी, चलचित्र, किलो, लीटर, पॉलिथीन, हाइड्रोजन आदि शब्द बढ़े हैं।

समकालीन कविता में ज्ञान-विज्ञान से प्राप्त तकनीकी शब्द तथा इतिहास या स्रोत की दृष्टि से प्राप्त होने वाले शब्दों की बहुलता है। इतिहास या स्रोत के आधार पर जो शब्दावली मिली है, वह विरासत का परिणाम है। तकनीकी शब्द प्रायः पारिभाषिक होते हैं; यथा – प्रदूषण, पर्यावरण, प्रशासन, प्रौद्योगिकी, पदोन्नति, आयोग, सीमा-शुल्क आदि।

समकालीन कविता में हिन्दी शब्द-समूह के गठन अथवा शब्द-भण्डार को निम्नलिखित कोटियों के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

तत्सम शब्दावली :-

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी ने बड़ी मात्रा में नव प्रयोग या नवसृजन किया है और इस दिशा में संस्कृत का आश्रय लेते हुए प्रचुरता के साथ तत्सम् शब्दावली का प्रयोग किया है। इसका मूल कारण यह भी है कि भारत के सभी राज्यों में संस्कृत-शब्द सरलता से बोले-समझे जाते हैं। आचार्यों की सरस पदावली छायावाद से होती हुई प्रयोगवाद में आई और समकालीन कविता ने उसे पूरी तरह आत्मसात् किया। तत्सम् शब्दावलियों का सर्वाधिक प्रयोग करने वाले कवियों में डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित', धनंजय अवस्थी, शलभ श्रीरामसिंह, रामस्वरूप खरे, अम्बिका दत्त, देवेन्द्र आर्य, अर्पण कुमार, प्रदीप पंत आदि के नाम प्रमुख हैं। यही कारण है कि समकालीन कविता में शस्यात्मा, अनपेक्षित, गर्वोन्नति, अन्तरानुभूति,

---

1. श्याम बिहारी राय : शुक्लोत्तर काव्य चिन्तन; पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य, पृ0 181

2. डॉ0 भवानीदत्त उप्रेती : हिन्दी भाषा और लिपि का विकास एवं स्वरूप, पृ0 167

प्रलयोत्तर, रक्ताभ आदि संधियुक्त तथा अमृत-फल, उदय-प्रहर, सप्त-सागर, भस्म-भूषित, आकृति-यौना आदि समास युक्त शब्दों का प्रयोग यथास्थान मिलता है। इस प्रकार के प्रयोगों से कविता में परिष्कार-जन्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है। नमूने के तौर पर एक-दो उदाहरण इस प्रकार हैं :-

1. **"हस्त मुद्राएँ युगल ज्यों**
   मानसर में हेम हंसों की उठी ग्रीवा अलंकृत।"[1]
2. **'यदि वह खो न गया होता**
   प्रकृति की अव्यक्त स्वाकृतियों में
   पुनर्सृजन के लिए।"[2]

तद्भव शब्दावली :-

संस्कृत के वे शब्द जो परिवर्तित होकर अथवा बिगड़कर प्राकृत से होते हुए हिन्दी में आए हैं, तद्भव शब्द कहलाते हैं। समकालीन कवियों ने अपनी भाषा को सहज और सरल रूप देने के लिए इन शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। हिन्दी के प्रायः सभी सर्वनाम तद्भव हैं, कुछ अपवादों को छोड़कर क्रियापद भी प्रायः सभी तद्भव हैं। कविता में सपाटबयानी लाने के लिए समकालीन कवियों ने पीर, सुनहले, रंगीले, सजीले, तिनका, बखान, भोर, छाँह, पाती, रीता, अधूरा आदि तद्भव शब्दावलियों का प्रयोग किया है। रघुवीर सहाय की कविता 'मैदान' में कुछ इसी प्रकार के चित्र उकेरे गए हैं -

"अँधेरा यहाँ / अँधेरा नहीं है
एक खास तरह का चाँदना है
और न तू गोरी है
तू / एक/ लुनाई है डबडबाई हुई
काले / सिर्फ तेरे केश हैं। "[3]

यहाँ छायावादी 'चन्द्रिका' से 'चाँदना' और 'लावण्य' से 'लुनाई' जैसे तद्भव शब्दों का निर्माण हुआ है। ये शब्द मानो व्यक्ति को आत्मीय सौन्दर्य में डुबो देना चाहते हैं।

देशज शब्दावली :-

'ये वे शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता है, किन्तु बोल-चाल और व्यवहार में ये स्थान पा लेते हैं'।[4] वस्तुतः ये शब्द ग्राम्य क्षेत्रों अथवा जनजातियों में बोले जाने वाले, संस्कृत से भिन्न भाषा-परिवारों के हैं। देशज शब्दों के प्रयोग से समकालीन कविता को एक नया संस्कार मिला है। अपने अभीष्ट यथार्थ को तद्वत् रूप में सम्प्रेषित करने के लिए बक-बक करना, गुजरना, सुस्ताना, फुसफुसाना, हिचकिचाना, खट-खटाना आदि क्रियाओं; इम्तेहाँ, इब्तिदा, सलीब, एहसास, दस्तक, मुलम्मा, खत, हाशिया आदि संज्ञाओं; सुराहीदार, बेतरतीब, खाना-बदोश, लावारिश, कातिल, लाचार, परेशान आदि

---

1. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 13
2. डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक) अम्बिकादत्त की कविता, पृ0 75 जुलाई-सितम्बर 2001
3. रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध, पृ0 50
4. डॉ0 भवानीदत्त उप्रेती : हिन्दी भाषा और लिपि का विकास एवं स्वरूप, पृ0 169

विशेषणों तथा फ़िलहाल, आहिस्ता-आहिस्ता, वाकई आदि क्रिया-विशेषणों का प्रयोग समकालीन कवियों ने बेझिझक किया है।

समकालीन कवियों ने देशज शब्दावली का प्रयोग करते हुए जिन कविताओं की रचना की है, वे अपने भाषिक-सौन्दर्य से सजीव हो उठी हैं -

"इसको कोई पियरी नहीं चढ़ाता
न आदमी रामनामी डाले
सुबह तड़के भागते दिखाई देते हैं
न अधेड़ औरतें ठाकुर जी का
सिंहासन लिए बतियाती जाती हैं।"[1]

उपर्युक्त कविता में यदि पियरी, रामनामी, तड़के, अधेड़, बतियाना जैसे शब्दों के स्थान पर कोई अन्य देशज शब्द प्रयुक्त कर दिया जाए तो कविता की रमयीणता लुप्त हो जाएगी।

आगत शब्दावली :-

प्राचीनकाल से ही समय-समय पर भारतवर्ष में तुर्क, अरब, इरानी, अफगानी, डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, अंग्रेज आदि विदेशियों का आगमन होता रहा है। इन सबके शासन में बड़ी मात्रा में शब्दों का आदान-प्रदान हुआ है, जिन्हें हम विदेशी अथवा आगत शब्दावली के नाम से पुकारते हैं। हममें से कुछ लोग हिन्दी के कट्टर हिमायती हैं, जो अपनी भाषा में विदेशी शब्दों के आने देने के सख्त विरोधी हैं, किन्तु विदेशी शब्द हमारी भाषा में इतना घुल-मिल गए हैं कि हम उन्हें अलग नहीं कर सकते। प्रमाण के लिए 'रोटी' को लीजिए, यह न मुसलमानों का शब्द है और न हिन्दुओं का, फिर भी हिन्दू-मुसलमान किसी की भी हिम्मत नहीं है जो इस अहिन्दी गुलाम को घर से बाहर निकाल दे। वह हमारे घरों में बच्चों से लेकर बूढ़ों तक की जबान पर है। रोटी ही नहीं, तवा भी विदेशी है। यह फारसी का 'ताँबा' है, जो घिस-घिसकर तवा हो गया है। जब रोटियाँ रहीं होंगी, तब तवा भी रहा होगा, पर तवे ने जिस हिन्दू-बर्तन को निकाल कर चूल्हे पर कब्जा किया, उसका नाम क्या था? यह अब शायद कोई हिन्दीदाँ नहीं जानता। क्या हिन्दी, हिन्दुई या हिन्दवी के कट्टर हिमायती रोटी और तवा छोड़ने के लिए तैयार हैं?

हमारे यहाँ अम्मा, बाबा, काका, दादा, चाचा, लाला आदि सम्बन्ध-सूचक शब्द; अनार, अंजीर, अखरोट, बादाम, बीही आदि स्वास्थ्य वर्धक फल; पायजामा, इज़ारबन्द, रूमाल, शाल, दुशाला, चोंगा, कुर्ता, कोट, पैन्ट आदि सिले हुए कपड़े; साइकिल, मोटर, कार, बटन, सुई, आलपीन, इंच, फुट, दवाई, मोमबत्ती आदि दैनिक उपयोग की वस्तुएँ सभी विदेशी हैं। औरतों द्वारा पहने जाने वाले अधिकांश आभूषण और संगीत में प्रयुक्त अनेक वाद्ययंत्र सभी विदेशी हैं।

सारांश यह है कि समकालीन कविता में अरबी, फारसी, फ्रांसीसी, अंग्रेजी, चीनी, जापानी, पुर्तगाली आदि शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी साफ हो जाएगी-

"हिन्दूकुश के पार है हेडक्वार्टर
दुनियाँ के कोने-कोने में वे

---

1. *सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 14*

लेखाचित्र : शब्द-भण्डार
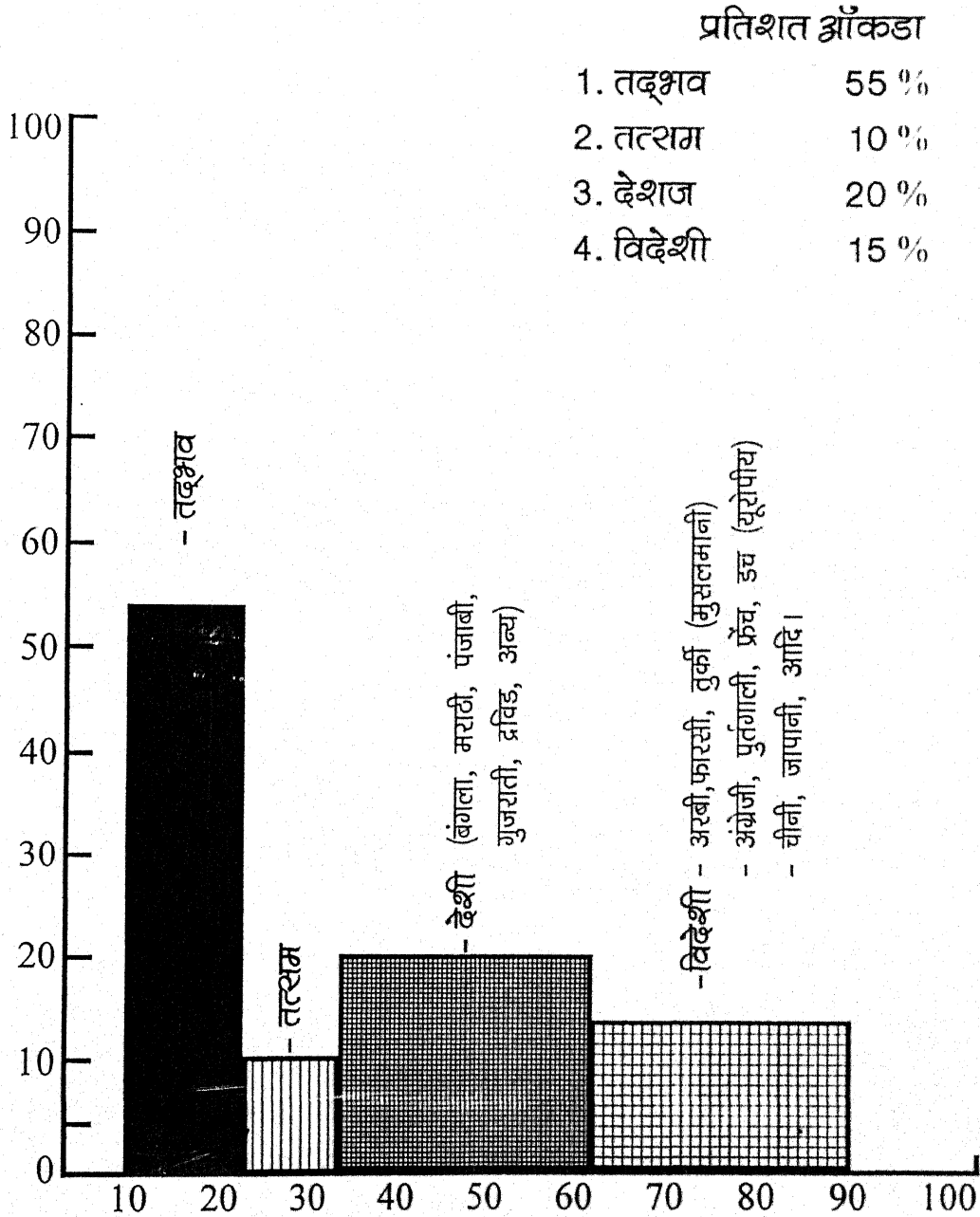
'समकालीन कविता में हिन्दी शब्द-भण्डार की आनुपातिक स्थिति'

क्रान्ति का निर्माण-कार्य करवाते हैं
स्थानीय ठेकेदारों से
टेण्डर आमंत्रित करके
क्रान्ति के नक्शे पास करते हैं खुद मालिक।"[1]

उपर्युक्त कविता में अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिन्हें हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार आत्मसात कर लिया है। कविता में प्रयुक्त शब्दावलियाँ निम्न भाषाओं की हैं :-

अंग्रेजी : हेडक्वार्टर, टेंडर, पास

फारसी : हिन्दूकुश , मालिक

अरबी : दुनियाँ, नक्शा

लेखाचित्र : शब्द भण्डार

(II) उपसर्ग और प्रत्यय-योजना :

उपसर्ग और प्रत्यय दोनो शब्दांश मात्र है अर्थात् वाक्य में अकेले प्रयुक्त नहीं होते। उपसर्ग शब्द के प्रारम्भ में तथा प्रत्यय शब्द के अन्त में जुड़कर शब्द को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। समकालीन कविता में शिल्पगत सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने के लिए दोनों का ही प्रयोग किया गया है :-

		उपसर्ग	मूलशब्द	निर्मित्त शब्द
(1)	'ऐसी दुर्भावना लिए है	दुर्	भावना	दुर्भावना
	जन के प्रति जो टेलिविजन।			
	नाम दूरदर्शन है उसका काम			
	किन्तु है दुर्दशन।'[2]	दुर्	दशन	दुर्दशन
(2)	'फुटपाथों पर ठिठुर रहा है			
	बेघरबार सन्नाटा	बे	घरबार	बेघरबार
	बेरोजगारी से तंग उजाला।'[3]	बे	रोजगारी	बेरोजगारी
(3)	'बूँद का सरगम छिड़ा है	सर	गम	सरगम
	व्योम-बाला नाचती है।'[4]			
(4)	'खुली किवरिया दादा बैठे			
	परदादा की चौखट दाबे।'[5]	पर	दादा	परदादा

1. डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ0 239
2. रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 47
3. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, रणजीत, पृ0 181
4. डॉ0 रामशंकर गौड : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), देवव्रत जोशी की कविता, पृ0 96, अप्रैल-जून 2001
5. सं. बलदेव सिंह मदान : आजकल (मासिक) श्याम सुन्दर की कविता, पृ0 25 दिसम्बर 2002

		प्रत्यय	मूलशब्द	निर्मित शब्द
(1)	मासूमियत के हर तकाजों को ठोकर मार दो।'[1]	इयत्	मासूम	मासूमियत
(2)	'मछलियाँ, जोंक, पनियल साँप सबके अलग-अलग ढंग है पानी में चलने के।'[2]	इयल	पानी	पनियल
(3)	'बोले कविता में देश-प्रेम लाना हरियाना प्रेम लाना आइसक्रीम लाना है'।[3]	आना	हरिया	हरियाना
(4)	'मानवता की अँगिया तन रही	इया	अंग	अँगिया
	और उखड़ते सारे स्नेहिल बन्धन।'[4]	इल्	स्नेह	स्नेहिल

इसके अतिरिक्त समकालीन कवियों ने निर्भाव, अनछिदी, अनउगे, बेमालूम, निर्वेर जैसे नवीन उपसर्गो तथा रेशमीन, गाँधियन, पाक्षरित जैसे नवीन प्रत्यय शब्दों का प्रयोग किया है।

(III) वर्ण-विन्यास-योजना :-

वर्ण-विन्यास में आनुप्रासिक शब्दावली को प्रमुख माना जाता है क्योंकि यह गीत-विद्या की प्रमुख विशेषता है । समकालीन कविता में भाषिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए ध्वनि-बोधक और पुनरुक्ति शब्दावली का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया है। ध्वनि - बोधक शब्द सान्द्र वातावरण को आन्दोलित करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। ध्वन्यार्थ व्यजंना में काव्यगत शब्दों में ऐसी ध्वनि होती है, जिसमें अर्थ का उद्घाटन होता है। नादात्मक शब्द-संयोजन किसी भी प्रसंग का एक अप्रतिम चित्र खड़ा कर देता है। भाषागत बाह्य सौन्दर्य से सहृदय पाठक आकर्षित हो उठता है। समकालीन कविता में ध्वन्यार्थ योजना के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। समकालीन कविता ने जहाँ एक ओर ध्वनि- बोधक शब्दों - फड़फड़ाते हुए, कड़कड़ाते हुए भिनभिनाती हुई, मिनमिनाती हुई आदि शब्दों का प्रयोग किया है, वहीं दूसरी ओर अनुकरणात्मक शब्दों के प्रयोग के द्वारा नाद- सौन्दर्य का सृजन किया है-

(1)- **" मन में भिनभिन करता**
सारे जग से अच्छा देश हमारा।'[5]

(2)- **" ताधिन ताधिन ताथई ताथई ताधिन ता.......**
झन झननननन झन झननझनन झन झननननन।"[6]

1. *धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 113*
2. *सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ012*
3. *रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध, पृ0 28*
4. *प्रधान सं. विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), शिवाकान्त मिश्र 'विद्रोही' की कविता, पृ0 33 फरवरी, 1997*
5. *डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान : कैलाश वाजपेयी की कविता, पृ0 52*
6. *श्रीराम वर्मा : चौथा सप्तक, पृ0 149*

किसी शब्द का बार - बार आना उस सन्दर्भित विषय वस्तु की तीव्रता का परिचायक है। इस प्रकार के पुनुरुक्ति प्रधान शब्द वातावरण का दशा-बोध कराते हुए उसे पराकाष्ठा तक पहुँचा देते हैं। भाषा के अन्तर्गत इनकी गणना सौन्दर्य- बोधक उपकरणों के रूप में होती है। उदाहरण के लिए रामानुज त्रिपाठी की कविता 'नकाबों के चीथड़े' का एक अंश इस प्रकार है-

"सारे संवाद
मौन/ रह गए खड़े-खड़े
घायल सन्नाटे
सिसक-सिसक रो पड़े।"[1]

उपर्युक्त कविता में मदारी का खौफ इतना भयावह है कि जो व्यक्ति जहाँ खड़ा है, वह वहीं खड़ा है; टस-से-मस नहीं होता । यहाँ पर यदि एक बार 'खड़े' शब्द का प्रयोग होता तो भयानक और खौफ-रस का सौन्दर्य फीका पड़ जाता। यही बात 'सिसक-सिसक' शब्द-युग्म में है। यह शब्द-युग्म दर्द की बारम्बारता को बढ़ाता है।

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिए, जहाँ पर सारस- समूह सम्पूर्ण नभ-मंडल में छा गया है, छा जाने की यह प्रक्रिया' धीरे-धीरे' हुई है जो सघनता का द्योतक है। यदि ' धीरे' शब्द का प्रयोग केवल एक बार होता तो वातावरण की सघनता पुनः विरलता में बदल जाती -

" वे झुण्ड के झुण्ड/ धीरे-धीरे आए
धीरे- धीरे वे छा गए/ सारे आसमान में।"[2]

(IV) नव्यतर क्रिया प्रयोग :-

समकालीन कविता में भाषिक सौन्दर्य-बोध की सृजनशीलता के लिए क्रिया-हीन वाक्यों और नव्य क्रियाओं का प्रयोग किया गया है। समकालीन कवि की अनुभूति लम्बी है, वह सम्पूर्ण अनुभूतियों के लिए अलग- अलग क्रियाओं का प्रयोग न करके एक ही क्रिया से काम चला लेना चाहता है। क्रिया-हीन वाक्यों का प्रयोग नई कविता से ही प्रारम्भ हो गया था। शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'बात बोलेगी' तथा गिरिजाकुमार माथुर की 'इतिहास' और 'खजुराहो' सम्बन्धी अनेक कविताएँ क्रिया-हीन है। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' लम्बी कविता में अनेक स्थानो पर क्रियएँ इंतजार कर रहीं हैं। किफायत के लिए कभी-कभी पूरे वाक्यों को भी उलट- पलट दिया जाता है।

समकालीन कविता के अन्तर्गत श्रीकान्त वर्मा के क्रिया-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कई बार वे एक पूरी-की-पूरी कविता बिना एक भी क्रिया का प्रयोग किए लिख डालते हैं। उदाहरण के लिए उनकी एक कविता 'टूटे हुए दो पंख' देखी जा सकती है-

" चाँदनी : आकार लेता हुआ जैसे शंख
रेत : जैसे नदी के टूटे हुए दो पंख।"[3]

कभी-कभी द्विकर्मक या त्रिकर्मक क्रिया ही नहीं, अनेक कर्मक क्रियाओं का भी प्रयोग समकालीन

1. *डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), पृ0 30, नवम्बर, 1992*
2. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 22*
3. *डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, पृ0 66*

कविता में हुआ है-

"एक दिन भक् से
मूँगा मोती
हल्दी प्याज
कबीर निराला
स्वर्ग नरक
झींगुर कुहासा
सभी के आशय स्पष्ट हो जाएँगे।"[1]

यहाँ एक ही क्रिया 'आशय स्पष्ट हो जाएँगे' के कर्म, पाँच है; अर्थात् पाँच कर्मों के लिए एक ही क्रिया का प्रयोग किया गया है। कम से कम क्रिया का प्रयोग करने वाले कवियों में केदारनाथ सिंह के अलावा रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, बलदेव वंशी, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवदाले, धनंजय अवस्थी, चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' के नाम प्रमुख हैं। यह बात सत्य है कि समकालीन कविता में सपाटबयानी के कारण जहाँ एक ओर विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है, वहीं दूसरी ओर क्रियाएँ भी उपेक्षित हुई हैं, किन्तु क्रियाओं के उपेक्षीकरण से भाषिक-सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आने पाया। अंग्रेजी, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं पर आधारित क्रियाओं के नए-नए प्रयोग भी समकालीन कविता में बहुतायत से हुए हैं। आवश्यक नव्य क्रिया-पदों से क्रिया-विशेषण एवं भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण किया गया है। ऐसे प्रयोगों से भाषागत सौन्दर्य में आत्मीयता, निजता तथा लोक-व्यवहार के साक्षात् दर्शन होते हैं। जहाँ एक ओर उतरना से 'उतराई', लिखना से 'लिखाई', उड़ना से 'उड़ान', जागना से 'जागरण' तथा थकान से 'थकावट' जैसे शब्दों का निर्माण हुआ है; वहीं पर क्रियावाची शब्दों से विशेष प्रकार के भाववाचक संज्ञा के प्रयोग- स्वीकारो, सत्कारो, आलोको, अनुरागो, विश्रामोगे, ललकेगा आदि का प्रयोग भी बड़ी सफलता और सार्थकता के साथ हुआ है। कहीं-कहीं क्रिया से प्रेरणार्थक क्रिया का निर्माण भी किया गया है।

नामधातु क्रिया से जहाँ एक ओर भाषा में संक्षिप्तता आती है, वहीं दूसरी ओर भाषागत सौन्दर्य में निखार भी आता है। संज्ञा , सर्वनाम तथा विशेषण शब्दों में प्रत्यय (आना)लगाकर जो क्रिया धातुएँ बनती हैं, उसे नामधातु क्रिया कहते हैं। भाषा में समाहार- शक्ति को उत्पन्न करने के लिए समकालीन कवियों ने 'नामधातु' क्रिया का प्रयोग जहाँ कहीं आवश्यक समझा है, किया है। अधोलिखित नामधातु क्रियाएँ समकालीन कविता में बहुलता के साथ प्रयुक्त हुई हैं-

संज्ञा से :

खर्च- खर्चाना
लालच- ललचाना
लाज- लजाना
टक्कर- टकराना
फिल्म- फिल्माना

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 83

सर्वनाम से :

अपना- अपनाना

आप- अपाना

बात- बतियाना

विशेषण से :

चिकना- चिकनाना

गर्म- गर्माना

साठ- सठियाना

दुहरा- दुहराना

लँगड़ा- लँगड़ाना

अनुकरणात्मक धातु से :

हिनहिन-हिनहिनाना

खटखट- खटखटाना

थपथप- थपथपाना

भनभन- भनभनाना

टनटन- टनटनाना

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल की कविताओं में जितने भाव और जितने कर्म होते थे; प्रत्येक के लिए अलग-अलग क्रिया का प्रयोग किया जाता था, किन्तु समकालीन कविता में कई- कई भावों और कर्मो को मिलाकर एक ही क्रिया से काम निकाल लिया जाता है।

(V) नव्यतर विशेषण-प्रयोग :-

काव्य-भाषा को सौन्दर्य से मण्डित करने के लिए समकालीन कवियों ने जहाँ एक ओर परम्परागत विशेषणों का प्रयोग किया है, वहीं दूसरी ओर अपनी शोधपरक प्रतिभा के आधार पर सृजित नए- नए नामधारी विशेषणों का भी प्रयोग किया है। परम्परागत विशेषणों में गुणवाचक, संख्यावाचक, परिमाणबोधक, व्यक्तिवाचक, सार्वनामिक आदि तथा नए-नए नामधारी विशेषणों में जीवन- दशा- बोधक, निर्जीव दशा बोधक, आशावाची, निराशावाची, ध्वनिबोधक, उपमा बोधक; अवर्ण, सवर्ण आदि प्रमुख हैं। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि जिन नए-नए नामों की कल्पना की गई है, वे अपने रूप, गुण, और दशा के आधार पर परम्परागत विशेषणों के ही अभिन्न अवयव हैं; यथा -

" झूठे नारों और खुशहाल सपनों से
लदी बैलगाड़ियाँ
वर्षो से जनपथ पर आ - जा रही हैं।"[1]

यहाँ पर 'झूठे' और 'खुशहाल' शब्द क्रमशः निराशा और आशावाची विशेषणों के सूचक हैं, जिन्हे समकालीन कवियों ने निराशाबोधक और आशाबोधक विशेषणों का नाम दिया है। व्याकरण की कसौटी तो

1. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान : कैलाश वाजपेयी की कविता, पृ0 42

यह है कि 'झूठे' और 'खुशहाल' दोनो ही विशेषण हैं तथा 'नारों' और 'सपनों' उनके विशेष्य हैं। इस आधार पर यह गुणवाचक विशेषण का संकेतक है।

समकालीन कविता में नवीन एवं विशिष्ट प्रयोगों के अन्तर्गत - जंग लगी हुई आरती, कीमती घाव, रक्तहीन दर्द, पक्षी भर आसमान, कूकती हुई आँखे, कुलबुलाती हुई ओरा, देहबन्द नदियाँ, पनियल साँप, बर्फ के चाकू की तरह प्यार, बीमार घर, बहती गलियाँ, मौलाना सूरज, मुर्दा पोशाक, काँपती दरार, अधनंगी शाम, धड़धडाती मशीनें, पाखण्डी चेहरे आदि प्रमुख हैं। समकालीन कवियों में डॉ0 रणजीत एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने कुल 7.2 प्रतिशत नवीन और विशिष्ट विशेषणों का प्रयोग किया है। उनके विशिष्ट विशेषण प्रयोगों पर एक दृष्टि डाली जा सकती है -

> **"भूख से कुलबुलाती हुई ओस की दुधमुँही बूँदे**
> **अपने अस्तित्व की भीख माँग रही हैं।"[1]**

कविता के विकास-क्रम में प्राक् परम्परा से हटकर कुछ नवीन और ताजे उदाहरण इस प्रकार हैं, इन उदाहरणों में कहीं-कही विशेषण मूर्त है तो विशेष्य अमूर्त और विशेषण अमूर्त है तो विशेष्य मूर्त; कहीं-कहीं विशेषण-विशेष्य दोनों ही अमूर्त हैं -

(1) **"और कानों में चुपके से**
कह जाती है कुछ, चने की लोनी-गंध।"[2]

(2) **"तुम नहीं आए मेरे नेह की**
फागुनी नहीं बहती रही अनवरत।"[3]

(3) **"किनारे पर पड़ी सीपी-सा अकेलामन**
सिसकता रहा।"[4]

यहाँ पर 'चने की लोनी-गंध' में 'चना' विशेष्य है तथा 'लोनी-गंध' विशेषण है, किन्तु यह विशेषण, विशेष्य के बाद प्रयुक्त हुआ है। अतः विधेय विशेषण है। 'मेरे नेह' में सर्वनाम (मेरे) संज्ञा (नेह) के साथ प्रयुक्त हुआ है, अतः सार्वनामिक विशेषण है। तीसरे उदाहरण में 'सीपी-सा अकेलामन' में उपमात्मक विशेषण है।

समकालीन कविता में कहीं-कहीं विशेषणों का लाक्षणिक प्रयोग भी उभरकर सामने आया है। ऐसे विशेषणों में कवि के काव्यगत सौन्दर्य और कला-बोध से परिचित होना आवश्यक है। एक उदाहरण इस प्रकार है :-

---

1. *डॉ0 रणजीत : इतिहास का दर्द ('पृष्ठभूमि' से), पृ0 234*
2. *प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक) सविता मिश्र की कविता, पृ0 57 नवम्बर, 2002*
3. *प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक) सविता मिश्र की कविता, पृ0 57 नवम्बर, 2002*
4. *प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक) सविता मिश्र की कविता, पृ0 57 नवम्बर, 2002*

"लेकिन यहाँ तो उजाले के सामने
उजाला तना हुआ है
गुलाबी उजालों के सामने लाल उजाला
और काले अँधेरे का विरोध
नीला अँधेरा कर रहा है।"[1]

इस कविता में रंग-विशेषणों का अर्थगर्भी लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। गुलाबी उजाला 'सोवियत संघ' के लिए, लाल उजाला 'जनवादी चीन' के लिए तो काला और नीला अँधेरा क्रमशः 'अमेरिकी' और 'फ्रांसीसी साम्राज्यवाद' के लिए प्रयुक्त किए गए हैं।

समकालीन कवि अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग विशेषण के रूप में करने से परहेज नहीं करता। कन्फ्यूज्ड दार्शनिक, रेडीमेड मस्तिष्क, थर्डक्लास कम्पार्टमेन्ट, हिस्टीरिया-सी झीलें, स्पुतनिक दिमाग, बेघरबार सन्नाटा, आक्रान्त पायलट जैसे शब्द इसी के प्रमाण हैं। प्रचलित या कल्पित कथाओं में चर्चित पात्रों के गुणों के कारण उनके नामों के प्रयोग भी विशेषण का कार्य करते रहे हैं। जैसे जयचन्द, विभीषण, एकलव्य, वाल्मीकि, अंगुलिमाल, नारद, अभिमन्यु, त्रिशंकु, विश्वामित्र, इन्द्र आदि नामों का प्रतीकात्मक प्रयोग समकालीन कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है।

(vi) विराम चिह्नों का नए तरीके से प्रयोग :-

विराम चिह्नों के प्रयोग से भाषा की अभिव्यक्ति में स्पष्टता आती है और वही कथन प्रभावपूर्ण बन जाता है। 'जब हम अपने भावों को भाषा के द्वारा व्यक्त करते हैं, तब एक भाव की अभिव्यक्ति के बाद कुछ देर रूकते हैं, यह रूकना ही विराम कहलाता है।'[2] पहले की कविताओं में इनका भरपूर प्रयोग किया गया है। छायावाद काल में ही महाकवि निराला द्वारा छन्दमुक्त कविता लिखने की घोषणा के साथ ही विराम चिह्नों का प्रयोग कम हो गया। आड़ी-तिरछी लकीरों, नए सामासिक चिह्न, छोटे-बडे टाइप आदि का प्रभाव प्रयोगवाद में सर्वाधिक रहा। प्रयोगवादियों पर आगे की कविताओं में भी अमरीकी कवि ई.ई. कमिंग्स का प्रभाव पड़ा है।

कमिंग्स ने शब्द के बीच में पड़ने वाले सामासिक चिह्न तथा कैपिटल लेटर का बहिष्कार किया है। एक वचन प्रथम पुरूष को वह हमेशा छोटे अक्षर में लिखता है। उसकी मान्यता है कि 'गाड' (GOD) के प्रथम अक्षर G को 'g' के रूप में तथा I को 'i' के रूप में लिखने से यह व्यक्त होता है कि वर्तमान संसार में इनका मूल्य घट गया है। इसका प्रभाव प्रपद्यवाद और प्रयोगवाद में सबसे ज्यादा रहा। समकालीन कविता के नवें दशक में भी ऐसे प्रयोग बहुतायत रूप में मिलते हैं। रघुवीर सहाय की कविता का एक अंश उल्लेखनीय है -

"न मैं आत्महत्या कर सकता हूँ
न.................. औरों.............का
खून।"[3]

---

1. डॉ० रणजीत : इतिहास का दर्द, पृ० 14
2. श्री शरण, अशोक गुप्त आदि : सचित्र व्याकरण बोध तथा रचना, पृ० 143
3. डॉ० नामवर सिंह : कविता के नए प्रतिमान, पृ० 183 से उद्धृत।

यहाँ प्रत्येक अक्षर दूर-दूर लिखा हुआ है, इससे मालूम होता है कि व्यक्ति हिंसा से पूरी तरह ऊब गया है और अब वह 'अब लौं नसानी अब न नसैहों' को केन्द्र बिन्दु मानकर अमानवीय कार्य न करने का संकल्प ले रहा है।

यही व्यंजना श्रीराम वर्मा की कविता में है, जिसमें दूर-दूर लिखा हुआ 'अ.......व..........शे.........ष' शब्द रूप-सौन्दर्य के विस्तार और उसकी विशालता को सूचित करता है -

"रूप इतना
कि ओस बनकर बिखर जाए
फिर भी दमकती रहे
अ............व............शे........ष।"[1]

समकालीन कविता में विराम चिह्नों का प्रायः ह्रास हुआ है। पहले की कविताओं में एक पंक्ति अथवा वाक्यांश समाप्त होते ही विराम चिह्नों का प्रयोग विधिसंगत माना जाता था, किन्तु इधर होने वाले तीव्रगामी परिवर्तन के आधार पर समकालीन कविता में कई-कई पंक्तियों के बाद अथवा पूरी कविता के समापन के बाद पूर्ण विराम का प्रयोग न्याय संगत माना जा रहा है। कहीं-कहीं बिना किसी विराम चिह्न के ही कविता समाप्त हो जाती है और उसके समापन की घोषणा के बाद भी 'अन्त' में विराम चिह्न नहीं लगाया जाता। कहीं-कहीं अल्पविराम (,), विस्मयादिबोधक (!) तथा प्रश्नवाचक चिह्न (?) अपनी जीवन्तता बनाए हुए हैं, वे भी मात्र एक औपचारिकता के रूप में।

इस समय कविताओं के लेखन अथवा प्रणयन में दो प्रकार की प्रणालियाँ अपनाई जा रही हैं:-

1. सपाटबयानी विधि
2. भाग या बटा विधि

1. सपाटबयानी विधि :-

बोलचाल की लय खंडित न हो, वाक्य-विन्यास की शक्ति को धक्का न पहुँचे, काव्य-कथ्य की ताकत कम न हो; इन शक्ति-बोध सम्बन्धी कमजोरियों को दूर करने के लिए कविता में तथाकथित सपाटबयानी का प्रयोग किया गया है। रंजना श्रीवास्तव की कविता 'माँ' का एक उदाहरण इस प्रकार है -

		विराम चिह्न			
		प्रश्नवाचक	**विस्मय**	**योजक**	**पूर्णविराम**
✻	"ओह माँ! तुम	–	1	–	–
	इतनी पीड़ाओं को				
	अपने में समाहित कर				
	कैसे जी लेती हो?	1	–	–	–
✻	सहती हो पिता की				
	डाँट-फटकार	–	–	1	–
	उनके फुँफकारते हुए				

1. *श्रीराम वर्मा : चौथा सप्तक, पृ0 234*

	क्रुद्ध अभिमान को .... सास को, श्वसुर को भाई, भतीजों को लिज़लिजे परम्परावादी बदरंग आदर्शों को				
❀	ओह माँ! साहस की जननी	–	1	–	–
	ममता की प्रतिमूर्ति क्या सूख गए हैं तुम्हारे आँसू ?	1	–	–	–
❀	या फिर उन्हें ज़ज्ब कर लेती हो सहनशीलता के दामन में	–	–	–	–
❀	मौन हो जाती हैं संवेदनाएं।"[1]	–	–	–	1
	कुलयोग	2	2	1	1

इस कविता में व्याकरणिक अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण कविता में दो बार विस्मयसूचक, दो बार प्रश्नसूचक, एक बार योजक तथा एक बार पूर्ण विराम चिह्न का प्रयोग किया गया है।

क्रियावाची शब्दों का प्रयोग अत्यल्प है। प्रथम अनुच्छेद में 'जी लेती हो?' क्रिया के द्वारा माँ के हृदय-पारावार की गम्भीरता का चित्रण है; दूसरे अनुच्छेद में 'सहती हो' क्रिया के द्वारा 'गृह कारन नाना जंजाला' से उत्पन्न पारिवारिक संत्रासों को माँ के द्वारा सुपाच्य बनाने का चित्रण है; अन्तिम तीन छोटे-छोटे अनुच्छेदों में सूखना, ज़ज्ब कर लेना या मौन हो जाना जैसी क्रियाओं का प्रयोग है। ये सभी अपनी-अपनी 'कारकीय' व्यवस्था के अनुरूप हैं। यदि प्रत्येक अनुच्छेद का सीधा अन्वय करके अर्थ ग्रहण किया जाए तो अर्थ की संगति में कोई बाधा नहीं पड़ती तथा कोई भी क्रिया अधूरी नहीं है।

यह बात सत्य है कि कई स्थानों पर विराम चिह्नों की आवश्यकता है, विशेषकर अल्प विराम (,) की; यथा द्वितीय अनुच्छेद में डाँट-फटकार, क्रुद्ध अभिमान को, श्वसुर को, भतीजों को, आदर्शों को; किन्तु कहीं भी अल्पविराम (,) चिह्न का प्रयोग नहीं है। समकालीन कविता यह प्रदर्शित करना चाहती है कि इन

1. प्रधान सं० विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ० 43, दिसम्बर 2002

अल्प विरामों से पाठक को हल्का-सा रूकना पड़ेगा। अतः वह रूकावट नहीं चाहती। वह तीव्रता और गतिमयता बनाए रखना चाहती है, ताकि उसकी सपाटबयानी में किंचित् बाधा न आए। यही कारण है कि अधिकांश समकालीन कविताएँ प्रायः लम्बी हो गई हैं और इन लम्बी कविताओं ने एक विस्तृत फलक पर आधुनिक व्यक्तियों के तनावों, यातनाओं और संकल्पों को व्यक्त किया है। यह कार्य न तो छोटी कविताओं द्वारा संभव है और न हि उपराम या विराम लेकर।

2. भाग या बटा विधि :-

भाग विधि या बटा विधि कविता की पंक्ति या उसके वाक्यांश को अलगाने का एक नया तरीका है। यह तिरछी रेखा (/) द्वारा इंगित किया जाता है। व्याकरण के विराम-चिह्नों में अभी इसकी गणना नहीं की जा रही है। इसका प्रयोग कहीं-कही 'अथवा' (छात्र/छात्रा) के अर्थ में होता है। लेकिन समकालीन कविता में इसका प्रयोग 'अथवा' के रूप में नहीं है। गणित में इसके लिए 'बटा' शब्द का प्रयोग होता है। गणित के आधार पर यदि इसकी विवेचना करें तो पहली पंक्ति 'अंश' और दूसरी पंक्ति 'हर' कहलाएगी। गणित में 'अंश' और 'हर' का महत्व भले ही कम या ज्यादा हो, किन्तु यहाँ पर हर काव्य-पंक्ति अपनी समान अर्थवत्ता रखती है। 'अंश पंक्ति' अथवा 'हर पंक्ति' परस्पर पूरक और अन्योन्याश्रित हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि समकालीन कवि अपने विचारों को प्रकट करते समय जहाँ कहीं भी किसी वस्तु या शब्द पर हल्का-सा बल (Force) देना चाहता है, वहाँ पर किसी अन्य विराम चिह्नों का प्रयोग न करके तिरछी रेखा (/) का प्रयोग करना सुगम समझता है। चूँकि उसकी कविताएँ प्रायः चित्रात्मक और विस्तृत फलक वाली होती हैं; छोटे-छोटे अनुभवों को मिलाकर एक विस्तृत अनुभव तैयार होता है; अतः यदि वह अपने हर छोटे अनुभव (अनुभवांश) और बलाघाती (Stress) शब्द को एक-एक पंक्ति में लिखेगा, तो बहुत सारे पृष्ठों की आवश्यकता पड़ेगी। शायद इसी विषय-विस्तार से बचने के लिए समकालीन कवि ने मितव्ययिता का परिपालन करते हुए भाग विधि या बटा विधि का सहारा लिया है।

नवोदित समकालीन कवि इस विधा का भरपूर प्रयोग कर रहे हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली उदीयमान समकालीन कवियों की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। यथा -

1. **"बूँद का सरगम छिड़ा है/ व्योम-बाला नाचती है**
   छत टपकती स्कूल की/ निर्माण की कविता जहाँ
   पोती हमारी बाँचती है
   एक काँटा है/ विरोधाभास का
   मन में कहीं/ गहरा धँसा है।"[1]
2. **तरु सोए, सोए तारक-दल/ भोर-भोर खोए तारक-दल**
   ओस-ओस रोए तारक-दल
   यह तो फैला-फैला आँचल / कभी न मैला माँ का आँचल
   यह गंगाजल।"[2]

---

1. सं0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक) देवव्रत जोशी की कविता, पृ0 96, अप्रैल - जून, 2001

2. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, पृ0 22

(vii) लोकोक्ति और मुहावरे :-

लोकोक्ति और मुहावरों के द्वारा भाषा में लाक्षणिकता की सृष्टि होती है। मुहावरा वाक्यांश है और इसका स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। लोकोक्ति सम्पूर्ण वाक्य है और इसका प्रयोग स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है। 'कोई भी ऐसा वाक्यांश जो अपने साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ को व्यक्त करे, उसे मुहावरा कहते हैं। लोकोक्तियाँ लोक-अनुभव से बनती हैं। किसी समाज ने जो कुछ अपने लम्बे अनुभव से सीखा है, उसे एक वाक्य में बाँध दिया है। ऐसे वाक्यों को ही लोकोक्ति कहते हैं। इसे कहावत, जनश्रुति आदि भी कहते हैं।'[1]

समकालीन कविता में भाषा को लाक्षणिक बनाने एवं काव्यगत सौन्दर्य को यथार्थ रूप देने के लिए लोकोक्ति एवं मुहावरों का यथास्थान प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल में अनेक सूक्तियाँ प्रचलित थीं, उन्हें परिवर्तित और परिवर्धित करके मौलिकता के साथ नवीनता में ढालने का काम समकालीन कवियों ने किया है। यद्यपि इस प्रकार का प्रयास छायावाद में भी हो चुका था, महादेवी वर्मा ने अपने गीतों में बहुत सारे मुहावरों का प्रयोग किया है, परन्तु छायावादी कवियों की दृष्टि काव्यात्मक सूक्तियों तक सीमित रही। उदाहरण के लिए कर्णपर्यन्त कटाक्ष या लोहे के चने चबाना आदि उक्तियों का प्रयोग नए धरातल पर किया गया है -

"कठिन है लोहे का चना होना
क्योंकि प्रमुख शब्दों के दाँत पहले ही टूट गए हैं।"[2]

इसी प्रकार स्वर्ग और नरक मनुष्य की दो आस्थामूलक धार्मिक मान्यताएँ हैं। सुकर्म करने वाला स्वर्गवासी और कुकर्म करने वाला नरकवासी होता है। कभी-कभी लोग क्रोध में आकर 'जहन्नुम' जाने की बात कर डालते हैं। 'मायादर्पण' के कवि श्रीकान्त वर्मा की ये पंक्तियाँ कुछ इसी प्रकार हैं -

"तुम जाओ अपने बहिश्त में
मै जाता हूँ
अपने जहन्नुम में।"[3]

मुहावरों का प्रयोग करने में समकालीन कवि इतने स्वतंत्र हैं कि अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक गति के रूप में उनके शब्दों को भी परिवर्तित कर दिया है। इस प्रकार के परिवर्तित रूप से मुहावरे प्रभावशाली अभिव्यक्ति में सहायक हुए हैं। समाज द्वारा उपेक्षित व्यक्ति पहले कुत्ते की मौत मरता था, किन्तु आज के इस यांत्रिक युग में हाईड्रोजन बम के बढ़ते प्रभाव के कारण कबूतर की मौत मरते हैं। राजकमल चौधरी की कविता का एक अंश देखिए -

"हाइड्रोजन बम परीक्षण में पंख फड़फड़ाते हुए
कबूतरों की मौत मर जाते हैं।"[4]

'धर्मशाला होना' एक आम मुहावरा है। पहले यह पवित्रता सूचक था और व्याकरण में 'यौगिक'

---

1. श्रीशरण, अशोक गुप्त आदि : सचित्र व्याकरण बोध तथा रचना, पृ0 163
2. लीलाधर जमूड़ी : नाटक जारी है (1972), पृ0 134
3. डॉ0 नामवर सिंह : कविता के नये प्रतिमान, पृ0 183 से उद्धृत
4. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, पृ0 27

शब्द था, किन्तु अब योगरूढ़ के आधार पर यह शब्द 'संकर' हो गया है। अब 'धर्मशाला' कहने से 'धर्म-घर' का अभास नहीं होता, उसमें बहुत से बेधर्मियों और आम आदमियों का भी समावेश होता है। शायद धूमिल ने ऐसे ही सन्दर्भ की ओर संकेत करते हुए कहा था -

"लगातार बारिश में भीगते हुए
उसने जाना कि हर लड़की
तीसरे गर्भपात के बाद
धर्मशाला हो जाती है।"[1]

समकालीन कविता में एक नया कार्य और हुआ है, किन्तु कुछ समीक्षक हो सकता है, उसे नया न मानें। इतिहास और पुराण में पाये जाने वाले विभिन्न व्यक्तिवाचक नामों को प्रतीक बनाकर मुहावरों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मुहावरों के रूप में विश्वामित्र, इन्द्र , एकलव्य, द्रोणाचार्य, त्रिशंकु , दुर्योधन, जयचन्द, नेहरू, गाँधी, आदि का प्रयोग करके शिल्पगत सौन्दर्य में वृद्धि की गई है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

"इन्द्रसभा के पीछे पागल
विश्वामित्र हुए।"[2]

- राजेन्द्र वर्मा

तथा

" तोड़ें दम्भ इन्द्र का मिलकर
सब की प्यास हरें।"[3]

- श्रीकान्त शास्त्री

प्रथम उदाहरण के अनुसार इन्द्रसभा अथवा संसद में पहुँचने के बाद हर व्यक्ति अहंकारी हो जाता है, कनक की मादकता उसे पागल कर देती है।' पागल होना' एक मुहावरा है। यहाँ पागल होने से तात्पर्य ' दीवाना होने' से है।

दूसरे उदाहरण में इन्द्र आभिजात्य या शोषक वर्ग का प्रतीक है, उसने अन्त्यज या निम्नवर्ग की नाक में दम कर रखा है। इन्द्र के अभिमान को तोड़कर ही सब की प्यास बुझाई जा सकती है,सब को राहत दी जा सकती है।'प्यास बुझाना' एक प्रचलित मुहावरा है, किन्तु ' प्यास हरना' उससे भी ज्यादा प्रचलित और वजनदार है। जब आदमी की भूख- प्यास हर जाती है, तो उसे कुछ भी नहीं अच्छा लगता है।

इस प्रकार समकालीन कविता में एक नया भाषिक सौन्दर्य लाने के लिए नाना प्रकार के मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है। आँख दिखाना, आँख फेर लेना, कान पर जूँ न रेंगना, नाक काटना, मुँह बन्द करना, दाँत पीसना, गर्दन पर छुरी फेरना, गला घोटना, पानी भरना, तलवे चाटना आदि मुहावरों तथा घर का भेदी लंका ढाए, जिसकी लाठी उसकी भैंस, दूध का दूध पानी का पानी, दोनो हाथों

---

1. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 7
2. प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 57, जुलाई-2002
3. सं0 आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0 58, मई- 2003

में लड्डू आदि लोकक्तियों का प्रयोग समकालीन कविता में यथास्थान अंकित है। कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार है-

" कहीं नहीं होती सुनवाई
कितना ही चिल्लाओं भाई।"[1]

- रमेश रंजक

" सभी तो आकाश गुनगुना रहे हैं
तुम कब तक दाँत पीसते रहोगे।"[2]

- वेणु गोपाल

"चोर- चोर मौसेरे भाई ही
हर एक दिशा में फैले।"[3]

- शिवाकान्त मिश्र' विद्रोही'

" अभिशापित त्रिशुंक जीता है
सिर धुनते - धुनते।"[4]

- राजेन्द्र वर्मा

(ख) पुराख्यान तत्व तथा कवि-समय :-

मिथक एक दीर्घ विश्वास एवं आस्था की परम्परा से उद्भूत होता है। इसका रचनाकार प्रायः अज्ञात होता है। प्राचीन युग के मिथकों का जनक कौन है, यह जानना बहुत कठिन है। कारण, मिथक व्यक्ति की अपेक्षा जाति और समूह से सम्बद्ध होता है और इस प्रकार यह जानना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो जाता है कि अमुक मिथक का प्रेरणा स्रोत कौन है।

प्राचीनकाल में मिथक का अर्थ केवल 'देवकथा' से लगाया गया था। इसी 'देवकथा' के आधार पर डॉ0 कैलाश वाजपेयी ने इसका सम्बन्ध 'पुराख्यान तत्व', डॉ0 कामिल बुल्के ने 'पुराण कथा', डॉ0 नगेन्द्र ने 'कल्पकथा' तथा अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने 'धर्मकथा' से जोड़ा। जैसे- जैसे विकास के कदम आगे बढ़ते गए, वैसे-वैसे इसके स्वरूप में परिवर्तन होता गया। परिणामतः आज मिथक का क्षेत्र साहित्य ही नहीं, अपितु लोक-साहित्य, धर्म-साहित्य, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और नृतत्व शास्त्र भी हो गया है। मिथक की परिधि अब विशाल एवं विस्तृत हो गई है। हिन्दी में भी मिथक प्रायः इसी रूप में ग्रहण किया जा रहा है।

समकालीन कविता में मिथकों का प्रयोग मूलतः सांस्कृतिक चेतना के अन्तर्गत हुआ है, जिसमें पौराणिक, ऐतिहासिक और धार्मिक आख्यान शामिल हैं। युगीन सन्दर्भ में मिथक का स्वरूप एवं कलेवर परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि मिथक में युगों की भावनाओं एवं सांस्कृतिक मूल्यों की

---

1. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, रमेश रंजक की कविता, पृ0 99*
2. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, वेणु गोपाल की कविता, पृ0 29*
3. *सं0 आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक) शिवाकान्त मिश्र 'विद्रोही' की कविता पृ0 54, अगस्त - 2003*
4. *प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 43, दिसम्बर 2002*

अभिव्यक्ति होती है। यह मिथक के प्रयोक्ता पर निर्भर है कि वह किस सन्दर्भ में उसे प्रयुक्त कर रहा है। समकालीन कविता में मिथक अब अपना मूल अर्थ नहीं देता, बल्कि उसका अर्थ प्रतीकात्मक हो गया है। हिन्दी के छायावादी युग में मिथक- प्रतीकों को बिम्ब और उपमा के रूप में देखने की प्रवृत्ति बलवती रही है। प्रयोगवाद व नई कविता में मिथकों का प्रयोग युगीन परिस्थितियों को अधिक तीव्र और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए एक पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है।

पौराणिक प्रतीकों एवं मिथकों के अन्तर्गत राम, कृष्ण, वामन, नृसिंह आदि अवतारी महामानवों का चित्रण तो होता ही है, साथ ही एकलव्य, धर्मराज, मनु, अगस्त्य, गौतम जैसे विशिष्ट पुरूषों एवं ऋषियों का भी चित्रण होता है। समाज में प्रतिकूलित पथों को उद्घाटित करने के लिए आसुरी प्रवृत्ति से जुड़े हुए पात्रो- रावण, कंस, दुर्योधन, कबंध, कालयवन जैसे पात्रों का भी अकंन होता है। समकालीन कविता में इन सभी प्रतीकों का प्रयोग यथास्थान किया गया है। सांस्कृतिक सौन्दर्य की रक्षा के लिए सीता, अनुसुइया, द्रुपदा, अहल्या आदि स्त्री पात्रों को भी घटनाबद्ध किया गया है।

हमारे यहाँ ईश्वर के दशावतरों में 'वामन' पाँचवाँ अवतार है। समकालीन कविता में वर्तमान पीढ़ी पर व्यंग्य करने के लिए उसे पौराणिक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ऋग्वेद शत्पथ ब्राह्मण तथा वामनपुराण आदि सभी ग्रन्थों में वामन का वृत्तान्त मिलता है। त्रिविक्रम नामक वामनावतार में उन्होंने धुन्ध नामक असुर को ढककर तीन ही चरणों में सारे भुवन को नाप लिया था। वहाँ वह पौराणिक कथा के रूप में वर्णित किया जाता रहा है। निम्नलिखित कविता में रचना का सारा विधान उसी क्रम में हुआ है, जिससे पुराणों की बलि और भगवान वामन की कथा का स्पष्टीकरण हो सके। यहाँ पर 'वामन' को एक जातिवाचक संज्ञा के रूप में चित्रित किया गया है और आज के छद्मवेशी वामनों से सतर्क रहने का संदेश भी दिया गया है-

" क्या पता
कल छद्मवेशी एक वामन
नाप के त्रैलोक्य केवल तीन ही डग में
और हमारे दम्भ के विस्तार को
बरबस समेटे लघु कलेवर में ।"[1]

धार्मिक चेतना के अन्तर्गत 'हरिद्वार' को हमारे यहाँ पवित्रता का प्रतीक माना गया है। आधुनिक युग में श्रीराम शर्मा आचार्य ने तो' गायत्री शक्ति-पीठ' के माध्यम से अखण्ड ज्योति ही जला दी है और उसे मोक्ष प्रदायिका नगरी के रूप में स्वीकार किया है। हिन्दू धर्म- कोश के अनुसार," हरिद्वार अथवा मायापुरी भारत की सात पवित्र पुरियों में से है। इसका अर्थ है- हरि(विष्णु) का द्वार । जहाँ गंगा हिमालय से मैदान में उतरती है,वहाँ यह स्थित है। प्रति बारहवें वर्ष जब सूर्य और चन्द्र मेष राशि पर तथा बृहस्पति कुम्भ राशि में स्थित होता है, तब वहाँ कुम्भ का पर्व होता है। हरिद्वार मुख्यतः वैष्णव तीर्थ है, किन्तु सभी सम्प्रदाय के लोग इसका आदर करते हैं।"[2]

इस प्रकार हरिद्वार अत्यन्त प्राचीन नगरी होने के कारण एक धार्मिक मिथक है। समकालीन

---

1. *सुश्री रमा सिंह : आजकल (मासिक), जनवरी 1969, 'हम'*
2. *डॉ0 राजबली पाण्डेय : हिन्दू धर्म-कोश , पृ0 699*

कवियों के अनुसार हरिद्वार आज के राजनीतिक पण्डों अर्थात् नेताओं का पर्यटन- स्थल हो गया है; वहाँ धर्म लुप्त है, राजनीतिक प्रपंच आगे है -

" राजनीति एक व्यापार हो गई है
संसद की सीढी-याने हर की पौढ़ी-याने
राजनीतिक पण्डों का हरिद्वार हो गई है।"[1]

यहाँ बात राजनीति की है, किन्तु हरिद्वार के साथ जुड़ जाने के कारण आज उस धर्मस्थल की महिमा पर प्रश्न-चिह्न लग गया है। समकालीन कविता धर्म का यह मिथक प्रस्तुत करके लोगों को सन्देश देना चाहती है कि धर्म को धर्म की आँख से देखें, राजनीतिक चश्मे से नहीं। समकालीन कवियों को यह विश्वास है कि राजनीति ने धर्म के मामले में जहाँ- जहाँ अपने क[illegible] रखे हैं, वही वहीं धार्मिक मिथकों के नाम पर द्वन्द्व को बढावा मिला है। समकालीन कवि इस द्वन्द्व को समाप्त करने के पक्ष में हैं।

धार्मिक भावना के अन्तर्गत' बलि- प्रथा' अत्यन्त प्राचीन है। बलि उपहार या नैवेद्य की वस्तु है। 'बलि-प्रथा' एक ऐसा मिथक है जिसका उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अन्य नाना पुराणों में हुआ है। हिन्दू धर्म- कोश के अनुसार-"देवों को बलि देना स्वेच्छया होता था, जिसे वे देवताओं द्वारा किए महान अनुग्रह का 'देय कर' समझते थे। यज्ञों में अनेक प्रकार की बलियों का वर्णन है।"[2]

हिन्दी-साहित्य के प्रत्येक युग में बलि-प्रथा के छुटपुट चित्र मिलते हैं। प्रसाद जी ने भी अपनी कामायनी में बलि-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई थी। स्वतंत्रता-आन्दोलन से जुड़े हुए अनेक धर्म नेताओं ने भी बलि-निषेध पर बल दिया था। समकालीन कविता में यह स्वर और प्रखर हो गया है। प्राचीन काल में जिस मिथक पर लोगों का अटूट विश्वास था, आज वही मिथक वैज्ञानिक कसौटी पर खरा न उतरने के कारण तितर-बितर हो गया है। समकालीन कवियों की घोषणा है कि 'जीवो जीवस्य भक्षकः', के सिद्धान्त का परिहर होना चाहिए। किसी जीवधारी का प्राण ले लेने से देवी-देवताओं को खुश नहीं किया जा सकता। डॉ0 युद्धवीर धवन के शब्दों में "क्या मानवीय तकलीफ से मुक्ति पाने, अपनी अस्मिता को दोबारा हासिल करने के लिए हिंसा के अलावा और कोई चारा बाकी नहीं रह गया? विकल्प के बारे में किसी बने बनाए, रूढ समाधान से इस तरह कतरा जाना रचनाकार की किसी कमजोरी का सबूत नहीं, उसके वैज्ञानिक रवैये और आधुनिक दृष्टि का प्रमाण है।"[3]

आदिवासियों के राजा शबर ने अपनी पुत्री शबरी (बाद में राम की अनन्य उपासिका) के विवाहोत्सव पर 'कुलदेवी' को खुश करने के लिए छागलक (बकरी का छौना) का वध कर दिया। बालिका शबरी को इस बात का पता न चल पाया। वह छागलक को न देखकर बेचैन हो गई। घर- द्वार, बावड़ी, बाग-बगीचे हर जगह उसे ढूढ़ आई। अन्त में जब उसे अपने पिता की जघन्य करतूत का पता चला तो वह बहुत उद्विग्न हुई। वह पिता के इस हिंसक कृत्य का विरोध करते हुए कहती है-

---

1. *ओमप्रकाश 'निर्मल' : कुछ हो रहा है, पृ0 5*
2. *2. डॉ0 राजबली पाण्डेय : हिन्दू धर्म-कोश , पृ0 437*
3. *डॉ0 युद्धवीर धवन : समकालीन लम्बी कविता की पहचान, पृ0 124*

" कैसा उत्साह उछाह?
यह कैसा समारोह
बलि पर बल देने का।
छगलक बलि किसने की?
पुरजन उन्मत्त मत्त मदिरा में
डूबे क्यों ?"[1]

इससे स्पष्ट है कि समाकलीन कविता समाज में फैले हुए नाना अन्ध विश्वासों और कुप्रथाओं का हल, शासन से नहीं, मानवीय सोच और सम्यक् ज्ञान से करना चाहती है। वह हर मानव के जीवन में नए पृष्ठ और नए आयाम जोड़ना चाहती है।

हम राम और लक्ष्मण को मिथक माने, या न माने, किन्तु सीता को तो मिथक मानना ही पड़ेगा क्योंकि सीता के जन्म के सम्बन्ध में अनेक मिथक प्रचलित हैं। सर्वमान्य मत यह है कि एक बार निमि वंश के राजा सीरध्वज अकाल पड़ने पर सोने के हल से यज्ञभूमि जोत रहे थे, तभी (आधुनिक शोधों के आधार पर पनउड़ा नामक गाँव के पास स्थित सरोवर) हलाग्र के लगने से दिव्य कन्या उत्पन्न हुई और उसी का नाम 'सीता' रखा गया। 'सीता' शब्द का अर्थ है- लाँगल पद्धति अर्थात् हल के फल से खेत में बनी हुई रेखा। सीता को एक महान नारी पात्र के रूप में देखा गया है, किन्तु समकालीन कविता में वह सामान्य नारी के रूप में चित्रित की गई है।। बोलचाल की भाषा में बोलचाल का दर्शन और घरेलू जीवन का अंकन समकालीन कविता में एकाकार हो उठा है। समकालीन कविता अपने परिवेश से जुड़ी होने के कारण यह मानकर चलती है कि मनुष्य को महनीय और उदात्त घटनाओं की प्रतीक्षा न करके साधारण मामूली जीवन को सार्थक भाव से जीना चाहिए-

" मैं जा रहा हूँ अकेला
मेरे साथ न लक्ष्मण है न सीता
न मेरा गन्तव्य कोई वन है
अगर वन होता तो होता
न कोई पार करने के लिए गंगा है
अगर गंगा होती तो पार करता।"[2]

– विपिन अग्रवाल ('नंगे पैर' :1970)

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि राम-वन-गमन के समय राम के साथ सीता और लक्ष्मण भी सहयात्री के रूप में थे, अतः अरण्य और गंगापार की यात्रा सुगम हो गई थी; किन्तु आज समकालीन कवि अकेला है फिर भी वह अदम्य साहस के साथ सब कुछ तय करने के लिए कटिबद्ध है। आज उसे 'सीता' जैसे मिथक की आवश्यकता नहीं है।

हमारे यहाँ निराला को 'छन्द-भंजक' तथा कबीर को 'रूढ़ि-भंजक' माना जाता है। कबीर अरबी भाषा का शब्द है। अरबी भाषा का यह शब्द श्रेष्ठ, महान, उत्तम आदि अर्थो को ध्वनित करता है। कबीर

---

1. धनंजय अवस्थी : शबरी, पृ0 22
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी : नई कविताएं : एक साक्ष्य, पृ0 120-121 से उद्धृत

एक क्रान्तिदर्शी कवि ही नहीं, बल्कि एक धार्मिक प्रतीक भी बन गया है। आज भारत में कबीर-पंथियों की संख्या पर्याप्त है। आज के बदलते हुए परिवेश और हत्यारे युग में प्रसिद्ध समाकलीन कवि बलदेव वंशी को कबीर की याद आई है-

"गहरी मार कबीर की
चित्त ते दियो उतार........
कहा था तुमने
ऐ बाबा.........
पर चित्त कोई दीवार तो नहीं
कि उस पर धरी
कोई मिट्टी की हत्यारी मूरत
उठाई और नीचे धर दी
जमीन पर।"[1]

कल्पचेता कबीर ने अपने समय में विषपायी समाज के जिस कीचड़ का प्रक्षालन दिया था, आज वह नया रूप धारण कर पुनर्सृजित हो रहा है। इस विषाक्त कीचड़ की जन्मदात्री आज की त्रिशूल भाँजती राजनीति है। कबीर के फौलादी स्वर के सामने वह अन्धरुढ़ि मानव- चित्त से सद्यः उतर जाती थी, किन्तु आज न जाने कितने कबीर उस कीचड़ को चित्त से उतार देने का दावा करते हैं, घोषणाएँ भी करते हैं; किन्तु विफलता ही हाथ लगती है। समकालीन कविता की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि उसमें मूल कथ्य को छिपाकर उसकी आवश्यकता को गुणीभूत करने वाले सन्दर्भो को अधिक उभारा जाता रहा है।

कवि-समय :-

कवि-समय को कवि-प्रौढ़ोक्ति, कवि-रूढ़ि, कवि-सत्य आदि कई नामों से सम्बोधित किया गया है। कवि-समय का अर्थ है- कवि-समाज में प्राचीन परम्परा से चली आती हुई बातें और परिस्थितियाँ। इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के 14वें अध्याय में किया है। उनके अनुसार "परम्परा से चली आती हुई जिन अशास्त्रीय एवं अलौकिक बातों का कवि वर्णन करते हैं, उन्हें कवि-समय कहते हैं।"[2] यहाँ अशास्त्रीय और अलौकिक से तात्पर्य ऐसी कवि-कल्पना से है जो शास्त्र द्वारा सम्मत न हो, साथ ही इस लौकिक जगत में सत्य न प्रतिभाषित होती हो। राजशेखर के पश्चात् उनके परवर्ती आचार्यो ने कवि-समयों का जो वर्णन किया है, वह प्रायः राजशेखर का ही पिष्टपेषण है राजशेखर के परवर्ती आचार्यो में हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, केशव मिश्र तथा हिन्दी के आचार्यो में केशवदास और जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के नाम उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य जगत् में कवि-समय की कोई परम्परा नहीं मिलती।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने 'कविप्रिया' में वाक्य रचना के ढ़ंग, कविता के विषय, वर्णन-परिपाटी तथा काव्य-समयों का वर्णन किया है। केशव के बाद कवि-शिक्षा का प्राचीन परिपाटी

1. प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 45, अक्टूबर-2003
2. राजशेखर : अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबघ्नन्ति कवयः स कवि-समयः।" - काव्यमीमांस : चतुर्दशोऽध्यायः

के अनुसार विस्तृत वर्णन जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'काव्य प्रभाकर' (1910ई0) में मिलता है। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से हिन्दी-साहित्य के नई दिशा की ओर अग्रसर होने पर काव्यांगो के साथ-साथ कवि-शिक्षा-विषयक धारणाओं में भी परिवर्तन हुआ। कवि ने बँधी-बँधायी परिपाटी से मुक्त होकर स्वतंत्र दृष्टि से प्रकृति और समाज की ओर देखना प्रारंभ किया। परिणामतः रीतिकाल के बाद 'कवि-समय' पर कोई स्वतंत्र काव्य नहीं लिखा गया, बल्कि कवि-समयों का स्वतंत्र फुटकर उल्लेख हर युग की कविता में यत्र-तत्र होता रहा।

राजशेखर ने अपने समय में कवि-समयों के तीन विभाग किए थे, वही विभाग आज तक हिन्दी-जगत् में चलते-चले आ रहे हैं। हिन्दी-साहित्य में आदिकाल से लेकर आज तक की कविताओं में जितने भी कवि-समयों का प्रयोग हुआ है, वे सब निम्नलिखित तीन विभागों के अन्तर्गत समाहित हैं-

1. स्वर्ग्य कवि-सत्य :-

जिनका सम्बन्ध स्वर्गलोक से हो, वे 'स्वर्ग्य कवि-सत्य' कहलाते हैं;- यथा-

1. चन्द्रमा को कलंकी मानना
2. चन्द्रमा का जन्म समुद्र से मानना
3. कामदेव के ध्वज में मीन या मकर का होना
4. कामदेव को मूर्त-अमूर्त दोनों मानना
5. शिव के माथे पर चन्द्रमा का नवोदित होना
6. बारह आदित्यों को एक मानना

2. पातालीय कवि-सत्य :-

जिनका सम्बन्ध पाताल लोक से हो, वे पातालीय कवि-सत्य कहलाते हैं; यथा -

1. नाग और सर्पो को एक मानना
2. देव, दानव और असुरों को एक मानना

3. भौम कवि-सत्य :

जिनका सम्बन्ध पृथ्वी लोक से हो, वे भौम कवि-सत्य कहलाते हैं; यथा -

1. नदियों में उत्पल का वर्णन
2. जलाशयों में हंसो का वर्णन
3. स्वाति बूँद का सीपी में पड़कर मोती बनना
4. पर्वतों में स्वर्ण, रत्न आदि का वर्णन
5. मलयगिरि में ही चन्दन का होना
6. चन्दन में सर्पो का लिपटे रहना
7. चक्रवाक-मिथुन का रात में अलग रहना
8. चकोरों का चन्द्रिका-पान करना
9. कोयल के कूकने का केवल वसंत में ही वर्णन
10. वर्षा में ही मयूरों के कूजने एवं नृत्य का वर्णन
11. दिन में शेफालिका के पुष्पों का झड़ना

12. यश और हास का रंग श्वेत होना
13. अयश और पाप का रंग काला होना
14. क्रोध और प्रेम का रंग लाल होना
15. मेघों में कृष्णता और पुष्पों में शुक्लता का वर्णन।

समकालीन कविता में कवि सत्यों का प्रयोग मिथकों की तुलना में बहुत कम हुआ है। इसका मात्र कारण कविता में समकालीनता और आधुनिकता का आग्रह है। जहाँ कहीं कवि-समय का प्रयोग हुआ है, वहाँ कविता का सौन्दर्य-बोध अवश्य बढ़ा है। समकालीन कविता में परम्परागत कवि-समयों का तो उल्लेख हुआ ही है, साथ ही कुछ ऐसे कवि-समय भी प्रयुक्त हुए हैं जो बिल्कुल नवीन हैं, जिनकी चर्चा पहले किसी कवि ने शायद ही की हो। उदाहरण के लिए यदि श्रृगालों की आवाज कई दिनों तक रात में न सुनाई पड़े तो दुष्काल की संभावना होती है; जिधर काले कौवे उड़े जा रहे हों, उधर नहीं जाना चाहिए; यदि पृथ्वी पर लाल रंग की चीटियाँ रेंगती हुई दिखाई दें तो जान लेना चाहिए कि आँधी या तूफान आने वाला है। एक उदाहरण इस प्रकार है, जिसे भौम सम्बन्धी कवि-समय के अन्तर्गत रखा जा सकता है-

"अगर कभी लाल चींटियाँ
दिखाई पड़ें
तो समझना
आँधी आने वाली है।"[1]

इसी प्रकार वर्तमान राजनीतिक असंगतियों पर व्यंग्य करने के लिए 'दादुर-शोर' और 'गिरगिट की तरह रंग बदलना' जैसे मुहावरों का प्रयोग किया गया है -

"मत-वर्षा के इस दादुर-शोर में
मैंने हर तरफ देखा
रंग-बिरंगे झण्डे फहरा रहे हैं
गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए
गुट-के-गुट टकरा रहे हैं।"[2]

यहाँ पर कवि ने चुनाव का जोरदार विरोध किया है। राजनीतिक नेता झूठे नारे लगाते हैं, अफवाहों के पुलिन्दे फेंकते हैं; देश, धर्म और नैतिकता की दुहाई देकर जनता को मूर्ख बनाते हैं। दादुर-शोर हमारे यहाँ पर्जन्य को आहूत करने वाली कात्य-रूढ़ि मानी गई है, किन्तु आज वह 'दादुर-शोर' संसदीय नेताओं के हल्ले-गुल्ले के प्रतीक के रूप में जाना जा रहा है। गिरगिट की तरह रंग बदलना एक मुहावरा है और काव्य-रूढ़ि भी। यहाँ पर ये दोनों ही काव्य-रूढ़ियाँ नए-सन्दर्भ के रूप में प्रयुक्त हुई हैं। इसे भी भौम-सम्बन्धी काव्य-रूढ़ि कहा जा सकता है।

स्वर्गिक काव्य-रूढ़ि के अन्तर्गत परियों द्वारा स्वर्ण-यष्टिका (सोने की छड़ी) घुमा देने से आनंद और सुख की अनुभूति होती थी। पारस-पत्थर के स्पर्श से कभी लोहा, स्वर्ण बन जाता था। ये काव्य-रूढ़ियाँ

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 18
2. धूमिल : संसद से सड़क तक ('पटकथा' से), पृ0 117-118

समकालीन कविता में नए भाव-बोध को लेकर प्रयुक्त हुई हैं। कवि को विश्वास है कि धार्मिक जुनून और साम्प्रदायिक हथकंडो को अपनाने वाले लोग एक बेहतर समाज-व्यवस्था कभी नहीं दे सकते। पहले सोने की छड़ी से 'वैभव' निकलता था और आज 'आतंक'। यथा –

"इस छड़ी से निकलेगा
नया समाज और नई व्यवस्था
और मैंने देखा छड़ी से
गोलियाँ निकलना शुरू हो गई हैं
हम देखते थे कभी जादू की छड़ी की ओर
आश्चर्य से।"[1]

कवि-समय के अन्तर्गत भगवान् विष्णु द्वारा क्षीरसागर में लेटे रहने की मान्यता अति प्राचीन है। यदि व्यक्ति तन्द्रा की अवस्था में हो तो जगाना आसान होता है, किन्तु चिरनिद्रा में लीन व्यक्ति को जगाना दुर्घट बात है। आज की सामाजिक व्यवस्था और उस व्यवस्था के दावेदार चिरनिद्रा में लीन, विलीन और तल्लीन हैं। नीचे की पंक्तियों में इस दृश्य को एक प्रतीकात्मक ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है –

"सोए हैं निश्चल मौन विष्णु क्षीर-सागर में
सागर में तट से लहराती हैं लहरें
निद्रामग्न विष्णु को जगाती हैं लहरें
किन्तु सोए हैं विष्णु चिरनिद्रा में
जागत है कभी चिरनिद्रामग्न कोई?"[2]

उपुर्यक्त पंक्तियों का काव्य-सौन्दर्य क्षीरशायी विष्णु का प्रतीकात्मक अर्थ स्पष्ट करने के साथ-साथ उस काव्य-रूढ़ि पर अधिक आधारित है, जिसके अनुसार भगवान् विष्णु क्षीर-सागर में शेषनाग-निर्मित शैय्या पर सोते रहते हैं। अतः शिल्प-सौन्दर्य की दृष्टि से उपर्युक्त पंक्तियाँ काव्य-रूढ़ि का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

चकोरी का निशाकाल में चन्द्रमा की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखना आदिम काल से ही कवि-सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है; सिन्धु में 'शैवाल' घास का पल्लवित होना भी इसी कवि-प्रौढ़ोक्ति की परम्परागत देन है –

"राग की अरूणिम-चकोरी
आदि-युग से आज तक क्यों
चन्द्रमा को हेरती है?
धूप की किरणें सदा पीती रहीं
जल-थल-किनारे

---

1. डॉ0 युद्धवीर धवन : समकालीन लम्बी कविता की पहिचान, नरेन्द्र मोहन की कविता (दृश्यान्तर) पृ0 30 पर उद्धृत

2. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक) प्रदीप पंत की कविता, पृ0 102 जनवरी-मार्च, 2002

तैरते हैं, सिन्धु में, शैवाल-से सपने तुम्हारे।"[1]

(ग) अलंकरण

अलंकार काव्य का शोभाकारक धर्म है, इस धर्म की चरम परिणति अलंकर या सजावट में है। समकालीन कविता में अलंकरण से सम्बन्धित जो भी विषय-सामग्री आएगी, वह नूनमेव सौन्दर्य-बोधक होगी। काव्य में रमणीयता और चमत्कार का उद्रेक करने हेतु अलंकारों की स्थिति आवश्यक है, अनिवार्य नहीं। समकालीन कविता अलंकरण के इन दोनों बिन्दुओं-आवश्यक और अनिवार्य का परिपालन करती हुई दिखाई देती है। समकालीन कविता के सम्पूर्ण परिदृश्य का अवलोकन करने के उपरान्त इस बात का आभास हो जाता है कि उसमें चाहे-अनचाहे लगभग सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है। चूंकि समकालीन कविता का मुख्य प्रवृत्यात्मक बीज सामाजिक यथार्थ है, अतः अन्य अलंकारों को यदि छोड़ भी दिया जाए तो रूपक, विरोधाभास, मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय उसके अभिन्न अंग हैं; उसमें भी सर्वाधिक महत्व है- अप्रस्तुत योजना का! इन्हीं सन्दर्भित अलंकारिक योजनाओं पर विचार-विवेचन अपेक्षित होगा।

अप्रस्तुत योजना :-

'अप्रस्तुत' शब्द 'उपमान' का पर्याय है तथा उपमा के चार अंगों में से एक है। उपमान को अप्रस्तुत कहने का कारण यह है कि प्रस्तुत वर्ण्य नहीं है, वरन् कवि द्वारा इसे लाया गया है; जैसे 'हरिपद कोमल कमल-से' इसमें कमल अप्रस्तुत है, क्योंकि प्रस्तुत पद की समता के लिए 'कमल' अप्रस्तुत से कवि ने इसका वर्णन किया है। इस प्रकार अप्रस्तुत जहाँ एक ओर अलंकारिक वस्तु है, वहीं दूसरी ओर वह कवि द्वारा लाई जाती है। आधुनिक काल में उपमेय और उपमान के स्थान पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अधिक प्रचलन हो गया है, किन्तु समकालीन विचारकों की अवधारणा है कि उपमान शब्द अपने आप में जितने व्यापक अर्थ का बोधक है, उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ की प्रतीति 'अप्रस्तुत-योजना' शब्द से होती है। अब उपमान शब्द-केवल औपम्यगर्भ अलंकारों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहावरा हो, चाहे कुछ हो- इसके भीतर सब समा जाते हैं। वास्तव में "अप्रस्तुत-योजना काव्य का प्राणतत्व है। यही काव्य में रसाद्रता, प्रभविष्णुता, सम्प्रेषणीयता और मर्मस्पर्शिता को संचारित करती है। इसी अप्रस्तुत-योजना के द्वारा काव्यगत भाव प्रमाता के लिए संवेदनीय बनता है।"[2]

अप्रस्तुत विधान का आधार सादृश्य, साधर्म्य और प्रभावसाम्य होता है। साम्य की स्थापना में ही कवि की कुशलता लक्षित होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुत के समान सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि भावनाएँ जगाते हैं।"[3] समकालीन कविता में अधिकांश कवियों ने सादृश्य या साधर्म्य के आधार पर अपनी कविताओं में अप्रस्तुतों का सन्निवेश किया है। अज्ञेय की इस घोषणा के बाद कि 'ये उपमान मैले हो गए हैं, समकालीन कवियों ने अपने-अपने नये उपमानों के द्वारा

---

1. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला ('विश्लेष' सर्ग से), पृ0 41-42

2. प्रधान सं0 : धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) पृ0 37

3. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 670

नए बिम्बों एवं प्रतीकों की उत्कृष्ट नियोजना की है। अप्रस्तुतों का यह विधान निम्नलिखित चार प्रकार से हुआ है-

1. मूर्त के साथ मूर्त
2. मूर्त के साथ अमूर्त
3. अमूर्त के साथ मूर्त
4. अमूर्त के साथ अमूर्त

1. मूर्त के साथ मूर्त :-

मूर्त के लिए मूर्त उपमान खोजने में कवि की कल्पना और सूक्ष्म दृष्टि कितनी दूर चली गई है, इसका एक उदाहरण लें। पूर्ववर्ती कवि नारी को 'योनिमात्र' की समझते थे। वे 'नील-झील' से नैनों की भाषा और व्यथा को नहीं पहचान पाए थे। समकालीन कवि के लिए नारी संयोग और जिस्म से परे भी कुछ है। गृहस्थी का दायित्व निभाती 'अमिय हलाहल मद भरे' नयनों से भिन्न नयनों वाली नारी इनके दृष्टि-पथ में आई है -

'केश विच्छिन्न! आर्द्रा के बादल-से
धुएं से भरी आँखे।'[1]

यहाँ पर बिथुरे हुए केशों की तुलना आर्द्रा-नक्षत्र के बादलों से की गई है; केश और बादल दोनों ही मूर्त हैं। प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दोनों को मूर्त बनाकर सुन्दर व्यंजना करने की निपुणता समकालीन कवियों में विद्यमान हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में नन्हीं बुढ़िया को कालजयी कृति मानकर मूर्त के साथ मूर्त की भूषणमयी संयोजना बैठाई गई है-

"वह नन्हीं-सी बुढ़िया
एक कालजयी कृति-सी।"[2]

प्रभावात्मकता की दृष्टि से की गई अप्रस्तुत-योजना के अन्तर्गत अनेकानेक उपमानों की माला गूँथकर भावानुभूति की तीव्रता की अभिव्यक्ति की गई है। श्रीकान्त वर्मा की कविता 'बादल निकल गए.. ....' में तुषार के कुप्रभाव को दर्शाया गया है, जिसकी प्रभावन-धारिता से कनक (गेंहूँ) चादर की तरह लम्बवत् बिछ गए हैं तथा पीतवर्ण पौध मोम की तरह गल गई है। निम्नलिखित पंक्तियों में कनक एवं चादर तथा पौध एवं मोम सुन्दर मूर्त को सुन्दर मूर्त से नियोजित किया गया है।

"झुलसे मटर चने पथराये
कनक बिछे चादर-से
पुष्पित पौध पीत हो आए,
गले मोम-से।"[3]

---

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा : अतुकान्त, पृ0 18
2. लक्ष्मीकान्त वर्मा : अतुकान्त, पृ0 18
3. सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश, (मासिक) श्रीकान्त शास्त्री की कविता, पृ0 38 से उद्धृत, अप्रैल 2003

2. मूर्त से अमूर्त -

जब वस्तु का स्थूल प्रत्यक्ष सूक्ष्म को आवृत करने लगता है तब प्रस्तुत मूर्त के लिए अप्रस्तुत अमूर्त का प्रयोग करना पड़ता है। मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत की योजना छायावादी युग में अधिक हुई है। समकालीन कविता के काव्यगत प्रतिमानों में परिवर्तन आ जाने के कारण सादृश्य का यह ढंग उतने विस्तार से नहीं प्रयुक्त हुआ; फिर भी कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :-

"एक क्वारी माँग
उस चिड़िया-सी चहकती है
अभी-अभी जिसका घोसला उजड़ गया है।"[1]

यहाँ पर क्वारी-माँग की तुलना चिड़िया से नहीं, बल्कि चिड़िया के चहकने से की गई है। 'चहकना' शब्द अप्रस्तुत क्रिया है। कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार है -

(1) **"दूध जैसी चाँदनी बन**
तुम खिली थी बाग में।"[2]

(2) **'किनारे पड़ी/सीप सा अकेला मन**
सिसकता रहा।'[3]

(3) **'प्रवाह के टूटते गाज-सा**
गंदा जीवन बजबजाया करता है।'[4]

3. अमूर्त से मूर्त :-

सादृश्य विधान में पाठक की भावनाओं को काव्यानुभूति के अधिक-से-अधिक निकट लाने के लिए कवि कई प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है। जब वर्ण्य का सूक्ष्म या अमूर्त अधिक प्रबल होता है, तब उसके लिए मूर्त (अप्रस्तुत) की अवतारणा की जाती है। सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। वाल्मीकि के क्रोध के भीतर प्राणिमात्र के दुःख की सहानुभूति छिपी थी, राम के क्रोध के भीतर सम्पूर्ण लोक के दुःख का क्षोभ समाया हुआ था। समकालीन कविता में व्यवस्था के प्रति आक्रोश से उत्पन्न क्रोध का जो सौन्दर्य है, उसका उद्देश्य सुसमाज की स्थापना है, किन्तु यह क्रोध जब व्यवस्था का कुछ नहीं बिगाड़ पाता तो जंगली सुअर की तरह सीधे निकल जाता है। क्रोध सब मनोविकारों से फुर्तीला है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की एक कविता है -

"मैं जानता हूँ मेरे दोस्त
हमारा तुम्हारा और सब का गुस्सा

---

1. *धूमिल : सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र, पृ0 57*
2. *सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, बृजनाथ श्रीवास्तव की कविता, पृ0 107, त्रैमासिक पत्रिका, जनवरी मार्च, 2002*
3. *सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश, डॉ0 सविता मिश्र की कविता, पृ0 57, मासिक पत्रिका, नवम्बर 2002*
4. *रामदश मिश्र : पक गई है धूप, पृ0 94*

जंगली सुअर की तरह तेजी से

सीधे दौड़ते हुए निकल जाएगा।'[1]

यहाँ गुस्सा अमूर्त है तथा जंगली सुअर मूर्त। इसी प्रकार आज जनतंत्र के नाम पर हर किसी को मनमानी करने की छूट है। जब तक पुलिस का रंदा नहीं लगता, समय और अनुशासन को लोग भूल जाते हैं। आज अमूर्त नागरिकता मूर्त पुलिस के हाथ में है -

'कि जनतंत्र में बिल्कुल नया जमाना है

और नागरिकता पर सबसे बड़ा रंदा थाना है।'[2]

इसी प्रकार अमूर्त के लिए लाए गए कुछ मूर्त उपमान इस प्रकार हैं -

(1) **'अकुलाई आस/गीली समिधा-सी**

सुलगती रही।'[3]

(2) **'मीठी यादें खण्डहर की तरह**

उसके चारो ओर खड़ी हैं।'[4]

(3) **'अतीत मेरे ऊपर से होकर गुजरता है**

चील के फैले हुए डैने की तरह।'[5]

4. अमूर्त से अमूर्त :-

कवि मूर्त से मूर्त की कल्पना तो बड़ी सहजता से कर लेता है, मूर्त से अमूर्त और अमूर्त से मूर्त की कल्पना भी थोड़े बहुत प्रयास से कवि के लिए सहजतर है, किन्तु अमूर्त उपमानों के लिए अमूर्त उपमानों की खोज बड़ी जटिल होती है। समकालीन कवियों ने जटिलता के इन्हीं बिन्दुओं को संस्पर्श करते हुए सौन्दर्य की सृष्टि की है -

'समय जल-सा

जहाँ से पकड़ो वहीं से टूट जाता है।'[6]

यहाँ पर 'समय' और 'जल' दोनों ही अमूर्त हैं। समय को टूटते हुए जल से उपमित करके घोल जल की आर्द्रता को व्यंजित किया गया है। इसी प्रकार श्रीकान्त शास्त्री की कविता का एक नमूना देखिए, जहाँ अमूर्त मरण के लिए अमूर्त पाला का प्रयोग किया गया है -

'छाई धुन्ध घिरे कोहरे से

मरण सदृश यह पाला बरसे।'[7]

---

1. डॉ0 गोविन्द रजनीश : समसामयिक हिन्दी कविता : विविध परिदृश्य, पृ0 173 से
2. लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है, पृ0 50
3. सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश, डॉ0 सविता मिश्र की कविता, पृ0 57, मासिक पत्रिका, नवम्बर 2002
4. सं0 डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती, इन्द्रकुमार शर्मा की कविता, पृ0 22, मासिक पत्रिका, नवम्बर 1992
5. स्वदेश भारती : चौथा सप्तक (अस्तित्व से), पृ0 112
6. रामदश मिश्र : पक गई है धूप, पृ0 48
7. सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश, श्रीकान्त शास्त्री की कविता, पृ0 38, मासिक पत्रिका, अप्रैल 2003

रूपक :-

रूपक का अर्थ है- 'एकता' अथवा 'अभेद' की प्रतीति। उपमेय (प्रस्तुत) और उपमान (अप्रस्तुत) का आरोपण अथवा उपमेय और उपमान का तादात्म्य रूपक कहलाता है। रूपक को उपमा के समान सहज सौन्दर्य-बोध का अलंकार कहा गया है। समकालीन कवियों ने नए अप्रस्तुतों या उपमानों की सर्जना करते हुए सांग, निरंग तथा परम्परित रूपक अलंकारों के माध्यम से सौन्दर्य-चित्रों की सृष्टि की है। एक उदाहरण देखिए, जिसमें कवि ने प्रकृति को कृषि के उपकरणों से तुलित कर एक नई व्यंजना की सृष्टि की है और इसके लिए उसने नवीन उपमानों का सहारा लिया है। लीलाधर जगूड़ी की कविता का एक अंश देखिए -

'रात! तुम काली खाद हो
तारो! तुम अच्छी नस्ल के बीज हो
चाँद! तुम हँसिया हो
आकाश! तुम खेत हो।'[1]

सांगरूपकों के प्रति समकालीन कवियों का विशेष मोह तो नहीं है; किन्तु यत्र-तत्र ऐसे सौन्दर्य-बिन्दु दुर्लभ भी नहीं है। प्रकृति के अपार वैभव से मानव को जोड़ने वाला निम्नलिखित उदाहरण अवलोकनीय है, जहाँ पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य अभेदता स्थापित की गई है -

'सोचा करता/मन-मधुवन में
भले श्याम-घनश्याम न आएं
पर राधा की हर उसाँस को
कान्ह-कान्ह मनभावन दे दूँ।
पर मरूथल की विकट प्यास को
चार बूँद का सावन दे दूँ।'[2]

इसमें मन पर मधुवन का, श्याम पर घनश्याम का, कान्ह (बादल) पर कान्ह का आरोप कलात्मक रमणीयता के साथ अर्थव्यंजकता का द्योतक है। कहीं-कहीं नितान्त सरल दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है -

'ओ गरूड़ मन उड़ चलो
अब पंख खोलो
बन प्रभंजन इन
हवाओं को टटोलो।'[3]

यहाँ 'प्रभंजन' और 'हवा' परस्पर पर्याय है; किन्तु प्रभंजन शब्द हवा की तुलना में ज्यादा प्रखरतर

---

1. चन्द्रभूषण सिन्हा : स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी काव्य और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ0 134 से उद्धृत।

2. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, डॉ0 देवेन्द्र आर्य की कविता, पृ0 97, त्रैमासिक पत्रिका, जनवरी-मार्च, 2002

3. सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश, श्रीकान्त शास्त्री की कविता, पृ0 38, मासिक पत्रिका, अप्रैल 2003

है। अतः गरुड़ रुपी मन को हवा की जाँच-पड़ताल के लिए 'प्रभंजन' बनने की सलाह दी गई है।

विरोधाभास :-

यह प्राचीनकाल से ही स्वीकृत चला आने वाला अलंकार है। आचार्य मम्मट के अनुसार 'अविरोऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।' (काव्य प्रकाश 10:110) अर्थात् जहाँ विरोध न होने पर भी ऐसा वर्णन हो, जिसमें विरोध की प्रतीति हो। महाकवि भूषण ने विरोधाभास में 'जहँ विरोध सो जानिए, साँच विरोध न होय' (शिवराज भूषण 182,184) तथा मतिराम ने 'जहँ विरोध सो लगत है, होत न साँच विरोध।' (ललित ललाम, 194) स्वीकार किया है। वास्तव में जिस वर्णन में विरोध न रहने पर विरोध का आभास हो, उसमें विरोध या विरोधाभास अलंकार होता है। जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया में परस्पर एक का दूसरे से विरोध होने से इस अलंकार के दस भेद होते हैं।

शिल्पगत सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए समकालीन कवियों ने विरोधाभास अंलकार का यथास्थान प्रयोग किया है, जिससे उनकी कविता में चमत्कार पूर्ण सौन्दर्य की सर्जना हुई है। ऐसे अलंकारों की संयोजना विसंगति एवं अभावपरक धरातल पर ज्यादा हुई है; यथा -

'खाली पात्र किसी का अपनी, प्यास बुझाकर भर देने से
मैने अक्सर यह देखा है, मेरी गागर भर जाती है।'[1]

जब व्यक्ति संवेदनावश किसी दूसरे व्यक्ति का पात्र भर देता है तो यह निश्चित है कि उसका स्वयं का पात्र रिक्त हो जाएगा अथवा कुछ कम हो जाएगा, किन्तु कवि की कल्पना है कि उसका पात्र सदैव लबालब भरा रहेगा। यह द्रव्य और द्रव्य में विरोध हे, किन्तु सच्चे अर्थो में वैश्विक स्तर पर कोई भेद नहीं है। इस अंश में प्रेम का जो तत्व प्रक्षेपित हुआ है, वह लोकोत्तर संवेदना है या विश्व-प्रेम के उस क्षितिज को छूता है जहाँ अपने-पराये का भेद पूरी तरह मिट जाता है।

इसी प्रकार अनूप अशेष की कविता का एक अंश देखिए, जिसमें विश्वमानव का बिम्ब संचरण करता है-

'जीवित हैं, मुर्दा हैं, पहचानी हैं
ये शक्लें अपनी हैं/ अनजानी हैं
टूटी खटिया के ये पवन/ हिंडोले हैं
चुप गुमसुम वाले/ कुछ मौन
कहीं बोले हैं।'[2]

यहाँ पर जीवित-मुर्दा, पहचाना-अनजाना, टूटी खाट-हिंडोला तथा मौन-वाणी ये सभी विरोधी गुण हैं। कवि ने अपनी दृष्टि में जीवित, मुर्दा, पहचाने, अनजाने सभी को समाविष्ट कर लिया है। इससे यह तथ्य उद्घाटित होता है कि समकालीन कवियों का दृष्टिकोंण परिचय के घेरे को तोड़कर उस क्षितिज को स्पर्श करता है, जिसमें संवेदना का धरातल सांकेतिक होते हुए भी सम्पूर्ण विश्व को अपनी परिधि में समेटे रहता है।

श्रीकान्त वर्मा ने विरोधाभास का प्रयोग कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक गहरे अर्थ की

---

1. कैलाशनाथ तिवारी : अँजुरी भर प्यास, पृ0 26, 1994 साहित्यालोक, अहमदाबाद
2. सं0 डॉ0 दिनेश सिंह : नये पुराने गीत, अंक - 1, पृ0 102, रायबरेली

अभिव्यंजना के लिए किया है-

'मैं सुखी/ हो रहा हूँ
मैं दुखी/ हो रहा हूँ
मैं सुखी-दुखी होकर
दुखी-सुखी हो रहा हूँ।'[1]

यहाँ सुख-दुख परस्पर विरोधी तत्व हैं। कवि दुखी है, लेकिन सुख को पहचानता भी है। उसके दुखी प्राण अमर सुख का पता रखते हैं। सम्पूर्ण वाक्य अन्त तक जाते-जाते 'हो रहा हूँ' की जिस अर्थ-गम्भीरता में परिणित होता है, वह आज की कविता में एक उपलब्धि है। 'अरथ अमित अति आखर थोरे' के ऐसे उदाहरण आज कम ही मिलते हैं। विरोधाभास के हिंडोले में कहीं पर शब्दों और तुकों से खेला गया है, तो कही पर सूक्तियों से; यथा -

(1) **'हर ईमानदारी का**
एक चोर दरवाजा है
जो सण्डास की
बगल में खुलता है।'[2]

(2) **'बिल्ली बनी है नाव, चूहा उसे धीरज से खेता है**
मेढ़क सोता है चैन की नींद/ साँप पहरा देता है।'[3]

विशेषण विपर्यय :-

विशेषण विपर्यय अंग्रेजी के 'ट्रान्सफर्ड एपीपेट' के पर्याय के रूप में व्यवहृत होता है। यह अंग्रेजी काव्य-शास्त्र का अलंकार है, जिसमें व्यक्ति के विशेषण को उससे सम्बद्ध वस्तु का विशेषण बना दिया जाता है। इसमें विशेषण का न्यास उसके विशेष से हटाकर विशेष्य से सम्बद्ध किसी अन्य संज्ञा के समीप कर दिया जाता है। छायावाद और उसके बाद के हिन्दी-काव्य में विशेषण-विपर्यय का व्यवहार विपुलता से हुआ है। ये अलंकार के माध्यम से समकालीन कविता में प्रचुरता से आए हैं। इसके अन्तर्गत किसी कथन को विशेष अर्थ-गाम्भीर्य प्रदान करने के लिए विशेषण को अपने स्थान से हटाकर अन्य स्थान पर बिठा दिया जाता है, जिससे काव्य में अर्थ-गाम्भीर्य के साथ-साथ अभिव्यंजना-वैचित्र्य की भी सृष्टि हो जाती है। समकालीन कविता बिम्बों और प्रतीकों पर आधारित है, अतः सभी क्षेत्रों में नए-नए विशेषणों की शोध हुई है। उदाहरण के लिए डॉ0 रणजीत की कविता 'पृष्ठभूमि' का एक अंश दर्शनीय है -

'फुटपाथों पर ठिठुर रहा है बेघरबार सन्नाटा
बेरोजगारी से तंग उजाला।'[4]

इसमें सन्नाटा और उजाला के लिए क्रमशः 'बेघरबार' और 'तंग' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया

---

1. डॉ0 नामवर सिंह : कविता के नए प्रतिमान, विसंगति और विडम्बना, शीर्षक पृ0 159 से उद्धृत
2. धूमिल : संसद से सड़क तक
3. डॉ0 सुमन राजे : चौथा सप्तक, पृ0 189
4. डॉ0 रणजीत : इतिहास का दर्द, पृ0 54

गया है। ये विशेषण किसी जीवधारी या प्राणि-दशा-बोधक के लिए प्रयुक्त होने चाहिए थे, किन्तु उन्हें वहाँ से हटाकर निर्जीव और अमूर्त विशेष्य (सन्नाटा, उजाला) से जोड़ दिया गया है। इसका मूल कारण यह है कि आज हम जिस परिवेश में रह रहे हैं; उसकी जिन्दगी बद से बदतर होती चली जा रही है, मानवीय मूल्य तिरोहित हो रहे हैं, फिर भी हम उसमें रहने के लिए अभिशप्त हैं।

विशेषण विपर्यय सम्बन्धी कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

(1) **'झरती भाप, खाँसता बिस्तर, चिथड़ी साँसे, उबकाई।**
धक्के देकर मुझे जिन्दगी, आखिर कहाँ गिरा आई।'[1]

(2) **लोकतंत्र के इस अमानवीय संकट के समय**
कविताओं के जरिए/मैं भारतीय
वामपंथी चरित्र को/भ्रष्ट होने से बचा सकूँगा।'[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में भाप, बिस्तर और साँस के लिए प्रयुक्त विशेषण झरती, खाँसता और चिथड़ा आदि भिन्न धर्मिता के नाते स्थानान्तरण की प्रतीति कराकर भी अर्थव्यंजना की स्फीति जगा जाते हैं। इसी प्रकार संकट न तो अमानवीय होता है और न चरित्र वामपंथी, बल्कि लोकतंत्र से जुड़ा हुआ व्यक्ति मतवाद के आग्रह के कारण अमानवीय और विचार-वैषम्य के कारण वामपंथी हो सकता है।

मानवीकरण :-

'अमानव' में मानव-गुणों के आरोप करने की साधारण प्रवृत्ति या प्रक्रिया को मानवीकरण कहा जाता है, अथवा मानवेतर पदार्थो पर मानव-सहज-गुणों का आरोप मानवीकरण कहलाता है। कला मानवीकरण द्वारा प्रकृति को रूपान्तरित करती है। हमारे देश के सिंह, हाथी, वराह आदि की मूर्तियों में मानवताऔर मार्मिकता की स्पष्ट झलक है। कला की भाँति धर्म भी धार्मिक भावना के आधार के लिए प्रतीकों की सृष्टि करता है। मानवीकरण इस प्रक्रिया का सार है। समकालीन कविता में मानवीकरण की परम्परा छायावाद से प्राप्त हुई है और उसको ही समकालीन कवियों ने व्यापक जीवन-परिवेश के सन्दर्भ में ले जाकर समृद्ध किया है; जैसे -

'रोशनी की रक्ताभ अँगुलियाँ
कितनी ही बार मेरे बन्द दरवाजे पर
दस्तक देकर लौट गई हैं।'[3]

यहाँ पर रोशनी का तो मानवीकरण है ही, साथ ही रोशनी रूपी मानव की रक्ताभ उँगलियों से दरवाजे पर दस्तक देने की बात भी कही गई है। इस प्रकार रोशनी का जो रूपान्तरण मानव के रूप में हुआ है, वह मानवीकरण की कलात्मक अनुभूति का परिचायक है।

एक दूसरा उदाहरण लें, जिसमें कबंध एक पौराणिक हिंसापरायण राक्षस था। उसकी आकृति केवल कबंध (धड़) के रूप में थी, क्योंकि उसका ललाट और मुख-भाग छाती में घुस गया था। वह अपनी

---

1. डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, कैलाश वाजपेयी की कविता पृ0 135 पर उद्धृत
2. धूमिल : सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र, पृ0 81
3. स्वदेश भारती : चौथा सप्तक ('अँधेरा' कविता) पृ0 117

एक-एक योजन लम्बी भुजाओं से इच्छित आहार करता था। समकालीन कविता में इसी कबंध को एक साक्षात् युद्ध के रूप में चित्रित किया गया है -

'युद्ध एक कबंध है अंध
दोनों हाथों में खड्ग लिए
लाशों की सड़क पर दौड़ता
नख-शिख रक्त-स्नात।'[1]

(घ) बिम्बगत सौन्दर्य :-

बिम्ब का शाब्दिक अर्थ है- मूर्ति, छाया, झलक, प्रतिबिम्ब आदि। अंग्रेजी में बिम्ब को 'इमेज' (Image) तथा बिम्ब विधान को 'इमेजरी'(Imegery) कहा गया है। काव्य में अप्रस्तुत (उपमान) का महत्व अपरिहार्य है; बिम्ब उसी अप्रस्तुत का मानसिक या काल्पनिक रूप होता है। उदाहरणार्थ ताजमहल के निर्माता ने अपनी कल्पना की सहायता से पहले- पहल अपने मानस अर्थात् कल्पना में ताजमहल का एक मानसिक चित्र अंकित किया होगा; फिर उसकी एक छोटी-सी साकार प्रतिमा बनाई होगी। इसके बाद उस प्रतिमा को ताजमहल के रूप में साकार कर दिया होगा। इसीलिए बिम्ब का दूसरा नाम 'मानस-प्रतिमा' या ' मानसी प्रतिकृति' भी है।

मूलतः बिम्बों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है- उद्भव के आधार पर और ऐन्द्रिय संवेदना के आधार पर। उद्भव के आधार पर प्रतिमाएँ दो प्रकार की मानी जाती हैं- स्मृति-जन्य और स्वरचित। स्मृति-जन्य बिम्ब किसी पूर्व स्मृति के आधार पर निर्मित होते हैं; यथा अपने किसी बिछुड़े हुए मित्र की जब हम याद करते हैं तो हमारे मानस-नेत्रों के सम्मुख उसके रूप, रंग, स्वर, और भंगिमायें आदि प्रत्यक्ष हो उठते हैं। इन्ही को जब हम शब्दों में बाँधकर प्रस्तुत कर देते हैं तो उसका बिम्ब बन जाता है। इसके विपरीत स्वरचित बिम्ब नवीन और मौलिक होते हैं; यथा- कालिदास ने 'मेघ' और 'दूत' को अलग- अलग देखकर 'मेघदूत' की कल्पना की होगी। यह नूतन प्रतिमा का निर्माण बिम्ब विधान कहलाता है। ये दोनों प्रकार के बिम्ब हमारी मानसी प्रतिकृति के प्रतिफल हैं, अतः इन्हें समवेत रूप में 'मानस-बिम्ब' का नाम दिया जा सकता है। इस प्रकार विधायक तत्वों के आधार पर बिम्ब प्रधानतः दो प्रकार के होते हैं-

(1) मानस बिम्ब

(2) ऐन्द्रिय बिम्ब

यह सत्य है कि समकालीन कविता में सपाटबयानी अपनाई जा रही है, किन्तु बिम्ब-योजना से वह मुक्त नहीं हो पाई है। बोलचाल और संप्रेषण के माध्यम से जो बिम्ब-योजना उभर कर सामने आई है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। उसमें सायास जटिलता का आग्रह और अनिश्चितता नहीं है। नई कविता और विभिन्न सप्तक काव्यों की लम्बी यात्रा तय करके जो कवि समकालीन कविता में आए हैं,उनका बिम्बगत सौन्दर्य प्राक्तन् कविताओं में चाहे जो रहा है, किन्तु यहाँ आकर स्वस्थ और खरा हो गया है। रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और श्रीकान्त वर्मा आदि कवियों ने सपाटबयानी का मूल्य पहचाना

---

1. सं0 विद्यानिवास मिश्र : साहित्य अमृत, दयाकृष्ण विजय वर्गीय विजय की कविता, पृ0 29, मासिक पत्रिका, जुलाई 1999

है, लेकिन उसे अपनी बुनियादी बिम्ब-धर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसका अनुकूल संयोजन किया है। इध र नवें दशक के बाद के अधिकांश कवियों ने बिम्ब-धर्मिता का सम्यक् निर्वहन किया है। समकालीन कविता का परिदृश्य इतना विस्तृत है कि बिम्ब के लगभग सभी रूपों का अंकन इन कविताओं में चाहे-अनचाहे अवश्य हुआ है।

बिम्बों के प्रकार :-

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि विभिन्न परिस्थितियों और दशाओं के आधार पर बिम्बों के चाहे जितने भेद किए जाएँ, किन्तु बिम्ब मूलतः दो ही प्रकार के होते हैं-

1. मानस बिम्ब
2. ऐन्द्रिय बिम्ब

1. मानस बिम्ब :-

मानस बिम्ब आन्तरिक होता है, वह कभी चाक्षुष नहीं होता; वह ज्ञान-चक्षुओं से ही दृष्ट रहता है। मानस-बिम्ब में अलंकृत, सान्द्र , भाव, विवृत एवं वस्तु आदि बिम्ब शामिल रहते हैं।

अलंकृत बिम्बों का एक मात्र आधार कलात्मक सौन्दर्य होता है। किसी चमत्कार पूर्ण अथवा दूरान्वयी कल्पना द्वारा इस श्रेणी के बिम्बों की सृष्टि होती है। समकालीन कविता में इनके लिए नए-नए उपमानों की खोज हुई है, किन्तु अलंकृत बिम्ब को सौन्दर्यवान बनाने के लिए नए-नए उपमानों की खोज करना समकालीन कविता का रचना-धर्म नहीं है। वे तो स्वभावतः यथार्थ की भूमि पर अवतरित हो गए हैं।

सान्द्र बिम्बो की विशेषता उनके घनत्व और अभिव्यक्ति के कसाव पर निर्भर होती है। समकालीन कविता में वस्तुतत्व के प्रति अधिक जागरूकता होने के कारण सान्द्र बिम्बों का सृजन भी अधिक नहीं हुआ है। कटु यथार्थ को चित्रित करने में समकालीन कवियों में काव्य के रूप-तत्व के प्रति एक उपेक्षा का भाव दृष्टिगत होता है। अतः सान्द्र बिम्बों के उदाहरण छायावाद की अपेक्षा प्रायः कम हैं।

समकालीन कविता में यथार्थ और बौद्धिकता का आग्रह बढ़ जाने के कारण भावात्मक या संवेद्य बिम्बों का प्रायः अभाव है, किन्तु उनमें इस जबरदस्त आग्रह के बावजूद जीवन के मर्मस्पर्शी चित्रों को उतने ही प्रभाव के साथ अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। कम-से-कम शब्दों में भूख, गरीबी, और अभावों को व्यक्त करने वाला चित्र देखिए-

> **"रंगतू की नंगी औरत**
> **बाहर नहीं आ सकी**
> **लेकिन भीतर**
> **बच्चे उसके शरीर से पहनावे की तरह चिपके हुए थे।"**[1]

समकालीन कविता में वस्तु और विवृत बिम्बों का सफल प्रयोग हुआ है। किन्तु आनुपातिक दृष्टि से वस्तुवादी बिम्बों की प्रधानता है। विवृत बिम्ब वहाँ होता है, जहाँ छोटे से तथ्य या भाव को कल्पना द्वारा बड़े व्यापक ढंग पर चित्रित किया जाता है। इसके लिए बड़े कैनवस की अपेक्षा होती है। विवृत बिम्बों का

---

1. लीलाधर जगूड़ी : बची हुई पृथ्वी (बलदेव खटिक की कविता) पृ0 103

बहुत कुछ ढाँचा वस्तु बिम्ब की तरह ही होता है, अतः इसे कहीं-कहीं वस्तु बिम्ब की भी संज्ञा दी गयी है।

वस्तु बिम्ब में यथार्थ की रेखाएँ दृढ होती हैं। अतः वस्तु पक्ष अधिक स्पष्ट और व्यापक होता है। मूर्तिकरण की स्थिरता और गति के अनुसार वस्तु बिम्बों की 'प्रतिचित्रात्मक' और 'व्यापर व्यंजज' (गत्यात्मक) दो श्रेणियाँ हो गई हैं। समकालीन कविता में दोनो प्रकार के वस्तु बिम्बों का प्रयोग हुआ है। नीचे की पंक्तियों में जो चित्र मूर्तिमान हुआ है, वह स्थिर न होकर गत्यात्मक है-

"वास्तव में लक्षद्वीप की आदिम जनता ने
कोई आलीशान जलयान नहीं देखा है
इससे तैयार रहें
बहुत बड़ा स्वागत-दल कितने उल्लास से
उमड़कर आएगा सागर के तट पर
अपने विचित्र वस्त्र धारकर
गोवा भी जाएंगे
संत जेवियर देखें
श्रीलंका जाएंगे
बौद्ध मन्दिर देखें
मत भूलें भारत के सर्वप्रथम जल-विहार के इस आयोजन में
आप चुने-चुने बड़े लोगों के साथ होंगे।"[1]

इस चित्र में कहीं भी उपमा या सादृश्य का रंग नहीं है। समस्त वातावरण के वस्तुगत सौन्दर्य को बहुत तटस्थ भाव से रूपायित करने का प्रयत्न किया गया है। इसे विवृत बिम्ब भी कहा जा सकता है, क्योंकि 'यात्रा' जैसे छोटे तथ्य को विस्तृत फलक पर दिखाया गया है।

2. ऐन्द्रिय बिम्ब :-

ऐन्द्रियता बिम्ब का प्रधान गुण है। उसमें सभी ऐन्द्रिय अनुभव शब्द, स्पर्श, रूप , रस, गन्ध परस्पर गुम्फित हैं। इसी कारण बिम्बों की कोटियों का विभाजन इन्द्रिय बोध सम्बन्धी अर्थात ध्वनि सम्बन्धी, स्पर्श सम्बन्धी, दृष्टि सम्बन्धी, रस सम्बन्धी एवं गन्ध सम्बन्धी हुआ है। कवि की ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, की संवेदनाओं को ग्रहण करती हैं। ये संवेदनाएँ कवि-मानस में बिम्ब का रूप धारण करती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी ऐन्द्रिक अनुभवों से निःसृत बिम्बों को स्वीकृति देते हैं। वे अपने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध में दृश्य में केवल नेत्र-गोचरता के अलावा रूप, रस, गन्ध, आदि ऐन्द्रिक अनुभवों को स्थित बताते हैं।[2]

---

1. *रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 61*
2. *" 'दृश्य' शब्द के अन्तर्गत केवल नेत्रों के विषयों का ही नहीं अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (जैसे शब्द, गंध, रस) का भी ग्रहण समझना चाहिए।" - रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-1, पृ0 1*

ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर बिम्ब के पाँच भेद किए जा सकते हैं- श्रव्य, स्पृश्य, दृश्य, आस्वाद और घ्रातव्य।

क. श्रव्य बिम्ब :-

श्रव्य बिम्बों का ग्रहण नाद के द्वारा वर्ण-ध्वनि, छान्दस लय, तुकान्त आदि के माध्यम से प्रमाता करता है। इस प्रकार के बिम्ब प्रकृति-वर्णन, युद्ध- वर्णन, यात्रा-वर्णन, स्थल-वर्णन आदि वर्णनों की अलंकार-योजना में पद्धति- निर्वाह के रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक श्रव्य बिम्ब ऐसे हैं जो ध्वनि-प्रतीकों पर आश्रित रहते हैं; जैसे - वीणा, वंशी, मृदंग, कोकिल, केकी आदि। रामचन्द्र शुक्ल ने तो यहाँ तक कहा है-"नाद-सौन्दर्य कविता की आयु को बढ़ाता है।"[1] समकालीन कविता में ऐन्द्रिय प्रेषणीयता को बढ़ाने के लिए निर्झर, सागर, झंझा, मेघगर्जन, आँधी, प्रलय, बाँसुरी, कलकल आदि छायावादी युगीन ध्वनियों का प्रयोग नहीं हुआ।

समकालीन कविता में ध्वनि सम्बन्धी सारी मसृणताएँ नौ दो ग्यारह हो चुकी हैं। चारो ओर फैले विसंगतिपूर्ण कुहासों के कारण कवि की मानसिकता उद्वेलित हो उठती है। राजनीतिक परिस्थितियों का आमना-सामना होने पर कवि की नींद टूट चुकी है। उसका पूरा जिस्म पसीने से सराबोर है। वह देख रहा है-

"हर तरफ, विरोधी विचारों की दलदल है
सतहों पर हलचल है
नए-नए नारे हैं/ भाषण में जोश है
पानी ही पानी
पर
की
च
ड़
खामोश है।"[2]

यहाँ पर प्रयुक्त दलदल, हलचल, नारे, खामोश आदि शब्द ध्वनि-वाचक हैं। 'कीचड़' शब्द के प्रत्येक अक्षर को प्रथक-प्रथक करके लिखा गया है, ताकि प्रत्येक अक्षर की ध्वनि कर्ण-रन्ध्रों में साफ-साफ प्रवेश कर सके। यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि प्रत्येक अक्षर को चबचबाकर बड़ी मुश्किल से रखा गया है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, चन्द्रकान्त देवताले, रणजीत, धूमिल आदि की कविताओं में संवेदनशील व्यक्तियों की गहरी चीखों का यथास्थान वर्णन किया गया है। ये सभी ध्वनि-संवेदनाएँ भिन्न-भिन्न श्रव्य-बिम्बों का निर्माण करने में सहायक हुई हैं।

ख. स्पृश्य बिम्ब :-

स्पृश्य बिम्ब में स्पर्शजन्य संवेदनाओं के समन्वय से बिम्ब का निर्माण होता है। समकालीन कविता में छायावादियों के आलम्बन, चुम्बन, कोमलता, मृदुलता और सुकुमारता जैसे स्पर्श-बोधक शब्दों का प्रयोग

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा, पृ0 38
2. धूमिल : संसद से सड़क तक ('पटकथा' कविता) पृ0 125

नहीं मिलता। काव्य में यथार्थ की अनुभूति प्रबल होने के कारण तापपरक स्पर्श बिम्बों का कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है। वेदना की अभिव्यक्ति के लिए शीतोष्ण पदार्थों का प्रयोग आवश्यक ही नहीं; अनिवार्य भी हो जाता है। उदाहरण के लिए सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'जंगल का दर्द' काव्य-संग्रह में राजनीति के गुर्राते हुए बाघों और काले तेंदुओं को खदेड़ने के लिए ताप-बोधक मशाल का बिम्ब खड़ा किया है। धूमिल ने पटकथा लम्बी कविता में शीत-ऋतु की ठंड से बचने के लिए ऊन के बिम्ब का निर्माण किया है-

'मैने देखा, स्लेट पर चलती उनकी उँगलियाँ
लौ में बदल रही हैं/ और दूसरा शब्द लिखते ही
उनका हाथ मशाल में बदल जाता है।'[1]

इधर के समकालीन कवियों ने जिनकी रचनाएँ प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती है, प्रकृतिपरक रचनाओं के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दोहराई है, किन्तु उन रचनाओं में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रखरता के स्वर मौजूद हैं -

(1) **'धरती की अँतड़ियों से बटोर रहे हैं**
गर्म रेत, उगा रहे हैं लाशों की खेती
फसलों में मिला रहे हैं बारूदी खाद।'[2]

(2) **'अभी तक जो सिर्फ/सीलन से भरी थी**
ढह रही दीवाल इस आसाढ़ में।'[3]

(3) **'बासीपन झील में/डुबोये**
दर्दों में आलपिन/ चुभोये।'[4]

ग. दृश्य बिम्ब :-

दृश्य बिम्ब को रूप अथवा चाक्षुष बिम्ब भी कहते हैं। ऐन्द्रिय संवेदनाओं में रूप सम्बन्धी संवेदना सर्वोपरि है। ये दृष्टि के समक्ष रूप को रूपायित करते हैं। इन बिम्बों की सृष्टि करने में संज्ञा, विशेषण, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, अप्रस्तुत-योजना आदि उपकरण उपयोगी माने जाते हैं। इन्हीं के सहारे समकालीन कवियों ने बिम्ब-निर्माण किया है; यथा -

(1) **'बड़े हत्थों वाली कुर्सी पर लेटे बाबा ने**
राम का अन्तिम बार नाम लेकर
अपनी माला अपने गले में डाल ली
और सिर घुमाकर
एक बार सूने आकाश को देखा।'[5]

---

1. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : जंगल का दर्द, पृ0 19
2. सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश, प्रीति श्रीवास्तव की कविता, पृ0 33, मासिक पत्रिका, फरवरी 1997
3. डॉ0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती, (मासिक) कौशलेन्द्र की कविता, पृ0 29 नवम्बर, 1992
4. नरेन्द्र चंचल : गन्धवाण, पृ0 20, 1991 नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
5. विपिन अग्रवाल : नंगे पैर, पृ0 22

(2) **'मेरी निगाह कुछ कमजोर हो गई है**
दिल्ली की सड़कें दीखती हैं जैसे कुआनो नदी।[1]

(3) **'तीज त्योहारों को भी**
पहुँच जाता है वह
अनचाहे जानवर-सा
कितने ही द्वारों पर।'[2]

(4) **'आकाश की बाहों में सोया है**
अभी तक फरवरी बसंत।'[3]

प्रथम उदाहरण में मध्यम वर्गीय धार्मिक व्यक्ति का बिम्ब मूर्तित किया गया है। दूसरे उदाहरण में नगरीय ताप-परिताप, दबाव-तनाव अपने पूरे वेग से अभिव्यक्त हुआ है। दिल्ली की शानदार सड़कों के लिए निरीह 'कुआनो नदी' का बिम्ब रूपायित किया गया है। तीसरे उदाहरण में एक दलित के लिए जानवर का बिम्ब खींचा गया है तथा चौथे उदाहरण में बसंत का मानवीकरण किया गया है।

घ. घ्रातव्य बिम्ब :-

ऐन्द्रिय संवेदनाओं में घ्राणिक बिम्ब के अन्तर्गत गन्ध की संवेदना अत्यन्त सूक्ष्म मानी जाती है। घ्रातव्य बिम्बों का निर्माण भिन्न-भिन्न गन्ध रूपों के प्रतीक फूलों आदि के द्वारा होता है। समकालीन कविता में ये प्रयोग अत्यन्त विरल हैं। विश्व के काव्य में भी ऐसे उदाहरण एकत्र करना अत्यन्त कठिन है, जिनमें संश्लिष्ट घ्रातव्य बिम्ब प्रस्तुत किए गए हों।

छायावाद में अगरू, धूम, धूप, कर्पूर तथा विविध पुष्पों के माध्यम से जिन गन्ध पुष्पों की कल्पना की गई थी, वे समकालीन कविता में एक नए परिवर्तन के साथ प्रस्तुत हुए हैं। वह गन्ध या सुगन्ध प्रखर गन्ध में बदल गई है -

'गरज यह कि अपराध
अपने यहाँ एक ऐसा सदाबहार फूल है
जो आत्मीयता की खाद पर
लाल-महक फूलता है।'[4]

यहाँ पर समाज में दिनोदिन बढ़ते हुए अपराधीकरण को सदाबहारी पुष्प के रूप में बिम्बित किया गया है, आत्मीयता की खाद पाकर वह ऊर्जावान हो उठता है और निरन्तर निर्गन्ध होकर महकता रहता है।

इसी प्रकार चुनाव हमारे यहाँ बुराइयों की जड़ है। इसमें व्यक्ति खामखाह व्यर्थ के नारों में गलता है। बलदेव वंशी ने इसे कुकुरमुत्तों की फसल कहा है, जो निरन्तर सुगन्ध के स्थान दुर्गन्ध ही देता है -

---

1. *सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 11*
2. *सं0 विद्यानिवास मिश्र : साहित्य अमृत (मासिक), दिविक रमेश की कविता, पृ0 17 जुलाई 1999*
3. *डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, गंगा प्रसाद 'विमल' की कविता, पृ0 116*
4. *डॉ0 नन्दकिशोर नवल : कविता की मुक्ति, पृ0 138*

'जहाँ भी गिरी हैं हैलिकाफ्टर की पर्चियाँ
वहीं लहराई है कुकुरमुत्तों की फसल।'[1]

इसी क्रम में घ्राणिक बिम्ब के दो उदाहरण और दृष्टव्य हैं -

(1) **'तीव्र दुर्गन्ध से भरी गली में**
शीतल मन्द सुगन्धित पवन।'[2]

(2) **'उसकी नाभि में एक सड़ा हुआ घाव है**
जिसमें लगातार भयानक बदबू
मवाद बह रही है।'[3]

ङ. आस्वाद या रासनिक बिम्ब :-

किसी भी दृश्य को रसनेन्द्रिय बनाना अत्यन्त कठिन होता है। चूँकि स्वाद के स्तर पर स्वयं उसका अनुभव करना और सहृदय तक उस अनुभूति को सम्प्रेषित करना रचनाकार की कल्पना के लिए कठिन है; अतः समकालीन कविता में ही नहीं अपितु, पूर्ववर्ती युगों में भी रस बिम्बों की प्रचुर सृष्टि नहीं हुई है। यदि सृष्टि के संकेत मिले भी हैं तो बिम्ब-रूप में उनका आस्वाद प्रायः मधुर, मीठा और मादक रहा है।

समकालीन कविता में यह स्वाद कटु और कसैला हो गया है। कभी उसे करूण-रस के रूप में अनुभव किया गया है तो कभी उसकी पहचान वीभत्स और व्यंग्य रस के रूप में की गई हैं। यहाँ पर 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' तथा 'मीठी लगे अँखियान लुनाई' जैसे आस्वादपरक बिम्बों का ख्याल बिल्कुल हटा दिया गया है। प्रमाण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :-

''पावन सुरसरि की धारा-से
गीत आजकल लगते मैले
हैं रसना के स्वाद कसैले।'[4]

प्रदूषण के कुप्रभाव से पावन गंगा मटमैली हो गई है। आज के लिखे जाने वाले गीत स्तरीय बोध से वंचित रह जाने के कारण मैले प्रतीत होते हैं। अतः उनका वाचन और संप्रेषण करते समय रसना का कषाय हो जाना स्वाभाविक है। यह रासनिक बिम्ब-चेतना का सौन्दर्यपरक उदाहरण है। केदारनाथ सिंह ने अपनी कविता 'होंठ' में श्रव्य और स्वाद-बिम्ब का एक साथ प्रयोग किया है। मानव के होंठ स्वार्थी और जड़िमाग्रस्त मानव से अपना विच्छेद चाहते हैं, किन्तु यह कार्य दो किनारों में बँधी हुई दरिया की भाँति असंभव है। परिणामतः वे क्रोध जैसे मनोविकार को पी जाते हैं -

'फिर यह जानकर
कि यह संभव नहीं

---

1. बलदेव वंशी : उपनगर में वापसी, पृ0 23
2. सं0 विजय रायः उत्तर प्रदेश (मासिक), अनिल मिश्र की कविता,पृ0 39 जुलाई2002
3. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 119
4. सं. आनन्द मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), शिवाकान्त विद्रोही की कविता, पृ0 54 अगस्त - 2003

वे पी लेते हैं अपना सारा गुस्सा
और गुनगुनाने लगते हैं
अपनी जगह।'[1]

एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है –

नाली के पास चीथड़ों को नोचता
अरस्तू सदियों को पीता है।
मगर थूकता है खून के फौव्वारे।'[2]

इस उदाहरण में 'सदियों को पीना' और उन्हें 'खून के रूप में उगलना' ये दोनों ही रासनिक दृश्य सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा का भाव दर्शाते हैं। प्राचीन रूढ़ियों का तानाबाना बुनते रहना कवि के लिए सुपाच्य नहीं है। रूढ़िगत चीथड़ों को नोचते रहने में वीभत्स रस का जो बिम्ब उभरकर सामने आया है, वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि आगे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनंद को तीव्र करने के लिए है। साहित्य तो हर एक रस में सौन्दर्य खोजता है।

(ङ) प्रतीकगत सौन्दर्य :-

'प्रतीक' शब्द का शाब्दिक अर्थ है-चिह्न, प्रतिरूप या प्रतिनिधि। प्रतीक की सहायता से बहुत विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखने वाली बात को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। इस क्रिया को 'गागर में सागर' भरना कहा जा सकता है। प्रतीक का मुख्य कार्य किसी अस्पष्ट या अप्रस्तुत बात को स्पष्ट और प्रस्तुत करना होता है। ऐसी स्थिति में हम अपनी देखी या अनुभव की हुई वस्तुओं में उसके साम्य को खोजने का प्रयत्न करते हैं और जिस वस्तु में हमें उसकी पूरी या आंशिक समानता मिल जाती है, हम उसी को उसके प्रतीक के रूप में प्रयोग कर देते हैं। धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार-"अमूर्त,अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिभा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है।"[3]

कल्पना से बिम्ब का जन्म होता है और बिम्ब से ही प्रतीक आविर्भूत होता है। जब कल्पना मूर्त रूप धारण करती है, तब बिम्ब की सृष्टि होती है और जब बिम्ब व्युत्पन्न अथवा बार-बार प्रयुक्त होने लगते हैं और किसी निश्चित अर्थ को निर्धारित करने लगते हैं, तभी वे प्रतीकों का निर्माण करते हैं या प्रतीक बन जाते हैं। उदाहरणार्थ पहले वट-वृक्ष कहने से विशालकाय वृक्ष का, कमल कहने से लाल, नीले पंखुड़ियों वाले पुष्प का, ध्वज कहने से तीन रंगो वाले वस्त्रखण्ड का तथा गाँधी कहने से किसी विशिष्ट व्यक्ति का बिम्ब उभरता था, किन्तु आज वटवृक्ष विद्या का, कमल भारतीय संस्कृति का, ध्वज भारतीय प्रतिष्ठा का और गाँधी शांति का प्रतीक माना जाता है। कुछ प्रतीक रूढ़ होते-होते सार्वभौमिक रूप धारण कर लेते हैं; यथा- सिंह वीरता का, श्वेत रंग पवित्रता का, लोमड़ी चतुरता का, गीदड़ कायरता का आदि।

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 24
2. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, श्याम परमार की कविता, पृ0 120-121
3. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 पृ0 398

प्रतीकों के निर्माण में परम्परा, संस्कृति और परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ता है और ये परिस्थितियाँ ही उनके रूपों में भिन्नता उत्पन्न कर देती हैं। फारस के सूफी काव्य में मदिरा के नशे को ईश्वरीय प्रेम के नशे का प्रतीक माना गया है, परन्तु भारत में 'सुधा' को इसका प्रतीक माना गया है। अफ्रीका में मोटे ओंठ तथा भारत में पतले ओंठ सौन्दर्य के द्योतक हैं। यूरोप के ब्रिटेन आदि उत्तरी देशों में धूप आनन्द और सुख का प्रतीक मानी जाती है, क्योंकि वहाँ ठंड अधिक होती है। इसके विपरीत हमारे यहाँ चन्द्रमा की चाँदनी को आनन्द, सुख, शान्ति और निर्मलता का प्रतीक माना जाता है क्योंकि यहाँ गर्मी अधिक पड़ती है।

समस्त हिन्दी-काव्य में प्रतीकों का सार्थक और सफल प्रयोग या तो संत-साहित्य में मिलता है या आधुनिक छायावादी और प्रयोगवादी साहित्य में। कबीर ने कुछ ऐसे सांकेतिक प्रतीकों का प्रयोग किया है, जो हठयोग से सम्बन्धित विभिन्न शब्दों और क्रियाओं के द्योतक बन गए हैं। जैसे, गगन मंडल ब्रह्मरन्ध्र का, बंकनाल सुषुम्ना नाड़ी का। यूरोपीय साहित्य के प्रभाव के कारण जब से प्रतीक शब्द 'प्रतीकवाद' के रूप में परिवर्तित हुआ, तब से नए-नए शब्द-रूपों, ध्वनि-संकेतों और प्रतीकों को गढ़ा जाने लगा। छायावाद और प्रयोगवाद पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसी विदेशी प्रभाव के कारण छायावादी काव्य में 'मधुमास' सुख का तथा 'पतझड़' दुःख का प्रतीक बन गया। छायावाद से पूर्व हिन्दी में इनका इस अर्थ में प्रयोग कभी नहीं हुआ। छायावादी काव्य के उपरान्त प्रयोगवादी काव्य में भी प्रतीकवाद की विशेषताओं का और भी अधिक फूहड़ और विकृत रूप उभरा। वस्तुतः हिन्दी-काव्य में यदि किसी ने यूरोपीय प्रतीकवाद को सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ पूरी तरह अपनाया था, तो वह प्रयोगवादी-काव्य ही था।

समकालीन कविता आधुनिक हिन्दी-कविता की नवीनतम उपलब्धि है। फलतः युग-विशेष के सन्दर्भ में नए-नए प्रतीकों का जहाँ इसमें निर्माण हुआ है, वहीं पुराने परम्परागत प्रतीकों के प्रति उनका असीम लगाव आज भी बना हुआ है।

प्रतीकों का वर्गीकरण/प्रकार :-

कुछ विद्वानों ने प्रतीकों का वर्गीकरण वैयक्तिक, परम्परागत और प्रकृत तीन रूपों में किया है, कुछ ने अर्थ और स्रोत के आधार पर किया है। डॉ0 केदारनाथ सिंह ने प्रतीकों के निम्न वर्ग स्वीकार किए हैं – 'परम्परागत प्रतीक, साम्प्रदायिक प्रतीक, आध्यात्मिक प्रतीक, रहस्यात्मक प्रतीक, वैयक्तिक प्रतीक और स्वप्नपरक प्रतीक।'[1] समकालीन कविता में पाए जाने वाले विभिन्न प्रतीकों का विस्तार व वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है –

1. सांस्कृतिक प्रतीक

क. ऐतिहासिक प्रतीक

ख. पौराणिक प्रतीक

ग. धार्मिक प्रतीक

2. सैद्धान्तिक प्रतीक

क. वैज्ञानिक प्रतीक

ख. राजनीतिक प्रतीक

ग. दार्शनिक प्रतीक

---

1. डॉ0 केदारनाथ सिंह : कल्पना और छायावाद, पृ0 104

3. प्राकृतिक प्रतीक

क. जड़ प्रतीक

ख. चेतन प्रतीक

1. सांस्कृतिक प्रतीक :-

संस्कृति के अन्तर्गत इतिहास, पुराण, धर्म आदि सब आ जाते हैं। प्रतीकों का यह ऐतिहासिक, पौराणिक और धार्मिक वर्गीकरण अर्थ के आधार पर न होकर स्रोत के आधार पर हुआ है। अतः युग और परिस्थितियों के अनुसार प्रतीकों के अर्थ में अन्तर आ जाने पर भी प्रतीकों के स्रोत में किसी प्रकार का अन्तर या परिवर्तन नहीं आता। समकालीन कवि जीवन की हर सम-विषम परिस्थिति में मानवतावाद का पक्षपाती है। सांस्कृतिक वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन प्रकार के प्रतीक रखे जा सकते हैं -

(क) ऐतिहासिक प्रतीक :-

समकालीन कविता में यद्यपि ऐतिहासिक प्रतीकों की पर्याप्त कमी है, फिर भी कुछ प्रतीक ऐसे हैं जो ऐतिहासिक सन्दर्भ में विशेष अर्थ के सूचक बन गए हैं; जैसे विभीषण, जयचन्द और मीर जफर के नाम देशद्रोह के प्रतीक बन गए हैं। बहुत सारे ऐतिहासिक स्थान सरकार की लापरवाही और अनुशासनहीनता के कारण जर्जर और बेगाना से गए हैं :-

'अकेलेपन से ऊबा लँगड़ा ताजमहल
शोख खाई में डूब गया है।'[1]

'ताजमहल' किसी समय वैभव का और उसके चारो ओर उठी हुई चहारदीवारी चमकदार रंगों (शोख) का प्रतीक थी, किन्तु आज उसकी चहारदीवारी उजाड़ और शुष्कता का प्रतीक बनकर रह गई है तथा ताजमहल किसी एक काल विशिष्ट वैभव को स्पष्ट न कर सार्वकालिक, सर्वदेशीय वैभव के अन्ततः विनष्ट हो जाने की बात स्पष्ट कर रहा है।

इसीप्रकार धूमिल ने अपनी कविता 'पटकथा' में यह दर्शाया है कि जिस 'संसद' को किसी समय न्याय और कानून की उच्च संस्था माना जाता था, आज वह बिल्कुल धुँधिया गई हैं। तेली के कोल्हू की तरह उसमें भी आधा तेल और आधा पानी का मिश्रण झलक रहा है -

'अपने यहाँ संसद, तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है और आधा पानी है।'[2]

नेहरू, गाँधी, लाल, पाल, बाल आदि सभी स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष थे। उन्होंने अपने युग में जिन योजनाओं का निर्माण किया था; उनमें लोक की हित-साधना जुड़ी थी, लेकिन आज उनका विपर्यय हो गया है। नीचे की कविता में थोड़े से शब्दों में नेहरू-युग की असफलताएँ, मोहभंग की स्थिति और योजनाओं की व्यर्थता को बहुत ही अच्छे ढ़ंग से संकेतित किया गया है -

---

1. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, श्याम परमार की कविता, पृ0 121

2. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 127

"नेहरू-युग का पागल गठरी-सा पड़ा है
योजनाओं के धमाके में उसी का
सन्तुलन उड़ा है।"[1]

इधर नवें दशक के बाद के कवियों ने ऐतिहासिक प्रतीकों के माध्यम से समाज का सौन्दर्यपरक यथार्थांकन किया है। समकालीन पत्र-पत्रिकाएँ भी इस होड़ में पीछे नहीं हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं-

(1) "और हमारी अहिंसा यदि प्रतिहिंसा में बदल गई,
तो विश्व के मानचित्र से
तुम्हारा अस्तित्व ही मिट जाएगा
और न तब कोई बुश
न ब्लेयर ही तुम्हे बचा पाएगा।"[2]

(2) "रथ जितना ही तेज चलता है
इस पर लगा झूठ-कूट का ध्वज
उतनी ही तेजी से लहराता है
उसका लहराना देखकर
विधर्मियों का मन काँप जाता है
सखा, धर्ममय अस रथ।"[3]

(3) "दमन की चक्की पीस रहे इंसान
बापू के बन्दर की नाई, बैठे हैं बेईमान।"[4]

प्रथम उदाहरण में 'बुश' और 'ब्लेयर' शक्ति की सत्ता के प्रतीक हैं, किन्तु आज के बढ़ते हुए आतंक को वे भी रोकने में असमर्थ हैं। दूसरे उदाहरण में 'रथ' और 'ध्वज' प्राचीन प्रतीक हैं जो क्रमशः गतिमयता और राष्ट्रीय अस्मिता के बोधक थे, किन्तु आज के सन्दर्भ में उनका प्रतीकात्मक अर्थ बदलकर क्रमशः 'मिथ्या' और 'कपट' का वाचक बन गया है। तीसरे उदाहरण में बापू के बन्दर 'बेईमान' का प्रतीक हैं।

(ख) पौराणिक प्रतीक :-

समकालीन कविता के सौन्दर्य को नई अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों से जुड़े हुए अनेक पौराणिक पात्रों को प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। दैवी मूल्यों से जुड़े हुए पात्रों में राम, कृष्ण, वामन, नृसिंह, बुद्ध आदि अवतारी महामानवों; भीष्म, धर्मराज, अर्जुन, भीम, अभिमन्यु, कर्ण, एकलव्य आदि विशिष्ट पुरूषों; मनु, अगस्त्य, अत्रि, सुतीक्षण, गौतम, शरभंग, विश्वामित्र

---

1. बलदेव बक्षी : उपनगर से वापसी, पृ० 12

2. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक) श्रीकान्त शास्त्री की कविता, पृ० 58 मई – 2003

3. राजेन्द्र यादव : हंस (मासिक), अरुण आदित्य की कविता, पृ० 51, दिसम्बर 2002

4. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, रमेश रंजक की कविता, पृ० 298

जैसे महान ऋषियों तथा भगीरथ, ध्रुव, प्रहलाद जैसे तापस-पुरूषों का प्रमुखता के साथ उल्लेख किया गया है। अन्य धार्मिक नायकों में ईसामसीह, शंकराचार्य, लाओत्से आदि प्रमुख हैं। इसके विपरीत आसुरी प्रवृत्तियों से सम्पृक्त रावण, कंस, दुर्योधन, कुम्भकर्ण, चाणूर, कबन्ध, कालयवन, भस्मासुर, जरासन्ध आदि प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। समकालीन कविता में सांस्कृतिक सौन्दर्य की रक्षा के लिए सीता, अनुसुइया, मदालसा, दुपद्रा, अहल्या आदि स्त्री पात्रों को भी घटनाबद्ध किया गया है।

नीचे के उदाहरण में दुःशासन, द्रोपदी, पाण्डव और कृष्ण जैसी संज्ञाओं को बिल्कुल नए सन्दर्भ में एक सृजनात्मक प्रतीकात्मकता दी गई है -

"खींचता है प्यार का मेरा दुःशासन
बीती सभ्यता के आचरण का चीर
द्रोपदी के देह पर से,
समय रथ के चक्र से कुचले हुए
हारे/तुम्हारे/संस्कारों के नपुंसक पाण्डवों के सामने ही
देखते हैं/ एक मरणासन्न
अन्तिम साँस लेती व्यवस्था का कृष्ण उसको
और कब तक ढाँक पाता है।'[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन पंक्तियों को पढ़ते तो निश्चित ही इसे भारती के मन्दिर में व्यर्थ का गड़बड़ मचाना कहते।[2] पर प्रत्येक युग के सार्थक कवियों ने किसी न किसी रूप में गड़बड़ मचाई ही है और आज उनकी दृष्टि समसामयिक समीक्षा को कवि की सृजनात्मकता के रूप में देखती है।

समकालीन कविता में शोषित और शोषकवर्ग के विरूद्ध विद्रोह कर नई व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाले चित्रणों में जिन प्रतीकों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है, वे पौराणिक ही हैं। मदन डागा की कविता 'कुर्सी प्रधान देश' का एक अंश देखिए -

"दुनियाँ में माई बाप इनका है पैसा
तभी तो/द्रोणाचार्य अँगूठा नहीं
चैक कटवाते हैं
खतरा होने पर ही कैश मँगाते हैं।'[3]

यहाँ पर द्रोणाचार्य बुजुर्वा संस्कृति के उस पक्ष का संकेतक हैं, जिसके अत्याचार और काले शासन-चक्र ने सदैव निर्धनों का शोषण किया है और अपनी जेब भरने की लोलुपता में उन्हें मानव-सुलभ समस्त सुविधाओं से वंचित रखा है। इस प्रकार यहाँ द्रोणाचार्य शोषकवर्ग का प्रतीक है। कुछ अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :-

---

1. डॉ० सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान,राजीव सक्सेना की कविता, पृ० 169
2. देखिए - उनका लेख 'लोकमंगल की साधनावस्था' चिन्तामणि भाग -1 में।
3. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ० 247

(1) 'तोड़ें दम्भ इन्द्र का मिलकर
सब की प्यास हरें।'[1]

(2) 'शिव सदा शिव नहीं रहेंगे
रूद्र का तीसरा नेत्र भी खुल सकता है।'[2]

उपर्युक्त उदाहरणों में 'इन्द्र' जलवृष्टि करने वाला एक पौराणिक देवता है, किन्तु यहाँ पर वह एक घोर अहंवादी देवता के रूप में प्रयुक्त हुआ है। आज भी हमारे समाज में ऐसे इन्द्रों की कमी नहीं है। शिव और रूद्र एक ही तत्व के दो पर्याय हैं, किन्तु शिव का रूद्र रूप उनके प्रलयंकारी स्वरूप का परिचायक है जो आज के बढ़ते हुए आतंक को समाप्त करने में पूर्ण सक्षम हैं।

ग. धार्मिक प्रतीक :-

धर्म के क्षेत्र में प्रतीक-चयन की दृष्टि से समकालीन कविता में अधिक रचनाएँ नहीं मिलतीं। सातवें दशक में ईश्वर के प्रति अविश्वास व्यक्त किया गया। डॉ0 रणजीत ने अपनी रचना 'इतिहास का दर्द' में 'ईश्वर' शब्द के आठ प्रयोगों में से छः प्रयोगों में उसकी मृत्यु की घोषणा की है। 'प्रभु' शब्द के चार प्रयोगों में से तीन पर तीखा व्यंग्य किया है। एक बार उसे शिरहीनों का प्रभु भी कहा है। सतियों, संन्यासियों, मठों, मन्दिरों, मूर्तियों आदि शब्दों को एक नफरत भरे सन्दर्भ में प्रयुक्त किया है। यथा -

'डोल रहे हैं
मेहनत का तप और स्वेद की भस्म रचाकार
नगर-नगर गाँव-गाँव में
किन्तु ब्रह्म का नहीं
साम्य का अलख जगाने।'[3]

योगियों का कार्य है- ब्रह्म की अलख जगाना; किन्तु वे इस कार्य से विमुख होकर अनर्गल तौर पर एकता और अखण्डता का ढिंढोरा पीटते हैं। उनका यह कार्य पाखण्ड का द्योतक है।

आज का तटस्थ कवि किसी एक धर्म विशेष का पक्षपाती न होकर समस्त विश्व का एक ही धर्म (मानवतावाद) मानता है। अतः जहाँ कहीं भी सत्य और ईमानदारी पर आघात हुआ है, वह उसके विरूद्ध आवाज लगाता है -

''झुण्ड के झुण्ड
हवा में लाठियाँ त्रिशूल भाँजते
जयघोष से उनके काँपती धरती।''[4]

- नीलेश रघुवंशी

---

1. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक) शैलेन्द्र कुमार चौहान, पृ0 53 अगस्त-2003
2. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक) श्रीकान्त शास्त्री की कविता, पृ0 58 मई - 2003
3. डॉ0 रणजीत : इतिहास का दर्द, पृ0 108
4. राजेन्द्र यादव : हंस (मासिक), पृ0 50, दिसम्बर 2002

तथा

"यदि चुनौती होलिका की आज भी, तय है-
आग में प्रह्लाद-सा निशदिन दहूँगा मैं।"[1]

यहाँ पर प्रयुक्त 'त्रिशूल' शब्द किसी समय धर्मरक्षा का प्रतीक था, किन्तु पाखण्डी ध ार्मनेताओं के हाथ में पड़कर वह इतना आम हो गया है कि मात्र मखौल बनकर रह गया है। अब तो विभिन्न धर्मावलम्बियों द्वारा हिन्दू-शैली में जीवन-व्यतीत करने के लिए गाँव-गाँव, नगर-नगर, त्रिशूल बाँटे जा रहे हैं। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में प्रह्लाद 'धर्म' का तथा होलिका 'अधर्म' का प्रतीक है।

आज के इस अन्तरिक्ष युग में भी लोगों के लिए बिल्ली रास्ता काट रही है। आज भी मनुष्य को मोहन-विद्या, उच्चाटन, चमत्कारी-तंत्र, ताबीज, कोक-शास्त्र आदि से मुक्ति नहीं मिल पाई है। रामदरश मिश्र ने 'सांस्कृतिक एकता' कविता में अन्धविश्वास का चित्र खींचते हुए लिखा है -

'यहाँ भी खादी के नीचे कोक-शास्त्र
और टेरेलिन के नीचे हनुमान-चालीसा होती है।
यहाँ भी चौराहे-चौराहे पर टोटके
बाँहों में ताबीज पड़े होते हैं।'[2]

कोकशास्त्र, हनुमान-चालीसा, टोटके और ताबीज ये सभी धार्मिक प्रतीक हैं। इनके प्रति लोगों की सच्ची श्रद्धा नहीं रह गई है। ये मात्र औपचारिकता और दिखावा का प्रतीक बनकर रह गए हैं।

इसी प्रकार 'हंस' हमारे यहाँ बुद्धि, नीर-क्षीर विवेकी, ब्रह्म तथा आत्मा का प्रीतक माना गया है और वह कवि-समय के आधार पर मोती चुँगता था, किन्तु आज वही हंस निन्यानबे के फेर में पड़कर आदर्श-विहीन धर्मनेता का प्रतीक बन गया है। 'कुर्सी प्रधान देश' कविता मे मदन डागा ने लिखा है-

'और हंस जो कभी मोती चुँगते थे
या भूखे मर जाते थे
चाँदी की गोल-गोल चवन्नियाँ चुँगने लगे हैं।'[3]

भारतीय जन-जीवन का चित्रण करते समय यहाँ के रीति-रिवाजों, त्योहारों और लोक-रूढ़ियों की संकेतात्मक अभिव्यक्ति भी सांस्कृतिक वर्ग के प्रतीकों के माध्यम से ही उपयुक्त ढंग के साथ हो सकती है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'कुआनो नदी' कविता-संग्रह का पहला खण्ड ग्राम्य-जीवन से जुड़ा हुआ है। ग्रामवासियों का जीवन त्रासद व क्रूर स्थितियों को सहते रहने का अभ्यस्त हो गया है; वह शोषण और गरीबी के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठाता। अनेक प्रतीक-बिम्बों द्वारा कवि नदी के आस-पास का यथार्थपूर्ण चित्रण ईमानदारी से व्यक्त करता है-

"इस नदी के किनारे
कोई 'मेला' नहीं लगता

---

1. सं० डॉ० रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, डॉ० देवेन्द्र आर्य की कविता, पृ० 98, त्रैमासिक पत्रिका, जनवरी-मार्च, 2002
2. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ० 179
3. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ० 248

न हि पूर्णिमा स्नान होते हैं

एक मन्दिर है

जो बहुत कम खुलता है।"[1]

यहाँ पर 'मन्दिर' धार्मिक प्रतीकों की श्रेणी में आता है। 'मेला' और 'पूर्णिमा' लोक-संस्कृति के वे उपादान हैं, जिन्हें नवजीवन से परम्पराबद्ध आस्था प्राप्त है।

2. सैद्धान्तिक प्रतीक :-

सिद्धान्त प्रायः मानव-निर्मित होते हैं, जिनमें परिवर्तन की संभावनाएँ सदैव बनी रहती हैं। समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के मूल्यांकन के लिए सैद्धान्तिक प्रतीकों को भी तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है -

क. वैज्ञानिक प्रतीक -

समकालीन कवियों पर नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों, यांत्रिक बोधों और नव अनुसंधानों से निष्पन्न बोधों का गहरा प्रभाव है। समकालीन कवियों में रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, रणजीत, विपिन कुमार अग्रवाल एवं 21 वीं शताब्दी के तमाम उदीयमान कवियों की रचनाएँ यांत्रिक सभ्यता की शक्तियों एवं प्रदूषणों को उद्घाटित करती हैं।

इससे पहले कविता की पृष्ठभूमि पर परम्पराओं का महत्वपूर्ण स्थान था। इन परम्पराओं से कवि-कर्म सरल हो जाता था, पर विज्ञान के प्रभाव से अब परम्पराएँ टूट रहीं है। वैज्ञानिक प्रतीकों के कारण ही अन्ध-विश्वास, अनास्था और परम्परा का अवमूल्यन हो चुका है। आजकल वैज्ञानिक वस्तुएँ ही मानव-दम्पति का वैवाहिक-संस्कार सम्पन्न कराने में अपनी बेजोड़ भूमिका अदा कर रही हैं-

"जहाँ रीढ़ टूटे हताश नवयुवक नहीं,

फ्रिज, कारें और ट्रांजिस्टर ही शादियाँ रचाते हैं।"[2]

यहाँ पर प्रयुक्त फ्रिज, कार और ट्रांजिस्टर वैज्ञानिक प्रतीक हैं। सार्त्र का ईश्वर मरा या नहीं, पर विज्ञान ने तो ईश्वर का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया है -

"एक पंजर-हवाई जहाजों और

हेलीकाप्टरों से टकराकर नीचे गिरता, मशीनों

से पिसता, मोटरों से कुचला जाता-लहूलुहान-कटा-फटा।

मैने उसे पहचाना।"[3]

यहाँ पर हवाई जहाज, हेलीकॉप्टर, मशीन, मोटर ये सभी वैज्ञानिक प्रतीक मानव को सुख-सुविध ा प्रदान करने के लिए बनाए गए थे, किन्तु आज के भीड़तंत्र में मानव द्वारा अनुशासन खो देने के कारण ये सभी प्रतीक मृत्यु-बोधक हो गये हैं।

---

1. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 14
2. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान,कैलाश वाजपेयी की कविता, पृ0 53
3. डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, वेणु गोपाल की कविता पृ0 291

हमारे यहाँ सूर्य को 'विश्वानि देव' कहा गया है, किन्तु वैज्ञानिक चेतना ने इस मान्यता को समाप्त कर दिया है। इस तथ्य को रामधारी सिंह 'दिनकर' ने रूपायित करते हुए लिखा है :-

"सूर्य के पास अब कोई रथ नहीं है, न उस रथ का चालक अरुण ही अवशेष है। मैनाक के समान उड़ने वाले पर्वतों की कहानी समाप्त हो गई है।'[1]

प्रदीप पंत की कविता 'कोणार्क' का एक उदाहरण इस प्रकार है-

'इक्कीसवीं शताब्दी की चकाचौंध में
टूटकर गिरने को है
सूर्य-रथ के चौबीस खंडित पहिए
उन्मत्त क्षत-विक्षत अश्व
भागने को तैयार खड़े हैं
रौंदने के लिए जन-समुदाय।'[2]

यहाँ पर प्रयुक्त 'सूर्य रथ' और उसमें जुते हुए 'घोड़े' धार्मिक प्रतीक का केन्द्र रहे हैं', किन्तु वैज्ञानिक प्रभाव की अखिल विशेषताओं से युक्त होने के कारण आज वे वैज्ञानिक प्रतीक बन गए हैं। वैज्ञानिक प्रतीकों में भी खण्डित होकर जनता को रौंदने के कारण आज वे खौफनाक और भयानक दृष्टिगोचर हो रहें हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आज भी देश में भूख और गरीबी उसी प्रकार जड़ें जमाए हुए हैं। सामन्तशाही के कीटाणु भी पूरी तरह नहीं मर सके। आज भी विदेशी दवाईयों को यहाँ पर भरपूर प्रश्रय मिल रहा है। अनियमितता इस ढंग की है कि जो व्यक्ति बीमार होने के बाद ठीक हो चुके हैं, उनका नाम बीमारी की सूची से नहीं काटा गया और अर्थ-लोलुपता के कारण जेबें भरी जा रहीं हैं-

" तुमने एण्टीबायोटिकों के नाम रट रखें हैं काफी
लेकिन मित्र, इन सबसे इम्युनिटी जो पा चुका है उसका
क्या होगा उपचार? जाओ, और नई शोध करो।"[3]

यहाँ पर 'इम्युनिटी' का अर्थ है-' रक्षा या सुरक्षा'। इस आधार पर यह एक राजनीतिक प्रतीक है, किन्तु इसे इस श्रेणी में रखना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह शब्द संकटापन्न व्यक्ति के 'संकटमोचन' का प्रतीक बन कर आया है और वैसे भी 'इम्युनिटी' एक वैज्ञानिक परिभाषिक शब्द है। एण्टीबायोटिक स्वतः वैज्ञानिक प्रतीक है।

ख. राजनीतिक प्रतीक :-

राजनीतिक प्रतीकों का प्रयोग छायावाद में नहीं हुआ। प्रगतिवाद में वर्ग-भावना को स्पष्ट करने वाले मार्क्सवादी प्रतीकों की सृष्टि हुई; प्रयोगवाद में भी प्रयोगों के प्रति अतिरिक्त मोह होने के कारण राजनीतिक प्रतीक प्रायः नगण्य रहे; नई कविता में इसकी अंशतः भरपाई हुई और समकालीन कविता तक

---

1. *रामधारी सिंह 'दिनकर' : काव्य की भूमिका, पृ0 85*
2. *सं. डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक), पृ0 100,जनवरी-मार्च, 2002*
3. *डॉ0 रणजीत सिंह : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, राजीव सक्सेना की कविता आत्म निर्वासन, पृ0 210*

आते- आते इसकी चर्चा तीव्र से तीव्रतर होती गई। समकालीन कविता में राजनीतिक चेतना की पृष्ठभूमि अत्यन्त व्यापक है और आज यह कविता राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य से जुड़े हुए राजनीतिक बिन्दुओं को भरपूर स्पर्श कर रही है। धूमिल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, रणजीत, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले,बलदेव वंशी आदि कवियों की कविताओं में यथास्थान राजनीतिक प्रतीकों की संयोजना हुई है।

राजनीतिक ढोंग,छल, पाखण्ड और उनकी मानव विरोधी हरकतों पर धूमिल की कविता कड़ा प्रहार करती है, जिनके कुचक्र में देश का मामूली आदमी पिस रहा है। आजादी,जनतंत्र, संसद और समाजवाद पर व्यंग्य करते चलना धूमिल की कविता की विशेषता है; यथा-

"दरअसल, अपने यहाँ
जनतंत्र एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'जनतंत्र' आम आदमी का तथा 'मदारी' धोखेबाज राजनेता का प्रतीक है। लगभग सभी समकालीन कवियों ने 'चुनाव' और 'संविधान' के प्रति अनास्था व्यक्त की है, क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया हैं कि ये दोनो ही दुःखी व्यक्ति को राहत नहीं दे सकते-

'मैं किताबों की गट्ठर उठाता हूँ
संविधान की पुस्तक
सरक कर गिर पड़ती है
जिल्द से अलग हो जाती है।'[2]

यहाँ संविधान की पुस्तक कानून और नियम की नहीं, बल्कि अनास्था की पुस्तक है, उसका जिल्द से अलग होना इस बात का सूचक है कि संविधान जीवन से अलग- थलग जा पड़ा है। उसका जीवन से कोई सरोकार नहीं है।

जिस प्रकार जनपीड़ा से निपटने के लिए सर्वेश्वर ने 'जंगल का दर्द' तथा रणजीत ने 'इतिहास का दर्द' लिखा, उसी प्रकार वेणु गोपाल ने 'जंगल- गाथा' लिख कर बहुत सारे जीव-जन्तुओं और पशु-पक्षियों को राजनीतिक प्रतीक के रूप में अपनी कविता का विषय बनाया है। जिस प्रकार प्रगतिवाद में हँसिया, बाली, हथौड़ा, कुदाल, हल, भैंसागाड़ी आदि मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रतीक बन गए थे, उसी प्रकार समकालीन कविता में भी व्यंग्य-विद्रोह का स्वर प्रखर होने के कारण भेडिए, लकड़बग्घे, कुत्ते , गधे, कौवे, चमगादड, उल्लू आदि सभी प्रतीक रूपमें राजनीति का विषय बन गए हैं। वेणु गोपाल की कविता 'जंगल-गाथा' तथा रामदरश मिश्र की ' सांस्कृतिक एकता' का एक-एक अंश देखिए-

' सड़कों पर शिकार की तलाश में
भटकते, मोटर-वाही भारतीय भेड़िए भी'।[3]

---

1. *धूमिल : संसद से सड़क तक (पटकथा) पृ0 105*
2. *सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 33*
3. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ0 284*

तथा –

> 'यहाँ भी नेता की सूरत देखकर
> आदमी भाग खड़े होते हैं
> यहाँ भी कुत्ता कुत्ते पर भूँकता है
> और गदहा गदहे पर रेंकता है।'[1]

यहाँ भेड़िया, नेता, कुत्ता, गधा ये सभी राजनीतिक प्रतीक के रूप में उभर कर समाने आए हैं। हमारे यहाँ की लोक-संस्कृति में ऐसी मान्यता है कि कुत्ते और गधे अपनी ही जाति के शत्रु होते हैं, राजनीति में भी अहंभाव के कारण आपसी सामंजस्य का अभाव होता है।

अन्त में दो उदाहरण और दर्शनीय हैं, जहाँ पर कुमार अनुपम ने राजनीति की तुलना अपने स्थानीय तालाब' पांडे ताल' से तथा धनंजय अवस्थी ने ' वर्ण-भेद' से की है-

> (1) 'आचमन से भी घिन आती है
> क्यों कि राजनीति
> अब पांडे-ताल की तरह है
> जहाँ नहाते हैं सिर्फ
> अन्तिम संस्कार करके लौटे लोग
> या घोसियों की भैंसे
> या दीर्घ-शंका से निवृत जनों के लोटे।'[2]
>
> (2) 'नैतिकताहीन राजनीति सदा
> बनती युग त्रासदी
> आज यहाँ-
> घट-घट में वर्ण- भेद फैला है
> समता का आँचल कुछ
> इसीलिए मैला है।'[3]

यहाँ राजनीति की तुलना उस प्रदूषण युक्त ' पाण्डे-ताल' से की गई है, जहाँ मुर्दाघाट की तरह बहुत सारे चीथड़े डाल दिए जाते हैं, जहाँ घोसियों की भैंसे लोट-लोट कर पानी गंदला बनाती है तथा जहाँ केवल शौचार्थियों के अपवित्र लोटे धोए जाते हैं। दूसरे उदाहरण में राजनीति 'युग त्रासदी' और 'वर्ण-भेद' का प्रतीक है।

ग. दार्शनिक प्रतीक :-

समकालीन कविता में किसी भी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव नहीं है क्यों कि यह कविता दर्शन को केन्द्र मानकर नहीं लिखी गई। कोई कवि किसी दर्शन से समग्रतः प्रभावित भी नहीं है। समकालीन कविता में कहीं-कहीं कुछ ऐसी दुर्लभ झलकियाँ मिलती है; जिनके आधार पर प्रतिबिम्बवाद, दुखवाद, अस्तित्ववाद

---

1. डॉ0 रणजीत सिंह : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ0 179
2. सं. विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), कुमार अनुपम,पृ0 47 सितम्बर 2003
3. धनंजय अवस्थी : शबरी (खण्डकाव्य), पृ0 105

आदि की अनचाही कल्पना कर ली जाती है।

छठवें दशक के उत्तरार्द्ध में 'तीसरा सप्तक' के अन्तर्गत केदारनाथ सिंह ने बिम्ब को काव्य का स्थायी प्रतिमान स्वीकार किया था और बिम्ब-निर्माण को कवि का प्रकृत धर्म माना था।[1] वहाँ प्रतिबिम्बवाद की कल्पना की गई थी, किन्तु आज समकालीन कविता में बिम्ब के स्थान पर सपाटबयानी का दौर चल पड़ा है, अतः प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न उठाना जायज नहीं होगा।

कुछ आलोचक समकालीन कविता में बौद्ध-दर्शन की कल्पना करते हैं, किन्तु उनकी यह कल्पना निराधार है क्योंकि समकालीन कवि पहले की तरह कुंठाग्रस्त नहीं है। एकाध पंक्तियों में बौद्ध-दर्शन की अप्रामाणिक झलक मिल जाना उनके स्थायीकरण का प्रसूचक नहीं है।[2]

इतना अवश्य है कि समकालीन कविता में पश्चिमी जगत से आयातित 'अस्तित्ववाद' की जहाँ-तहाँ अभिव्यंजना हुई है। सामान्यतः अस्तित्व का अर्थ उपस्थिति का बोध होता है, किन्तु अस्तित्व की विवेचना आत्यन्तिक रूप से मानवीय अस्तित्व की पुष्टि करती है। अस्तित्ववादी विवेचकों में कीर्केगार्ड और ज्याँ पॉल सार्त्र का प्रमुख स्थान है। वे ईश्वर के मूल्यों को स्तोत्र नहीं मानते। उनके अनुसार मनुष्य ही मूल्यों का आविष्कारक है।

समकालीन कवि क्षण-क्षण जीते हुए संत्रास, भय, अविश्वास, अनिश्चय, व्यग्रता और अकुलाहट से पीड़ित अनुभूतियों को बड़ी ईमानदारी से अपने सृजन में मुखर करता रहा है। वह क्षणानुभूति के प्रति सचेष्ट है।

"आस्था का कण बचा रह जाय
जीवन की चरम, आसक्तियों का
क्षण बचा रह जाय।"[3]

इस उदाहरण में जीवन के एक-एक क्षण को बेशकीमती माना गया है। इसीलिए उसके प्रति आसंगभाव दिखाया गया है। अतः यह क्षणिक आसंग दार्शनिक प्रतीक की श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित होगा।

क्षण को पकड़ने की यह चेष्टा क्षणिकता का बयान नहीं; अपितु जीवन की अखण्डता का प्रत्याख्यान है। वह क्षण की अनुभूति पर इसलिए बल देता है कि वह अपने को समसामयिक जीवन के प्रति उत्तरदायी समझता है। यदि एक क्षण भी व्यर्थ चला गया तो उसे इसका जवाब देना पड़ेगा। एक क्षण ने ही अपने युद्धों के द्वारा दुनियाँ को बर्बाद कर दिया है, यह क्षण ही आतंक को जन्म दे रहा है। अतः क्षण और पल जैसे कालांश की महत्ता व्यक्ति के जीवन में सर्वाधिक है-

'मौत सब को खा लेती है एक दिन,
मैं उससे छीनता हूँ, एक-एक मीठा क्षण।'[4]

1. *केदारनाथ सिंह : दूसरा सप्तक (वक्तव्य), पृ0 183*
2. *'उनके भटकाव के प्रति*
   बुद्ध-मार्का करुणा से भींग जाता है।'
   - डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, वेणु गोपाल पृ0 284
3. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर : श्याम सुन्दर घोष की कविता पृ0219*
4. *डॉ0 रणजीतः प्रगतिशील कविता के मील पत्थर : राजीव सक्सेना की कविता पृ0209*

वेणु गोपाल की कविता 'जंगल-गाथा' सन् 1971 ई0 में लिखी गई, इसमें अस्तित्ववादी दर्शन का सटीक प्रभाव है। सम्पूर्ण कविता इसी दर्शन से जुड़ी हुई है। वे उस अगोचर, अज्ञात, तिलस्मी मदारी से इतना अभिभूत हैं कि सब को उसकी दाढ़ में समाया हुआ पाते हैं -

'उसकी एक दाढ़ में अटके हैं ज्योति बसु। और
दूसरी दाढ़ में लटके हैं अटल बिहारी वाजपेयी। वहीं
कहीं लोहिया, कामराज, निजलिंगप्पा भी थे। अब
कहाँ तक गिनाऊँ-पाठकों, समझ लीजिए
कि 'नेति' 'नेति' अर्जुन भी नहीं हुआ होगा
उतना ज्ञानवान, जितना कि उस
अपूर्व क्षण में मैं हुआ।'[1]

यहाँ 'नेति' 'नेति' का प्रयोग अद्वैतवादी दर्शन के सन्दर्भ में नहीं हुआ है, क्योंकि यह प्रयोग ब्रह्म के लिए नहीं, बल्कि ब्रह्म की दाढ़ में अटके और लटके हुए बहुत सारे सामान्यधर्मा लोगों के लिए आया है। कवि ने उस अज्ञात सत्ता से जो असीम ज्ञान प्राप्त किया है, उसका सौन्दर्य कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश से ज्यादा प्रभावशाली है। यह अपूर्व क्षण अस्तित्ववादी दर्शन का प्रतीक है।

समकालीन कविता में कहीं-कहीं अद्वैत दर्शन की झलक मिलती है। अद्वैत का अर्थ है- दो नहीं अर्थात् 'एक'। ब्रह्म और जीव मुख्यतः एक ही हैं। समकालीन कविता के अन्तर्गत 'नंगे पैर' सन् 1970 में लिखा गया विपिन अग्रवाल का एक 'कविता-गुच्छ' है, जिसमें दर्शन की एक नई घरेलू भंगिमा उजागर होती है। डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में - "बोलचाल की भाषा में बोलचाल का दर्शन और घरेलू जीवन का अंकन उनके यहाँ एकाकार हो उठते हैं। तथ्य एक है, जिसका विनाश सम्भव नहीं।"[2]

गीता में आत्मा की व्याख्या और आधुनिक भौतिकी में मूल तत्व की समझ इस बिन्दु पर एक है-

'जो चलता है और नहीं चलता
जो दूर है और पास भी
जो इन सब के भीतर है और
इन सबके बाहर भी
वही वह है जो मैं हूँ।
जो परिचित है और अपिरिचित भी
जो दीखता है और ओझल हो जाता है
जो छूने पर शरीर है, वैसे आत्मा
वही वह है जो तुम हो।'[3]

1. *डॉ0 रणजीतः प्रगतिशील कविता के मील पत्थर : राजीव सक्सेना की कविता पृ0 287-288*
2. *डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी : नयी कविता : एक साक्ष्य, पृ0 119 से उद्धृत*
3. *डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी : नयी कविता : एक साक्ष्य, पृ0 120 से उद्धृत*

यह एक प्रकार के अद्वैत दर्शन का जन-संस्मरण है। विपिन की कविता का मूल भाव यह है कि महनीय और उदात्त घटनाओं की प्रतीक्षा न करके साधारण मामूली जीवन को सार्थक भाव से जीना है। दार्शनिक प्रतीकों के ऐसे उदाहरण समकालीन कविता के सौन्दर्य-बोध को बढ़ाने में सदैव सहायक रहे हैं।

(3) प्राकृतिक प्रतीक :-

समकालीन कविता में 'पंत' जैसा न तो कोई सुकुमार कवि हुआ और न ही उसमें छायावादियों की तरह प्रकृतिपरक दार्शनिकता ही है। जड़-चेतन के भेद से समकालीन कविता की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि को दो वर्गों में रखा जा सकता है। प्रथम के अन्तर्गत वे रचनाएँ है जो प्रकृति-प्रतीकों के सहारे वर्तमान यांत्रिकी और राजनीति पर तीखा प्रहार करती हैं और दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे शुद्ध प्रकृतिपरक रचनाएँ हैं, जिनमें मानव-समाज के निर्माण और उसकी सृजनशीलता के तत्व विद्यमान हैं; किन्तु ऐसी रचनाएँ अत्यल्प हैं।

प्राकृतिक प्रतीकों को हम सर्वप्रथम महानगरीय सभ्यता के उस व्यंग्य से शुरू करते हैं, जहाँ मनुष्य ने प्रकृति के साथ मिथ्या सम्पर्क साधने के लिए अपने-अपने घरों के गमलों में दो-चार ठिगने पेड़ लगा रखे हैं और तख्तियों पर लिख रखा है- 'फूल तोड़ना मना है'। नगरों, शहरों के चारो तरफ विद्युत और दूरसंचार के तार खिंचे हुए हैं, पक्षियों के लिए बैठने की जगह नहीं है, चारो तरफ से नाकाबन्दी है। ऐसी परिस्थिति में प्रकति से जो प्रतीक मिलेंगे, वे परा न होकर अपरा ही होंगे, श्रेय न होकर प्रेय ही होंगे। इस सम्बन्ध में दो उदाहरण दृष्टव्य हैं -

(1) **"सड़कों के हाशिए**
या मकान के अहातों में खड़े पेड़,
अक्सर बेहद शालीन-आज्ञाकारी
और कभी-कभी बेहद पालतू नजर आते हैं।"[1]

– चन्द्रकान्त देवताले

(2) **"आगन्तुक**
अपनी पोटली में बँधे/ अनाज के दाने
कहाँ बोओगे, सीमेन्ट-कंक्रीट की सड़को पर?
देखो तो/यहाँ/नजर आने वाले
वृक्षों पर कहीं भी/फल-फूल नहीं
यदि हों भी/तो उन्हें तोड़ने की सख्त मनाही है
कहीं भी/सुन्दर पक्षी नहीं/ यदि हों भी तो उन्हें
चहचहाने की इजाजत नहीं।"[2]

– डॉ0 शादिक

इन दोनों उदाहरणों में पक्षु-पक्षियों व पेड़ो की स्वतंत्रता बाधित है। यहाँ सम्पूर्ण प्रकृति 'प्रतिबन्धन' और 'संकुचन' के प्रतीक के रूप में स्वीकार की गई है।

---

1. डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, 'पेड़' कविता पृ0 267
2. सं. डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक),महानगर कविता, पृ0 73, जुलाई से सितम्बर, 2001

समकालीन कविता में जड़गत सौन्दर्य को साकार रूप देने के लिए मानवीकृत रूपों तथा नए-नए उपमान-चयन के लिए अलंकरण रूपों का प्राधान्य मिलता है। शेष रूपों का चित्रण आधिकारिक न होकर अकस्माती है। शैलेन्द्र कुमार चौहान की कविता 'तोड़ें नई जमीन' का एक उदाहरण इस प्रकार है -

'चलो चलें हिल-मिल आपस में
एक करें यह काम।
अँधियारे के माथे पर लिख दें,
सूरज का नाम।'[1]

यहाँ पर सूरज 'ज्ञान और प्रकाश' का तथा अँधियारा 'पाप' और 'कालिमा' का प्रतीक है। यहीं पर अशोक 'अंजुम' ने अपनी कविता 'मुश्किलों में रास्ता बनाएँ' में लिखा है-

'निराशा की नागफनी काटें, चलो
रूठों को आज फिर मनाएँ।'[2]

प्राकृतिक प्रतीकों में चेतनवर्ग के अन्तर्गत नागफनी कभी भी अनुकूलता का द्योतक नहीं रही, इसका प्रयोग प्रायः विरोधमूलक दृश्यावली के अन्तर्गत ही हुआ है। उपर्युक्त कविता में नागफनी 'निराशा' और 'चुभन' का प्रतीक बनकर आई है।

समकालीन कवि यथार्थ के नाम पर मानव को एक ऐसा 'सबल पादप' बनने की सौन्दर्यमयी प्रेरणा देता है जो प्रभंजनकारी झंझावातों और तूफानों में भी अडिग-अटल होकर लहराता रहे। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता में प्रकृति के इसी रूप को देखा जा सकता है -

'हवा के झोकों को
टोकरों की तरह सिर पर रखे
नाच रहे हैं पेड़ -
झुको मत व्यथा के भार से।'[3]

यहाँ 'हवा' और 'पेड़' का मानवीकरण किया गया है। पेड़ को साधक तथा हवा को बाधक के रूप में स्वीकार किया गया है। एक सच्चा साधक ही बाधाओं का भार वहन कर सकता है।

समकालीन कवि मनुष्य को प्रकृति का प्रतीक मानकर उसे निर्भय, अचल और साहसी बनाना चाहता है। वह प्रकृति से केवल गान और संगीत की शिक्षा लेने की बात नहीं कहता, बल्कि अन्तरिक्ष में ध्रुवतारे (Pole Star) की भाँति देदीप्यमान होने का संदेश भी देता है। इस प्रकार कवि अपने सौन्दर्य-बोध ा को शक्ति-बोध से जोड़ना चाहता है; तभी तो बलदेव वंशी अपनी अद्यतन कविता 'भय के पार-द्वार' में लिखते हैं -

"पेड़, गहरी खाई में हो
या पहाड़ की ऊँचाई पर
खंदक में खड़ा हो अँधेरी

---

1. सं. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ० 33, अगस्त, 2003
2. सं. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ० 44, मई 2003
3. सं. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : गर्म हवाएं, पृ० 15

या बावले बरसाती नाले के कगार पर
अब नहीं होता भयभीत।"[1]

(च) छन्द और लयगत सौन्दर्य :-

छन्द वह मात्रिक, वार्णिक अथवा ध्वनियों का क्रम है जो गति, यति के नियमों से आबद्ध रहता है, जिससे कविता में प्रवाह, लय और संगीतात्मकता आती है। प्राचीन काल में उसे वेदों का 'पाद' कहा गया था।[2] पिछले कई दशकों से छन्दों की मान्यता में परिवर्तन आया है। अब मुक्तछन्द की बात की जा रही है। हिन्दी में मुक्तछन्द या छन्द के बन्धनों को अस्वीकार करने की परम्परा महाप्राण निराला से मानी जाती है। निराला ने अपनी पहली छायावादी रचना 'जूही की कली' (1916) को छन्द से मुक्त किया था। छन्दों को तोड़ने का श्रेय निराला को दिया जाता है, जिन्होंने साहस पूर्वक यह स्वीकार किया कि मनुष्यों की मुक्ति कर्मो के बन्धन से छुटकारा पाना तथा कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना है।[3]

निराला का यह प्रयोग बंगला साहित्य और अंग्रेजी के वर्स लिब्री (Verse Libre) का अनुकरण है। आगे चलकर निराला ने उर्दू की शैली के आधार पर हिन्दी-गजल भी लिखी, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, बालकृष्ण राव आदि कवियों ने भी इस कड़ी में अपना नाम जोड़ा। इसी क्रम में तीसरा सप्तक के अधिकांश कवियों – प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण आदि ने अपने-अपने वक्तव्यों में मुक्त छन्द का प्रयोग अभीष्ट माना और नए-नए छन्दों के नाम दे डाले- रबड़ छन्द, केंचुवा छन्द, मोम छन्द, क्लोन छन्द, पाठ्य छन्द आदि। इतना सब होने के बाद यह बात तय है कि कविता को भले ही छन्द-विहीन कहा जाए, किन्तु वह कविता आज भी प्रवाह एवं लय के कारण छन्दबद्ध है, क्योंकि लय ही उसका छन्द है। वस्तुतः कोई भी काव्य छन्दहीन हो ही नहीं सकता।

समकालीन कविता ने इसी मुक्तछन्द को अपनाया है। डॉ0 नामवर सिंह ने 'काव्य भाषा और सृजनशीलता' शीर्षक में लिखा है – "आज की कविता सचमुच 'प्रास के रजत पाश' से मुक्त हो चुकी है, अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है और छन्दों की पायलें उतार चुकी है।"[4]

छन्द के बन्धन में बँधी हुई कविताओं का 'छन्दो नामकरण' छायावाद तक चला, किन्तु प्रगतिवाद और उसके बाद की कविताओं में यह नामकरण समाप्त हो गया। आज की कविता का कोई छन्दोबद्ध नाम नहीं है और यदि नाम की खोज की जाय तो सम्पूर्ण कविताओं को एक ही नाम से नेवाजा जा सकता है और वह नाम है – 'मुक्त छन्द' या 'छन्द मुक्त'।

समकालीन कविता में मुक्त छन्द के अन्तर्गत दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं –

1. तुकान्त
2. अतुकान्त
    (i) शब्द की लय
    (ii) अर्थ की लय

---

1. सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 38, अप्रैल-1997
2. 'छन्दः पादौ तु वेदस्य'। शांख्यायन श्रौत सूत्र, 7/27
3. निराला : परिमल (भूमिका) पृ0 10
4. डॉ0 नामवर सिंह : कविता के नए प्रतिमान, पृ0 99

(1) तुकान्त रचनाएँ :-

समकालीन कविता में तुकान्त रचनाएँ 'न' के बराबर है। शमशेर बहादुर सिंह और रघुवीर सहाय की गजलों को इस दिशा में नया प्रयास कहा जा सकता है। बालकृष्ण राव के 'सॉनेट' (चतुष्पदिका) भी इस दिशा में एक अनूठे प्रयोग हैं। त्रिलोचन जैसे कवियों की श्रृंगारपरक रचनाएँ भी तुकान्त हैं। इधर नवें दशक के बाद के नवोदित रचनाकारों में जिन्होंने 'गजल' और 'दोहे' के ढंग पर रचनाएँ लिखी हैं, तुकान्त छन्दों का प्रयोग किया है। इनमें देवेन्द्र आर्य, ओम प्रभाकर, वीरेन्द्र सारंग, रंजना सक्सेना, रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' आदि के नाम प्रमुख हैं।

भिन्न-भिन्न पर्वो के लयाधारों को स्पष्ट करने वाले थाथी रचनाकारों में केदारनाथ सिंह एवं रघुवीर सहाय के नाम अग्रगण्य हैं। समछन्दों के रूप में एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि मात्राओं के छन्दों के उदाहरण समकालीन कविता में नहीं मिलते। आठ मात्राओं के समछन्द का प्रयोग रघुवीर सहाय ने किया है। यह अष्टक, पद्धरि-लय पर चलता है -

S S S S
'पानी पानी — 8 मात्राएँ
S S S S
बच्चा बच्चा — 8 मात्राएँ
S I I S S
माँग रहा है — 8 मात्राएँ
I I S S S
अपनी बानी'[1] — 8 मात्राएँ

इसी प्रकार चौदह मात्राओं वाले समछन्दों का प्रयोग केदारनाथ सिंह की कविता 'काली मिट्टी' में देखिए -

S S S S S S I I
'काली मिट्टी / काले घर — 8+6= 14
I I II S S S S I I
दिन भर बैठे / ठाले घर — 8+6= 14
S S I I S S S I I
काली नदिया / काला धन — 8+6= 14
S I IS S S S I I
सूख रहे हैं / सारे बन।'[2] — 8+6= 14

सोलह मात्राओं के छन्द का प्रयोग वीर रस के लिए उपयुक्त होता है। छन्दशास्त्र के अनुसार इस छन्द को 'पद्धरि' कहते हैं। रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह दोनों कवियों के एक-एक उदाहरण देखिए-

---

1. *रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 6*
2. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 95*

IS I S S I S IS S

(1) ''बड़ी किसी को/ लुभा रही थी 8+8 = 16

S I I S SII S SII

चालिस के / ऊपर की औरत 6+10 = 16

घड़ी-घड़ी खिल/ खिला रही थी 8+8 = 16

चालिस के / ऊपर की औरत''[1] 6+10 = 16

I I S SS SI I II S

(2) 'उठता हाहा/ कार जिधर है 8+8 = 16

I S III IIS S II S

उसी तरफ / अपना भी घर है 6+10 = 16

खुश हूँ-आती / है रह-रहकर 8+8 = 16

जीने की / सुगन्ध बह-बहकर'[2] 6+10 = 16

24 मात्राओं के रोला छन्दों को शलभ श्रीरामसिंह ने चतुष्पदी के रूप में प्रयुक्त किया है -

I S ISI I ISI S IS S SI S

'जहाँ अवाम के खिलाफ / साजिशें हों शान से 12+12= 24

I S I I I SI SI S I S S SI S

जहाँ पे बेगुनाह हाथ / धो रहे हों जान से 12+12= 24

IS I SS I I SI SISI SI S

जहाँ पे लफ्ज अम्न एक / खौफ़नाक राग हो 13+11= 24

जहाँ कबूतरों का सर / परस्त एक बाग हो।'[3] 13+11= 24

छन्द की दृष्टि से केदारनाथ सिंह द्वारा लिखी द्विपदिका सर्वथा सार्थक है। केदार ने चतुष्पदी के ही समान दो-दो पंक्तियों की एक भाव विशिष्ट को तीव्रता के साथ व्यक्त करने वाली कुछ द्विपदियाँ लिखी हैं, जिसकी प्रथम पंक्ति में 24 तथा दूसरी पंक्ति में 23 मात्राएँ हैं, साथ ही दोनों पंक्तियाँ अन्त्यानुप्रास-युक्त हैं -

I S S II ISS IIS IS IISI

''हजारों घर हजारों चेहरों- भरा सुनसान। 24 मात्राएँ

SIS S SIS S I I III ISI

बोलता है बोलती है, जिस तरह चट्टान''।[4] 23 मात्राएँ

इसी प्रकार मिश्र वर्ग के छन्दों का प्रयोग समकालीन कविता में यत्र-तत्र हुआ है। मिश्र छन्दों में दो छन्दों की लय मिलाकर नए छन्द की सृष्टि की जाती है। अशोक 'अंजुम' ने 'राष्ट्र धर्म' में लिखा है-

---

1. *रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 42*
2. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 51*
3. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ0 212*
4. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 76*

ऽ ऽ ।। ।।ऽ। ।ऽ ऽ
"ओठों पर मधुमास सजा है 16 मात्राएँ
ऽ।। ऽ ऽ ऽ ।
अन्तस् में संत्रास 11 मात्राएँ
यहाँ - वहाँ हर ओर जगत् में 16 मात्राएँ
मात्र विरोधाभास।"[1] 11 मात्राएँ

(2) अतुकान्त रचनाएँ :-

छन्द चाहे तुकान्त हो या अतुकान्त, यदि लय नहीं है तो कविता नहीं कहा जा सकता। समकालीन कविता में तुक का प्रायः अभाव है, किन्तु वह लयात्मकता से वंचित नहीं है। शब्द में लय की स्थिति तो प्रारम्भ से रही है; किन्तु इधर जब से कविता छन्द के बन्धन से मुक्त हुई, तब से उसमें 'अर्थ की लय' ढूढ़ने का नवीन रिवाज चल पड़ा है। इसके मूल प्रयोगकर्त्ता डॉ0 जगदीश गुप्त हैं, जिन्होंने 'अर्थ की लय' ढूढ़ने का प्रयास नई कविता में किया था। डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'शब्द-लय' को उपेक्षित करके विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों - आई0ए0 रिचर्ड्स, टी0एस0 इलियट, जी0एच0 लीविस, हर्बर्ट रीड आदि की तद्विषयक मान्यताओं का अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला -

"शब्द की लय की जितनी विधाएँ कविता में व्यवहृत होती हैं, उनसे कई गुनी अधिक विधाएँ अर्थ की लय की रही हैं। केवल उसके पूरे स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया है; अनेक प्राचीन अर्थालंकारों की कल्पना लयाश्रित है।"[2]

उनकी मान्यता है कि मुक्तछन्द में विराम का कोई क्रम नहीं होता। जहाँ कहीं एक भाव पूर्ण हो जाता है, वहाँ लय भी विराम ले लेती है; इसी को 'अर्थ की लय' कहते हैं।

शब्द और अर्थ-लय के प्रथक-प्रथक विवाद में न पड़कर सत्य तो यह है कि शब्दार्थ का संयुक्त रूप से लयान्वित होना आवश्यक है। 'वागर्थाविव सम्प्रक्तौ' तथा 'गिरा-अरथ जल-बीचि सम' जैसी उक्तियाँ केवल काव्य को लक्षित करके लिखी गई हैं। यदि हम अपने ध्यान को पूरी रचना में न ले जाकर केवल शब्दों में केन्द्रित करेंगे, तो सौन्दर्य-बोध अधूरा रह जाएगा और यदि केवल अर्थ में केन्द्रित करेंगे तो गद्य जैसी लगने वाली रचनाओं को भी कविता मानना पड़ेगा।

उदाहरण के तौर पर धूमिल की प्रसिद्ध कविता 'मोचीराम' को यदि 'अर्थ की लय' के आधार पर पढ़ा जाय तो उसका निम्नलिखित अधूरा अंश पढ़ लेने से ही उसका भाव और अर्थ पूर्ण हो जाता है, कहीं से भी वह अधूरा नहीं प्रतीत होता -

'राँपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
क्षण-भर टटोला
और फिर
जैसे पतियाये हुए स्वर में

---

1. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0 52, अगस्त 2003
2. जगदीश गुप्त : कवितान्तर, पृ0 21

वह हँसते हुए बोला -

बाबू जी! सच कहूँ - मेरी निगाह में

न कोई छोटा है

न कोई बड़ा है

मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है'।[1]

किन्तु शब्द-लय के आधार पर इसकी दो पंक्तियाँ अभी शेष रह गई हैं, इन दो पंक्तियों को मिला देने से कविता पूर्ण बन जाती है -

'जो मेरे सामने

मरम्मत के लिए खड़ा है।'[1]

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि शब्द श्रवणीय है और अर्थ बुद्धिग्राह्य। वस्तुतः भावनाओं की लय की ध्वनि पाकर उस अर्थ की लय का आरोपण करना साहित्य-चिन्तकों के लिए श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'अर्थ की लय' की प्राप्ति के लिए जितने भी पाश्चात्य मनीषियों का उद्धरण दिया है, वे सभी 'अर्थ की लय' तो क्या, अर्थ की स्वतंत्र सत्ता का भी प्रतिपादन नहीं करते। अतः समकालीन कविता के लिए 'अर्थ की लय' निराधार सिद्ध हो चुकी हैं। लय अपने आप में प्रमाण है, उसे किसी भी सह-अर्थ की आवश्यकता नहीं है।

समकालीन कविता में यथार्थ को चित्रित करने के लिए अतुकान्त मुक्त छन्दों का प्रयोग बड़े विस्तार से किया गया है। हिन्दी में अन्तर्यति, पदान्तर तथा अर्थ एवं पूर्ण विराम मुक्त छन्द के शिल्प सौन्दर्य को स्पष्ट करते हैं। इन तत्वों के अतिरिक्त अतुकान्त रचना में पर्वो की आवृत्ति भी अपना अलग महत्व रखती है। इन पर्वो के आवर्तन से अतुकान्त छन्द का लयाधार निश्चित होता है और उनमें एक प्रकार का प्रवाह आ जाता है।

नीचे हम कवियों की उन अतुकान्त रचनाओं का विश्लेषण करेंगे, जिनमें किसी-न-किसी पर्व को आधार मानकर रचना को शिल्पमूर्त किया गया है -

S I S I S S S

'भेड़िया गु / र्राता है — 6+6

तुम मशा / ल जलाओ — 6+6

उसमें औ / र तुममें — 6+6

यही बुनिया / दी फर्क है — 7+6

भेड़िया म / शाल नहीं / जला सकता।'[2] — 6+6+7

उपर्युक्त कविता की चौथी पंक्ति के प्रारम्भ में तथा पाँचवी पंक्ति के अन्त में 'सप्तक पर्व' का प्रयोग हुआ है; किन्तु पद के अन्त में पूर्ण विराम होने के कारण पूर्णक हो जाता है और लयाधार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार सभी पंक्तियों में दो त्रिक् पर्वो के योग से बने 'षष्टक पर्व' का प्रयोग हुआ है'।

अष्टक पर्व हिन्दी के अनुकूल पड़ने के कारण इसका प्रयोग अतुकान्त कविता में काफी हुआ है।

---

1. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 37

2. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : गर्म हवाएं, पृ0 14

अतुकान्त कविता के आदि और मध्य में तो इसका पूर्णक अधिकतर उपयुक्त ही बैठता है; अन्त में अवश्य कभी-कभी अष्टक पर्वांश ही आ पाते हैं। केदारनाथ सिंह इस विषय के पूर्ण पुरोधा हैं। वे निम्न कविता अष्टक से प्रारंभ करते हैं और अष्टक में ही समाप्त करते हैं -

I I I S I S

"फिर बजी घण्टी /	8
शायद फिर को / ई आया है /	8+8
'कौन' - पूछता / हूँ मैं /	8+4
'कोई नहीं' - क / हती है घण्टी /	8+8
पर घण्टी का क्या	8
वह तो बजती / ही रहती है /	8+8
समय- बेसमय ।"[1]	8

उपर्युक्त कविता में लयाधार अष्टक से प्रारम्भ होकर अष्टक में समाप्त हो गया है। केवल तीसरी पंक्ति में लयाधार पदान्तर प्रवाही है, फिर भी अष्टक का क्रम निर्बाध गति से चलता रहता है और लयाधार कहीं विश्रृंखलित नहीं हुआ है।

एक उदाहरण और देखिए, जहाँ पर पर्वों का कोई ध्यान नहीं रखा गया है, जिसे मुक्त छन्द सम्बन्धी दोष माना जा सकता है। वस्तुतः समकालीन कविता में बहुत थोड़ी रचनाएँ ऐसी है, जिनमें प्रारम्भ से अन्त तक किसी-न-किसी पर्व की क्रमिक आवृत्ति हो सकी है, अन्यथा सभी रचनाओं में लयाधार बीच-बीच में भंग हो गया है, किन्तु स्थान-स्थान पर कविता के प्रवाह में कोई बाधा नहीं आई। अब समकालीन कविता की व्यापकता सप्तक या अष्टक जैसे पर्वों में नहीं बँधना चाहती, उसका यथार्थ अत्यन्त विस्तृत है। धूमिल की एक कविता देखिए, जिसका लेखाचित्र यदि बनाया जाए तो इस प्रकार बनेगा -

पंक्ति क्रमांक	कविता	पर्व	मात्रा योग
1.	पूरे आका / श को	8+3	11
2.	दो हिस्सों में / काटती हुई	8+8	16
3.	एक / गूँगी परछा / ई गुजरेगी	3+8+8	19
4.	दीवारों पर / खड़ खड़ाते र / हेंगें	8+8+4	20
5.	हवाई ह / मलों से सुर / क्षा के इश्तहार	6+7+9	22
6.	या /	2 +	2
7.	ता /	2 +	2
8.	या /	2 +	2
9.	त /	1 +	1
10.	को /	2 +	2
11.	रा /	2 +	2
12.	स्ता /	2 +	2
13.	देती हुई ज / लती रहेगी	8+8	16
14.	चौरस्तों की ब / त्तियाँ [2]	8+4	12

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, फिर बजी घण्टी से, पृ0 55
2. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 11, 12

लेखाचित्र-परिकल्पना :-

यदि गुरु-लघु की यौगिक मात्राओं के आधार पर इसका अनुरेखण किया जाए तो निम्नलिखित ग्राफ बनेगा, जो समकालीन कविता की व्यापकता का सूचक होगा –

काव्य पंक्तियों का क्रमांक	मात्राओं का विस्तार (1 से 22 तक)
	1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22
1.	
2.	
3.	
4.	
5.	
6.	
7.	
8.	
9.	
10.	
11.	
12.	
13.	
14.	
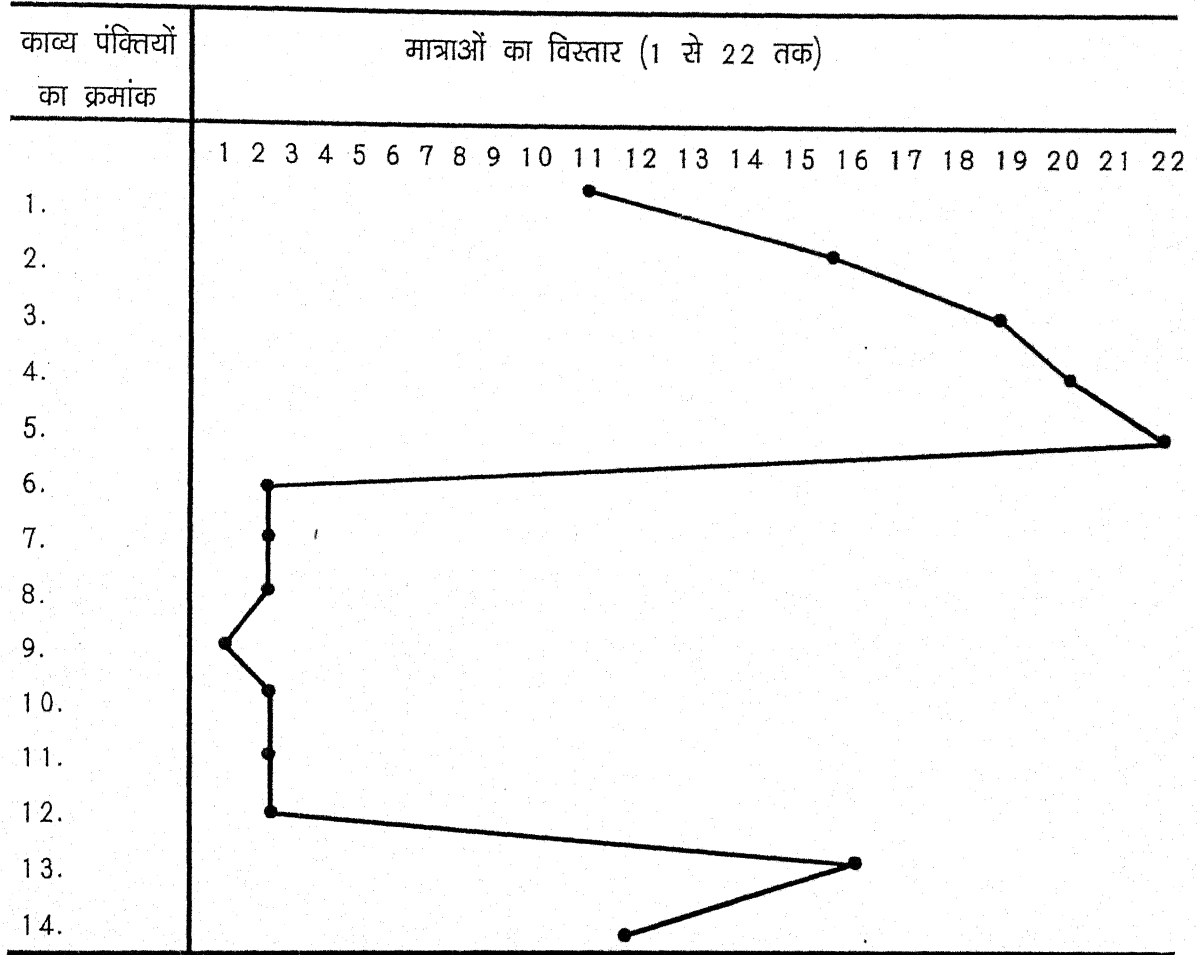
इससे सिद्ध होता है कि छन्द के आधार पर यदि पहले की कविताओं का (दोहा, चौपाई आदि रचनाएँ) चित्र बनाया जाए तो वे एक निश्चित दायरे के अन्तर्गत आएंगी, किन्तु समकालीन कविता का दायरा अत्यन्त विस्तृत व विराट है। अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाले किसी उपग्रह से कम नहीं है, बल्कि उससे भी आगे, क्योंकि उपग्रह तो एक निश्चित कक्षा में परिभ्रमण करता है, समकालीन कविता का परिभ्रमण अनन्त हैं।
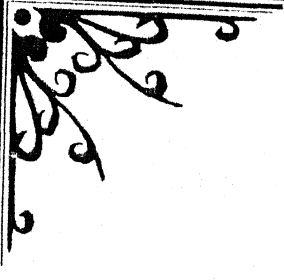
सप्तम अध्याय
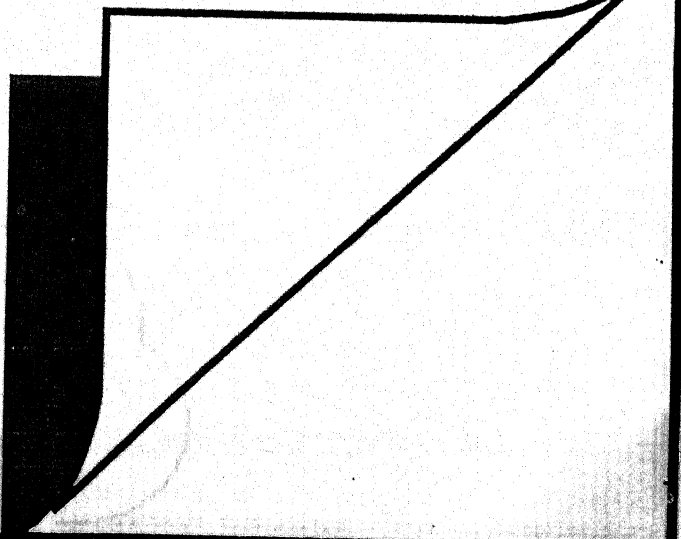
सप्तम अध्याय

समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के गौण रूपों का मूल्यांकन

1. आत्मगत सौन्दर्य
2. भावगत सौन्दर्य
3. उदात्तगत सौन्दर्य
4. कल्पनागत सौन्दर्य
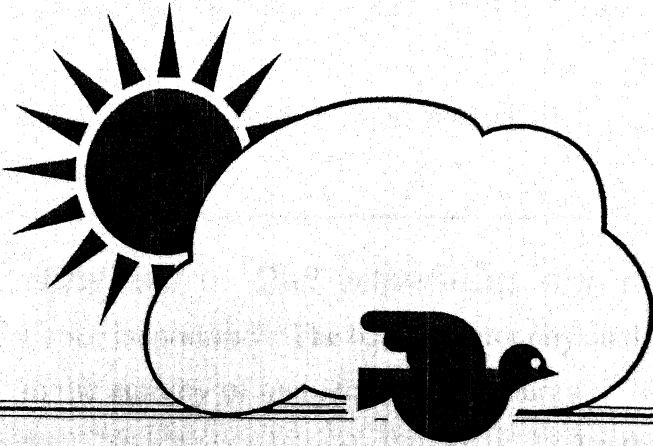
सप्तम अध्याय

समकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध के गौण रूपों का मूल्यांकन

जब किसी काव्य में प्रवृत्तिगत अवधारणा को लेकर किसी रूप के गौण होने का प्रश्न उठता है, तो इसका तात्पर्य उस रूप की समाप्ति नहीं है, अभाव हो सकता है अथवा उस रूप या वस्तु की वांछित दुर्लभता भी हो सकती है। यही बात समकालीन कविता के सौन्दर्य-बोध से जुडे हुए उन बिन्दुओं की है, जिन्हे गौणता की श्रेणी में रखा गया है। समकालीन कविता की प्रवृत्यात्मक पृष्ठभूमि सामाजिक यथार्थ है; जिसमें वस्तुगत सौन्दर्य की प्रधानता अपने आप सर्वसिद्ध है; किन्तु सौन्दर्य- बोध के कुछ रूप ऐसे हैं, जो गौण हो गए हैं, उन्हें समसामयिक परिप्रेक्ष्य में बहुमत की स्वीकारोक्ति नहीं मिल पाई है। सौन्दर्य बोध के ऐसे गौण रूपों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है-

1. आत्मगत सौन्दर्य
2. भावगत सौन्दर्य
3. उदात्तगत सौन्दर्य
4. कल्पनागत सौन्दर्य

1. आत्मगत सौन्दर्य :-

'आत्मगत' को आत्मनिष्ठ, स्वात्मनिष्ठ, अध्यान्तरिक, स्वानुभूति व्यंजक, स्वानुभूति निरूपक आदि कई नामो से सम्बोधित किया गया है। यह अंग्रेजी के 'सबजेक्टिव' (Subjective) के लिए प्रयुक्त परिभाषिक शब्द है। इसमें कवि अत्यन्त आत्मीयता के साथ, बिना किसी संकोच के , पूर्ण स्वच्छन्दता पूर्वक अपनी स्वानुभूति व्यक्त करता है। वह बाह्य विषयों से प्रेरणा ग्रहण करके उसका उपयोग अपनी निजी प्रतिक्रियाओं को अन्तर्मुखी दृष्टिकोण से व्यक्त करने में करता है। इसीलिए धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है-"ऐसी रचनाओं में वस्तु का यथातथ्य वर्णन या चित्रण साधारणतया नहीं मिलता, उस पर कवि की भावना का अपेक्षाकृत गहरा आरोप रहता है।"[1]

प्लेटो, प्लेटिनस, क्रोचे, शीलिंग आदि पाश्चात्य दार्शनिक इसी सौन्दर्य के समर्थक हैं। क्रोचे ने तो यहाँ तक कहा है कि 'सौन्दर्य की बाहय सत्ता नहीं होती, सौन्दर्य-भावना ही सौन्दर्य या सुन्दर होती है।'[2]

समकालीन कविता में आत्मगत सौन्दर्य की सामग्री अत्यन्त ही विरल है, क्यों कि इस क्षेत्र में कवियों का दृष्टिकोण यर्थाथ रूप से भिन्न कभी नहीं रहा, जब कि आत्मगत सौन्दर्य में कवियों का दृष्टिकोण यथार्थ से सर्वथा भिन्न रहना चाहिए और इसके स्थान पर उन्हे आदर्श का पक्षपाती होना चाहिए। इधर नवें दशक के बाद के नवांकुरित रचनाकारों ने प्रकृति-सम्पदा के सरंक्षण और भूमंडलीकरण के प्रति जो जिज्ञासा व्यक्त की है, उसमें उनका आत्मगत सौन्दर्य फूट पडा है। डॉ0 देवेन्द्र आर्य की कविता का एक नमूना देखिए-

---

1. *धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-1 पृ0 802*
2. Croce Benodutto : 'The beauty is not physical fact. it does not belong to things but to the activity of man, to spiritual energy'.

   - Aesthetic, P. 159

'इतना दर्द सहा है तुमने

थोड़े- से दुख और समेटो

बन्धु! भोर की उजियारी में

चार पहर ही तो बाकी है।'[1]

उपर्युक्त काव्य- पंक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि मानव ने विषपायी जगत् में बहुत से कष्ट झेले हैं, इन कष्टों से त्राण पाने के लिए उसे विषपायी उपस्करों का ही सहारा लेना चाहिए,किन्तु कवि ऐसा नहीं करना चाहता। आत्मपरीक्षण के बाद उसे विश्वास हो गया है कि यदि उसने पावस की गर्जन झेला है तो एक-न-एक दिन मधुमास अवश्य आएगा। लेकिन इस मधुमास स्वरूप भोर की उजियारी के लिए कवि ने जो चार प्रहर अर्थात् द्वादश घण्टे की समयावधि निर्धारित की है, वह अत्यधिक लम्बी है और साधक के लिए प्रतीक्षा का मानक-बिन्दु है। यहाँ 24 घन्टों में 12-12 घण्टें का बराबर अनुपात है, क्योंकि समकालीन कवि यह अच्छी प्रकार जानता है कि इस यथार्थवादी जगत में किसी परीक्षा का परिणाम प्रायः लम्बित रहता है। अतः आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से जुड़ी हुई यह कविता आत्मगत सौन्दर्य का एक अच्छा उदाहरण है। आत्मगत सौन्दर्य के प्रवर्त्तकों का कहना है कि बाह्य पदार्थो का गोचर सामंजस्य आन्तरिक सामंजस्य का प्रतिबिम्ब मात्र है, आन्तरिक रूप ही सौन्दर्य है। यही कारण है कि आत्मवादियों ने सौन्दर्य के भौतिक अस्तित्व को नकार दिया है और उसके स्थान पर आत्मिक अस्तित्व की स्थापना की है। समकालीन कविता में विश्वप्रेम की लोकोत्तर संवेदना अनुभूति के स्तर पर प्रतीकों के माध्यम से अधिक व्यक्त हुई है। कहीं-कहीं तो सृष्टि- रचना का आधार ही 'प्रेम' को मान लिया गया है, जो विश्व-प्रेम की विराटता और उसकी व्याप्ति का उद्घाटन करता है-

" जग सत्ता रचता परमेश्वर/ लेकर प्रीतिभाव की माटी।

वन कानन से घर आँगन तक/ फैली मात्र यही परिपाटी।

इसीलिए जगती तल के कण/ कण में रहता प्यार किसी का ।'[2]

- अनुपम

समकालीन कवियों ने जीवन और साहित्य की रूढ़ियों को तोड़कर स्वतंत्रता और स्वच्छता के साथ मानवीय सौन्दर्य का उन्मुक्त रूप प्रस्तुत किया है। द्विवेदी-युग की कुलवधू छायावाद में आकर 'प्रेयसी' और 'अप्सरा' बन गई; प्रगतिवाद में 'श्रमशीला' तथा प्रयोगवाद में 'कलगी बाजरे की' आदि - आदि। समकालीन कविता में नारी एक तीखा एहसास है। यहाँ पर लुभाना, चढ़ती स्त्री, नंगी औरत, औरत की जिन्दगी, एक लड़की, खड़ी स्त्री, होंठ, पर्वस्नान आदि शीर्षकों को लेकर नारी-जगत से सम्बन्धित अनगिनत कविताएँ लिखी गई हैं, किन्तु प्रत्येक कविता में उनके जीवन- मूल्यों का निर्धारण यथार्थ और वैज्ञानिक धरातल पर किया गया है। समकालीन नारी आज के टूटते हुए सम्बन्धों-अनुबन्धों से चिन्तित है। वह चाहती है कि उसकी चिर चिन्तना समाप्त हो -

"दर असल

हर बयान दे चुकने के बाद

---

1. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक),पृ0 99,जनवरी-मार्च, 2002

2. सं0 डॉ0 महेश दिवाकर : काव्यधारा, पृ0 21, साहित्य कला मंच, बिजनौर, 1995

होठों को चाहिए/ सिर्फ दो होंठ
जलते हुए
खुलते हुए
बोलते हुए होंठ।"[1]

आज के आपाधापी के युग में स्त्री/पुरुष दोनो के होंठ न तो लाल है और न कोमल; उनमें झुँझलाहट और गर्माहट है, फिर भी कवि दोनो के स्नेहिल होंठो का संगम अनिवार्य मानता है। इन जलते और बोलते हुए होंठो का आपसी मिलन हो जाना ही शायद आत्मीयता की गहरी पहचान है। समकालीन कवियों ने विशिष्ट मानव के स्थान पर लघु मानव में ही सौन्दर्य खोजने का प्रयास किया है। इसीलिए उसने आधुनिक जगत के बहुत सारे श्रृंगारिक- प्रसाधनों के नाम तक नहीं लिए और फिल्म-जगत की नायिकाओं- हेमामालिनी, शिल्पा शेट्टी, लता मंगेशकर आदि का जिक्र तक नहीं किया ।

आत्मगत सौन्दर्य के अन्तर्गत सौन्दर्य वह भावभूमि है, जहाँ हम प्रथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ सौन्दर्य की सत्ता वस्तु और प्रमाता, वक्ता और श्रोता, अंश और अंशी, आत्मा और परमात्मा दोनों पर निर्भर रहती हैं। सौन्दर्य-चिन्तन में प्रमाता निःस्वार्थ भाव से अपने आप ऊपर उठता है; उसके आवेग प्रशमित हो जाते हैं और मंगल के प्रत्यभिज्ञान से उसे प्रसन्नता की अनुभूति होती है। 'अभिशप्त शिला' नवें दशक की एक सशक्त रचना है, जिसमें डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' के अनुसार गौतम के लिए अहल्या भोग नहीं, योग की वस्तु है। यही बात अहल्या के सन्दर्भ में भी है, उनके लिए गौतम विषयानन्द के नहीं, ब्रह्मानन्द के प्रतीक हैं। गौतम और अहल्या एक ही नदी के दो पाट हैं। अहल्या का भक्ति रूपी-सौन्दर्य गौतम को साधना, प्रेम तथा तपश्चर्या की उदात्त भूमि तक पहुँचा देता है, जहाँ दोनो मिलकर एकमेक हो जाते हैं -

'वही चारुता जो प्रियतम को भा जाती है,
और बल्लभा वही कि जो बल्लभ-भाती है

\+ + + + +

एक प्राण ही व्याप्त हुआ है- दो शरीर में
उपवन में ज्यों पुष्प/ गन्ध बहता समीर में ।'[2]

काव्य और सौन्दर्य-बोध का यह वही संगम है, जहाँ आभिजात्य और अन्त्यज, भले और बुरे का भेद मिट जाता है। साहित्य इसी प्रकार के सौन्दर्य-बोध की अनवरत् खोज में लगा रहता है।

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिए। शबर पुत्री शबरी अछूता है। वह मतंग मुनि के आश्रम में रहती है। एक दिन वितण्ड मुनि, मतंग ऋषि से मिलने हेतु आश्रम पधारे। शबरी आश्रम के बाहर बुहार रही थी, जाने अनजाने जूठन के अन्न-कण उनके शरीर में जा पड़े। परिणामतः शबरी वितण्ड मुनि के क्रोधाग्नि से अभिशापित हो जाती है। उधर वितण्ड मुनि शबरी अछूता से छू जाने के कारण पास के सरोवर में स्नान करने चले जाते हैं, भाव-दृष्टि मैली होने के कारण सरोवर का जल पंकिल हो जाता है। इसका

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 25
2. 2. डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला, (चर्या सर्ग) पृ0 12

सारा कलंक शबरी पर मढ़ दिया जाता है। शबरी मतंग मुनि के पास आकर अभिशाप से मुक्ति पाने की याचना करती है। मतंग मुनि द्वारा दिया गया संबोधन देशकाल एवं परिस्थितियों की सीमा से बहुत आगे -सार्वकालिक, सार्वजनीन एवं सार्वदेशिक है -

"बेटी
जो बैठ गए हों निराश जीवन में
होता उपलब्ध नहीं लक्ष्य उन्हें त्रिभुवन में
जीते वे,
जिनका विश्वास जिया करता है।
जिसका विश्वास मरा
वही मरा करता है
मृत न बन अमृत-पुत्री/ऐसा विश्वास बन -
जीना है युगों-युगों ऐसा इतिहास बन।"[1]

धार्मिक और दार्शनिक चिन्तन आत्मगत सौन्दर्य का प्राण है। समकालीन कविता में दार्शनिक चिन्तन का प्रायः अभाव है। बौद्ध-दर्शन तो अधिकतम पावर का चश्मा लगाने के बाद भी नहीं झलकता। प्रतिबिम्बवाद की कल्पना छठे दशक के उत्तरार्द्ध में की गई थी, जहाँ केदारनाथ सिंह ने तीसरा सप्तक में 'बिम्ब' को कवि का प्रकृत धर्म स्वीकार किया था; किन्तु आगे चलकर प्रतिबिम्बवाद की अवधारणा भी तिरोहित हो गई, क्योंकि समकालीन कविता बिम्ब को गौण मानकर सपाटबयानी की ओर उन्मुख हो गई।

अस्तित्ववादी दर्शन अवश्य ही समकालीन कविता में कई स्थानों पर व्यक्त हुआ है, किन्तु यह दर्शन क्षण-क्षण जीने की एक कोरी कल्पना है; जिसमें मृत्युबोध से बौखलाया हुआ हर क्षणजीवी मानव व्यक्तिगत तौर पर अपने लिए चिन्तित है। अतः ऐसी कविताओं में कोई आत्मिक सौन्दर्य नहीं झलकता।

कहीं-कहीं उँगलियों पर गिने-चुने उदाहरण कुछ अन्य दर्शनों के भी मिलते हैं; यथा-विपिन अग्रवाल का कविता-गुच्छ - 'नंगे पैर'। इसमें कई स्थानों पर अद्वैतदर्शन की अवतारणा है, किन्तु सामाजिक यथार्थ मुखर होने के कारण यह दर्शन एक प्रकार का जन-संस्करण मात्र बनकर रह गया है।

इसी प्रकार रहस्यभाव के अन्तर्गत विरहानुभूति, अभिलाषा, गुण-कथन, स्मृति, उपालम्भ, दीनता, प्रलाप, मिलनाकांक्षा आदि का अभाव है। दर्शन सम्बन्धी अन्य आवश्यक विचारणीय स्वरूपों - ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मुक्ति आदि का उपयुक्त चित्रण नहीं है।

नवगीत में लयात्मकता का गुण प्रधान होने के कारण आत्मिक सौन्दर्य के आस्तिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर्याप्त रूप में झलकते हैं; किन्तु इसके पीछे कहीं न कहीं यह दृष्टिकोण काम करता हुआ नजर आता है कि गीत-विधा, फिर चाहे नवगीत की क्यों न हो, समकालीन कविता की विधा नहीं है।

अस्तु, समकालीन कविता में आत्मगत सौन्दर्य-चित्रण नितान्त ही विरल है। समकालीन कविता के अपार पारावार में आत्मिक सौन्दर्य के एक-आध मोती मिल जाएँ तो मोती के गोताखोर को बहुत गर्व नहीं करना चाहिए।

1. धनंजय अवस्थी : शबरी, ('साधना' सर्ग), पृ0 86

2. भावगत सौन्दर्य :-

भावगत सौन्दर्य मानवीय भावनाओं का एक उद्‌गार है, यह उद्‌गार विचार और कल्पना से उत्पन्न होता है। भाववादी विचारक सौन्दर्य को अगोचर, अपार्थिव और इन्द्रियातीत नहीं मानते, अपितु इसे गोचर और पार्थिव रूप में स्वीकार करते हैं। भावगत सौन्दर्य मानव-मन की वस्तु है, दृष्टा की सृष्टि है। विषय और वस्तु चाहे जितने सुन्दर हों, किन्तु भाव और मानसिक व्यापार के सामने वे सभी तुच्छ और नगण्य हैं। यह मानव की भावना पर निर्भर है कि वह उन सौन्दर्य प्रधान वस्तुओं को कितनी तरजीह देता है। पाश्चात्य दार्शनिक जॉन लॉक, फैखनर, एडीसन, ज्याँ पॉल सार्त्र, आई0ए0रिचर्ड्स आदि इसके समर्थक हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने भावगत सौन्दर्य की सर्जना के लिए 'रस' और 'कल्पना' को महत्वशाली ठहराया है, साथ ही 'रुचि-वैचित्र्य' को इसका आधार-स्तम्भ माना है।

भावगत सौन्दर्य में रसों का महत्व निर्विवाद है। रस-निष्पत्ति मुख्यतः भावना के परिपोषण और उसके आस्वाद पर निर्भर है। मानवीय अन्तःकरण में अनेक भावनाओं का समुद्र सदैव हिलोरें लेता रहता है, परन्तु सभी क्षुद्र क्षणजीवी भावनाएँ रस नहीं बन पाती। जो भावना स्थायी और व्यापक होती है, वही रस-निर्माण में सहयोग करती है। स्थायी रति, क्रोध और शोक ही श्रृंगार, वीर और करुण का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे-जैसे हम नवीन युग में प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे इसके सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है। समकालीन कविता में भावगत सौन्दर्य के अन्तर्गत रस का यही बदला हुआ स्वरूप है। जहाँ रसिक की मनः कामना के विपरीत काव्यगत कल्पना सामने आती है, वहाँ तद्‌विरोधी कल्पना उद्‌दीप्त होती है, जिससे संघर्षमूलक प्रक्षोभ का जन्म होता है। फलतः, समकालीन कविता में प्रक्षोभ ही संवेद्य बन गया है -

> **"और बाबू जी!**
> **असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे**
> **अगर सही तर्क नहीं है**
> **तो रामनामी बेंचकर या रंडियों की दलाली करके**
> **रोजी कमाने में कोई फर्क नहीं है।"[1]**

यहाँ 'रामनामी' धर्म तथा 'रंडियों की दलाली' अधर्म का प्रतीक है। अर्थतंत्र के इस युग में मानव ने धन-संग्रह की होड़ में धर्म को दाँव पर लगा दिया है। अब वह धर्म- अधर्म में कोई भेद नहीं मानता। रामनामी दुपट्टे का व्यापार हो या तवायफ की दलाली, दोनो को एक ही तराजू(उत्तोलक) से तोलता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कवि अपने मन की भावना अथवा कल्पना से वाचक या श्रोता को आक्रान्त करता है और उसे नई दृष्टि देता है कि वह ऐसा न करे।

प्राचीन-काल में भावगत सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए मानव-जीवन की अन्तःस्थितियों और प्रकृति के अनेक रूपों को ही काव्य- विषय मान लिया गया था, परन्तु आज समकालीन कविता में काव्य और साहित्य का कोई निश्चित विषय नहीं है। आज कोई भी विषय कवि अथवा साहित्यकार की रस-संवेदना को छूकर काव्य अथवा साहित्य का विषय बन सकता है।

---

1. धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 40

समकालीन कविता में मानसिक अनुभूति के अन्तर्गत ऐन्द्रिय संवेदनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ऐन्द्रिय संवेदनाओं में दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और आस्वाद सभी ज्ञानेन्द्रियपरक बिम्ब आ जाते हैं। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से इन बिम्बो में दृश्य बिम्ब का महत्व सर्वाधिक है। ये दृष्टि के समक्ष रूप को रूपायित करते हैं। इन बिम्बों की सृष्टि करने में संज्ञा, विशेषण, विशेषण- विपर्यय, मानवीकरण, अप्रस्तुत-योजना आदि इसके चुनिंदा उपकरण माने जाते हैं। इन्ही बिम्बो के सहारे समकालीन कवियों ने बिम्बों का निर्माण किया है।

दिविक रमेश की कविता का एक अंश देखिए, जहाँ पर एक दलित के लिए जानवर का बिम्ब खीचा गया है। जानवर प्रायः अनेर होते हैं, उनके परिभ्रमण में किसी प्रकार का कोई संवैधानिक नियंत्रण नहीं होता। निराश्रित दलित भी किसी अनेर पशु से कम नहीं है-

" माँ की मौत हो
या बेटी का व्याह
या फिर जन्म ही किसी का परिवार में
मिनट भी नहीं लगता
उसे भिखमंगा बनने में
तीज-त्योहार को भी
पहुँच जाता है वह
अनचाहे जानवर-सा
कितने ही द्वारों पर।"[1]

बलदेव वंशी ने अपने कविता-संग्रह 'उपनगर में वापसी' में मानवीय संवेदना से जुड़े हुए जसवन्त, भगतू, अमरु आदि की दर्दिल दैनन्दिनी का चित्रण किया है। इनकी पीड़ा-यातना का सन्दर्भ व्यक्तिगत न होकर सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से जुड़ा है। बीमार अमरु रात भर गीदड़-सा रोता है; वह तिलतिल मृत्यु का वरण कर रहा है। ऐसे पात्रों के प्रति किसके हृदय में दया और करुणा का उद्रेक नहीं होगा ? भावगत सौन्दर्य का यह विश्वव्यापी आवेदन देखिए-

"उसकी अर्राहट सीधे आकाश में
उठे गर्डरों से टकराकर
लुढ़कती है नीचे
और चोट खाकर कुँकुआती हुई
घर-घर घूमती
द्वार खटखटाती है
फिर बीमार अमरू के पास लौट
दूसरी बार के लिए पायताने रूकी थरथराती है।'[2]

यह भावगत सौन्दर्य समकालीन कविता के अनुरूप है। कविता का यही बिम्ब यदि छायावादी युग

---

1. सं0 विद्यानिवास मिश्र : साहित्य अमृत (मासिक), पृ0 17, जुलाई 1999

2. बलदेव वंशी : उपनगर में वापसी, पृ0 23

में खींचा जाता तो प्रसाद के 'आँसू' की तरह नायक की वेदना गार्डरों से न टकराकर आकाश से टकराती, किन्तु समकालीन कविता में यह वेदना विज्ञान के अतिरिक्त प्रभाव के कारण स्थान-स्थान पर गड़े हुए स्तम्भों या गर्डरों से टकरा रही है। इस वेदना के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने वाला जब कोई नजर नहीं आता तो वह ध्वनि-वेदना पुनः अमरु के पास लौट आती है।

ऐसे ही सौन्दर्य के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि भावगत सौन्दर्य मानव मात्र में समान रूप से मिलता है। उसमें सार्वभौमिक आवेदन होता है। क्षमा, दया, करुणा, त्याग, बलिदान, प्रेम आदि को सारे विश्व में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। इसीलिए सौन्दर्य का मूल उद्देश्य भावगत सौन्दर्य का ही चित्रण करना है। यह कुरूप को भी सुन्दर बना देता है। उनके अनुसार- "एक रोग से क्षीणकाय फटे चिथड़ो में लिपटा मैला- कुचैला भिखारी जब हमारी नजर के सामने पड़ जाता है तो हमे उसमें कोई सौन्दर्य नहीं झलकता। परन्तु उसी को जब हम काव्य, चित्र या मूर्ति के रूप में अंकित देखते हैं, उसमें हमें अनन्य सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगता है। इस सौन्दर्य को देखने के लिए भावुक और संवेदनशील होना बहुत आवश्यक है।"[1]

भाववादी सौन्दर्य- चिन्तन में सौन्दर्य का सम्बन्ध संवेग,भावना और इच्छा से होता है। सौन्दर्य बाहर की वस्तु नहीं, अपितु मन के भीतर की वस्तु है; किन्तु वह आत्मगत सौन्दर्य की भाँति इन्द्रियातीत नहीं है। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन पर सद्यः अधिकार कर लेती हैं और उन वस्तुओं से हमारा चिर सान्निध्य स्थापित हो जाता है। इसके विपरीत कुछ 'वस्तुएँ' ऐसी होती हैं जो हमारे मन में बिल्कुल नहीं टिक पातीं और वे बोझ-सी प्रतीत होती हैं। हमारा उनसे तादात्म्य नहीं हो पाता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार-"जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जाएगी।"[2]

उदाहरण के लिए अछूता किन्तु पूता शबरी को मतंग मुनि के माध्यम से जब इस बात का पता चल जाता है कि श्रीराम के द्वारा अति निकट भविष्य में उसका उद्धार होना है, तो वह राम की प्रतीक्षा में भाव- विह्वल हो जाती है। एक दिन उससे रहा न गया और वह अपनी कुटी से निकल कर कलियों अलियों और गलियों से सवाल करती है-

" 'देखा तो नहीं तुमने'-
कलियों से पूछती
मँडराते मदमाते अलियों से पूछती
वक्र चक्र गलियों से पूछती
पतित -पावन राम को
कब तक कल पाएँगे जीवन की शाम को' ।"[3]

उपर्युक्त कविता में शबरी का प्रतीक्षा-संवेग और उसकी मिलनाकांक्षा अत्यन्त ही प्रगाढ़ है। ऐसे संवेग भाववादी सौन्दर्य के प्राण कहे जाते हैं।। वस्तुतः, भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है, वही

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा, पृ0 31
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा, पृ0 29
3. धनंजय अवस्थी : शबरी (' बोध' सर्ग), पृ0 92

बाहर है।

समकालीन कविता में भावगत सौन्दर्य के अन्तर्गत 'कल्पना' का अपरिसीम महत्व है। 'रूपक' और 'प्रतीक' कल्पना के दो प्रमुख उपकरण हैं। इनकी योजना से भावसत्य प्रभावशील और मनोरम बनता है। 'रूपक' को हम अलंकार मात्र न समझ कर 'पद्धति विशेष' भी मान सकते हैं। भावबोध का एक अत्यन्त सशक्त रूप 'रूपक-पद्धति' है और उसमें कल्पना का जो प्रौढ़ और संयत रूप समाविष्ट रहता है, उसकी उपेक्षा किसी काल के कवियों ने नहीं किया। रूपक में एकता अर्थात् अभेद की प्रतीति होती है। समकालीन कवियों ने नए अप्रस्तुतों या उपमानों की सर्जना करते हुए निरंग तथा परम्परित अलंकार के माध्यम से सौन्दर्य- चित्रों की सृष्टि की है, किन्तु सांगरूपक के प्रति उनका विशेष मोह नहीं है। श्रीकान्त शास्त्री की कविता का एक अंश दृष्टव्य है, जहाँ चलते-फिरते रूपक को मानवीकरण का रूप दे दिया गया है-

' ओ गरूड़ मन उड़ चलो
अब पंख खोलो
बन प्रभंजन इन
हवाओं को टटोलो।'[1]

भौतिक सृष्टि में मन अनुकूल- प्रतिकूल परिस्थितियों का इन्द्रजाल है। उसकी सार्थकता गरुड़ बनने में ही है, क्योंकि गरुड़ जितेन्द्रिय कार्तिकेय का वाहन है। इन्द्रिय निग्रही मन ही प्रभंजन रूपी सच्चा नियंत्रक बनकर वासना रूपी हवाओं को सही दिशा दे सकता है। समकालीन कविता में भावगत सौन्दर्य की संवृद्धि के लिए पूर्व से चले आ रहे प्रतीकों को नए सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया है। ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, दार्शनिक और प्राकृतिक लगभग प्रतीकों का प्रयोग समकालीन कविता में हुआ है। उदाहरणार्थ ताजमहल आगरा स्थित एक प्रसिद्ध इमारत है। इस पर विचार व्यक्त करने के लिए चित्रकला में बेगम मुमताज की प्रतिमा, संगमरमर के चारुखण्ड, देशी- विदेशी कारीगर, उगते और डूबते हुए सूर्य की लालिमा- यह सब दिखाना होगा। ये सभी छोटी-बड़ी प्रथक वस्तुएँ मिलकर 'ताजमहल' जैसे प्रतीक का निर्माण करती हैं। आज की परिस्थितियों का अवलोकन करते हुए समकालीन कविता में ताजमहल के प्रति विशेष चिन्ता व्यक्त की गई है। सरकार की लापरवाही और अनुशासनहीनता के कारण आज वह जर्जर और बेगाना हो गया है। श्याम परमार ने लिखा है -

"अकेलेपन से ऊबा लँगड़ा ताजमहल
शोख खाई में डूब गया है।"[2]

ताजमहल किसी समय वैभव का प्रतीक था, किन्तु आज वह किसी वैभव को स्पष्ट न कर सार्वकालिक, सर्वदेशीय वैभव के अन्ततः विनष्ट हो जाने की बात स्पष्ट कर रहा है। भारतीय राजनीति में 'ताज कैरिडोर' जैसे मामले भी चल रहे हैं। अतः कवियों की यह बेचैन भावना अपने ऐतिहासिक धरोहर के साथ तदाकार हो गई है। उनके अन्दर का हुलास बाहर आकर 'ताज' के सौन्दर्य के साथ जुड़ गया है; वे उसकी सुरक्षा चाहते हैं।

इसी क्रम में भावोदय का एक उदाहरण देखिए, जहाँ पर एक भाव के समाप्त होते ही दूसरे भाव

---

1. प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 38, अप्रैल 2003
2. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, पृ0 121

का उदय हो गया है। जिन्दगी किसी समय पतझड़ थी, आज वह मधुमास का प्रतीक बन गई है। यह प्रेरणा वनगंध से मिली है, किन्तु जब यह प्रेरणा सागर के सीपियों से मिलती है तो जिन्दगी मधुमास से बदलकर 'स्वाति भर प्यास' का प्रतीक बन जाती है। भावोदय का यह क्रम चलता रहता है-

''तुम जरा वनगंध से तो पूछ लो
जिन्दगी पतझर नहीं मधुमास है

हर सुबह के वृंत पर महका सुमन
साँझ होते धूल में मिल तो गया
पर जिया जब तक जिया जग के लिए
निज व्यथा को भूल खुशबू दे गया।

सागरों के सीप से तो पूछ लो
जिन्दगी तो स्वाति भर की प्यास है।''[1]

यहाँ एक अनुपम भावलय है, किन्तु उससे अर्थलय को प्रथक करना है। भावात्मकता के कारण ही अर्थ लयान्वित होता है। अतः यहाँ अर्थलय साथ-साथ चल रहा है, इस अर्थलय में भाव और विचारों की संश्लिष्टता है। आई0ए0रिचर्ड्स का कथन है – ''जो कृति परस्पर भिन्न अन्तर्वृत्तियों का अत्यधिक परितोष करने में सक्षम है, वह सौन्दर्यात्मक मूल्य से उत्कृष्ट होगी। अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य ही सौन्दर्य का मूल्य है।''[2]

प्रकृति-प्रतीक का एक और उदाहरण देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। महाकवि बिहारी ने अपनी 'सतसई' में प्रकृति के अन्तर्गत ''छाहौं चाहति छाँह'' की कल्पना की थी, किन्तु समकालीन कवि उनसे भी एक कदम आगे बढ़ गए हैं। यहाँ ग्रीष्म के प्रभाव से छाया स्वयं छाया नहीं चाहती, बल्कि 'धूप' इस छाया के लिए लालायित है। ग्रीष्म की दोपहर से जब धूप स्वयं अपने ताप से संतप्त हो जाती है तो वह छाया को उसके घर से निकालकर अपना विश्रामालय बनाना चाहती है। प्रकृति का यह उन्माद कितना स्वाभाविक है, जहाँ भावगत सौन्दर्य के अन्तर्गत प्रकृति-विरोधी भाव सन्धियाँ बराबर काम कर रही हैं। ऐसे स्थल बड़े ही चमत्कारिक होते हैं। शलभ श्रीरामसिंह की कविता 'ग्रीष्म-दोपहर' का एक उदाहरण इस प्रकार है –

''हाँफ रही बरगद के नीचे, बैठ दुपहरी गाँव की।
भरा सिवानों में सूनापन
झिड़क रही है धूप निगोड़ी, बाँह पकड़कर छाँव की।''[3]

1. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक),डॉ0 देवेन्द्र आर्य की कविता, पृ0 96, जनवरी-मार्च, 2002
2. रामलखन शुक्ल : भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएँ, पृ0 52 से उद्धृत
3. डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, पृ0 216 से उद्धृत

उपर्युक्त कविता में यद्यपि संवैधानिक आधार पर 'धूप' और 'छाया' का उत्कर्ष अपनी-अपनी सीमा में समान रूप से अवस्थित है, किन्तु विरोधी भावों के कारण 'धूप' और 'छाया' क्रमशः 'सबला' और 'अबला' के प्रतीकात्मक स्वरूप बन गए हैं।

समकालीन कविता के सन्दर्भ में भावगत सौन्दर्य की दो विशेषताओं का वैज्ञानिक मूल्यांकन करना आवश्यक ही नहीं, प्रासंगिक भी है। ये दो विशेषताएँ हैं - दृष्टा का मानसिक व्यापार तथा रूचि-वैचिन्त्र्य।

मानसिक व्यापार के कारण सौन्दर्य की स्थिति विषय वस्तु में न होकर दृष्टा के मन-मस्तिष्क में होती है। भाववादियों के अनुसार सौन्दर्य मन की वस्तु है, विषय की नहीं। यह दृष्टा की सृष्टि है, वस्तु की कोई विशेषता नहीं। यह दृष्टा के मन की बात है कि वह सौन्दर्य प्रधान वस्तुओं को महत्व दे या न दे अथवा कितना दे। वस्तु चाहे जितनी सुन्दर हो, किन्तु मानसिक व्यापार के सामने वह तुच्छ और नगण्य है। सौन्दर्य की इसी अवधारणा के कारण जगत् में 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' या 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' का सिद्धान्त प्रचारित हुआ। 'जितने मुँह उतनी ही बातें' वाली कहावतें इसी तथ्य की अभिव्यंजक हैं। मानसिक व्यापार व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावगत सौन्दर्य के अन्तर्गत शील और सदाचार की जो रूपरेखा निर्धारित की थी, उससे हटकर जब इस सौन्दर्य को देखने का प्रयास किया गया तो इससे अपेक्षित परिणाम नहीं निकले।

चन्द्रमा का वह स्वरूप जो संयोग-काल में किसी नायिका के लिए सुषमा का केन्द्र था, वियोग-काल में सुषमाविहीन होकर दाहक शत्रु बन जाता है। ऐसा क्यो? क्या किसी नायिका का वियोग-काल आने पर चन्द्रमा का सौन्दर्य घट जाता है? वियोग-काल में कोयल की कूक नकारा लगने लगती है। क्या सचमुच कोयल उस समय मीठी बोली के स्थान पर भदेश भाषा का प्रयोग करने लगती है? सच्चाई यह है कि न तो चन्द्रमा बदलता है और न कोयल। केवल मानव का मानसिक व्यापार बदल जाता है; जिसके कारण वह सुन्दर को असुन्दर अथवा असुन्दर को सुन्दर की संज्ञा दे देता है। मानसिक व्यापार की यह इच्छा-अनिच्छा अगर यहीं तक सीमित रहती तो कोई बात नहीं थी। सबसे बड़ी समस्या उस समय होती है, जब रचनाकार मानसिक-व्यापार के आधार पर अवांछनीय रचनाएँ प्रस्तुत करने लगता है। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवि-चितेरों और अवकाशभोगी राजाओं के लिए सम्पूर्ण संसार नायिकामय था - 'देखहिं चराचर नारिमय जो ब्रह्ममय देखत रहे।'

रीतिकालीन कवियों के लिए नारी न तो भगिनी के रूप में प्रिय थी, न मातृरूप में और न हि पत्नी रूप में। वह एक प्रेयसी और भोग्या के रूप में सामन्ती वैभव के हाथों कठपुतली बनी रही। यह सब सौन्दर्य के मानसिक-व्यापार का प्रभाव है।

अब **'रूचि-वैचिन्त्र्य'** पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक होगा। रूचि-वैचिन्त्र्य जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है, मानव का जीवन स्वयं वैचिन्त्र्यपूर्ण है। उसमें एक ओर प्रेम और उत्साह है, तो दूसरी ओर क्रोध और घृणा। एक ओर आलिंगन और मधुरालय है, तो दूसरी ओर गर्जन और तर्जन। एक आदमी चन्द्रमा को देखकर शीतलता का अनुभव करता है और दूसरा उसे देखकर यह सोचता है कि अच्छा हुआ, कार्य करने का समय टल गया। यही रूचि-वैचिन्त्र्य गलत और असंगत है। भावगत सौन्दर्य के अन्तर्गत पाई जाने वाली रूचि-वैचिन्त्र्य की सबसे बड़ी क्रमजोरी यह है कि भाववादी विचारक मनुष्य की कुछ भावनाओं को चिरन्तन और शाश्वत मानते हैं; यथा - व्यक्तिगत सम्पत्ति पर मात्र उच्चवर्ग का इजारा होना। जबकि आज के प्रजातांत्रिक समाज में यह इजारा क्षत-विक्षत और खील-खील हो चुका है।

समकालीन कविता में रूचि-वैचित्र्य का यह स्वरूप प्रायः देखने में नहीं आता, लेकिन कतिपय स्थानों पर प्रेम, क्रोध आदि के सात्विक रूप के चित्र अवश्य मिलते हैं। समकालीन कवि रूचि-वैचित्र्य के बावजूद बहुत-सी वस्तुओं को समान रूप से सुन्दर मानता है। अतः जब समकालीन कवि अपने प्रणय-व्यापारों के मंगलकारी सौन्दर्य का चित्रण करता है, तो पाठक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। समकालीन कविता भाववादियों के उन्हीं विचारों को ग्रहण करती है, जो समकालीनता के अनुरूप हैं, क्योंकि समकालीन कवियों का विश्वास है कि सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता मनुष्य के व्यवहार के कारण नहीं है, उसकी वस्तुगत सत्ता स्वयं वस्तुओं में है, जिनके गुण पहचानकर हम उन्हें सुन्दर की संज्ञा दे देते हैं।

3. उदात्तगत सौन्दर्य :-

उदात्तगत सौन्दर्य की पराकाष्ठा उसके उदात्तीकरण में है। निचले स्तर के विचारों को ऊँचा उठाना ही उदात्तीकरण है। अंग्रेजी भाषा में इसे 'सब्लीमेशन' (Sublimation) कहा जाता है। हिन्दी में इसके दो अर्थ हैं - उर्ध्वपातन और उदात्तीकरण।

उर्ध्वपातन एक रासायनिक क्रिया है। विज्ञान-जगत में कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ हैं कि जब उन्हें गर्म किया जाता है तो वे पिघलने लगते हैं। उदाहरण के लिए नौसादर। नौसादर को जब गर्म किया जाता है तो वह धुआँ बनकर ऊपर उठता है और ऊपर ठण्डक पाकर पुनः नौसादर के रूप में जम जाता है, किन्तु यह जमने वाला नौसादर अत्यन्त शुद्ध, परिष्कृत एवं निर्मल होता है, उसकी सारी गन्दगी छूटकर नीचे रह जाती है। इस प्रकार 'ताप' की सहायता से ऊपर उठ जाना, सम्पूर्ण गन्दगी (मलिनता) को नीचे छोड़ देना, शीतलता का संबल लेकर शुद्ध और उपयोगी बन जाना, इस क्रिया को रसायन-शास्त्र में 'उर्ध्वपातन' के नाम से संबोधित किया गया है।

काव्यशास्त्र, नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में इसी 'उर्ध्वपातन' को 'उदात्तीकरण' कहते हैं। काव्य-जगत में 'मन' और 'कर्म' के उदात्तीकरण को प्रमुखता दी जाती रही है। मन को तपाकर उसकी मलिनता को दूर करना, 'मन का उदात्तीकरण' तथा हितकारी कार्यों को 'स्व' से हटाकर 'पर' तक बिखेर देना 'कर्म का उदात्तीकरण' कहलाता है।

समकालीन कविता में कर्म के उदात्तीकरण को प्रमुख स्थान दिया गया है, क्योंकि समकालीन कवियों के अनुसार अच्छा विचार भी क्रिया के अभाव में निरर्थक होता है। सम्राट अशोक ने कलिंग का भीषण युद्ध तो जीत लिया, किन्तु जब उसके हृदय ने यह स्वीकारा कि उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति रक्तपात में गँवा दी है, तो उसे भारी आत्मग्लानि हुई। उसमें विवेक, सदिच्छा और संकल्प जागा। परिणामतः सम्राट अशोक ने अपनी समस्त शक्ति बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की ओर मोड़ दिया और इतिहास पुरूष हो गया। आज भारत सरकार ने अशोक-चक्र को "राष्ट्रीय-चिह्न" के रूप में स्वीकार कर लिया है। रत्नावली की फटकार पर सामान्य कोटि के तुलसी को अपनी कामुकता पर तीव्र ग्लानि हुई, उनमें विवेक जागा, संकल्प जागा और कामुक तुलसी भक्त-शिरोमणि तुलसीदास हो गए।

तात्पर्य यह है कि मानव की जो दुष्प्रवृत्तियाँ स्वयं के लिए तथा सम्पूर्ण समाज के लिए हानिकारक हो जाती हैं, उन्हें उदात्तीकरण की प्रक्रिया में उखाड़कर अलग नहीं किया जाता, केवल उसकी निम्नस्तरीय दिशा को साधक उच्च स्तर की दिशा में मोड़ देता है। इस प्रकार उदात्तगत सौन्दर्य में आत्मा का उन्नयन हो जाता है। उदात्तगत सौन्दर्य में प्रायः उदात्त चरित्रों का ही उल्लेख होता है।

पाश्चात्य साहित्य में लोंजाइनस वह प्रथम विचारक है, जिसने उदात्त तत्व का प्रतिपादन करने के

लिए 'पेरिइप्सुस' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें हर्ष, उल्लास, आह्लाद, विस्मय और दीप्ति जैसे भव्य आवेगों को उदात्त के लिए आवश्यक माना। महान दार्शनिक अरस्तू ने भी पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अपने 'विरेचन सिद्धान्त' के अन्तर्गत उदात्त को काव्य का सहयोगी तत्व माना। ब्रेडले ने सौन्दर्य के विभिन्न स्तरों के सूचक पाँच शब्दों का प्रयोग कियाहै - सबलाइम (Sub lime), ग्रैन्ड (Grand), ब्यूटीफुल (Beautiful)), ग्रेसफुल (Graceful) तथा प्रेटी (Pretty)। उसने ब्यूटीफुल को मध्यमान मानकर उससे उत्कृष्ट भावना को क्रमशः ग्रैन्ड एवं सबलाइम तथा निम्नतर भावबोध को ग्रेसफुल तथा प्रेटी कहा है। पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों में हीगेल, काण्ट, ब्रेडले, कैरेट ब्रुक, वाल्टरपेटर, सांटायना, बोसांके, युंग आदि ने इस विषय का अच्छा विवेचन किया है।

समकालीन कविता की वास्तविक पृष्ठभूमि सामाजिक यथार्थ है। अतः उदात्तगत सौन्दर्य परम्परित रूप में न होकर कुछ परिवर्तन के साथ अपनी निजी मौलिकता को धारण किए हुए है। समकालीन कविता में निम्न प्रकार का उदात्तगत सौन्दर्य अभिव्यक्त हुआ है -

(i) विराट चरित्र-बोधक उदात्त।
(ii) सामान्य चरित्र-बोधक उदात्त।
(iii) कारूण्य मूलक उदात्त।
(iv) ज्योति मूलक उदात्त।
(v) भव्य आवेग मूलक उदात्त।

(i) विराट चरित्र-बोधक उदात्त :-

विराट चरित्र-बोधक उदात्त के लिए प्रायः अवतारी या अंशावतारी महापुरूषों की गणना होती है, किन्तु इसके लिए ज्ञाता और ज्ञेयं के मध्य प्रीतिपरक उदात्त का होना आवश्यक है। समकालीन कविता में प्रीतिपरक उदात्त का विवेचन एवं विश्लेषण कई स्थानों पर हुआ है। जब प्रीति अपनी चरम सीमा को लाँघकर व्यापकता की ओर उन्मुख होती है तो वह उदात्त के विपुल क्षेत्र में पहुँच जाती है। इसमें आश्रय लघु तथा आलम्बन विराट होता है। यह विराट अपने आश्रित व्यक्ति को 'मोक्ष' नामक पुरूषार्थ चतुष्ट्य में पहुँचा देता है। शबर-प्रदेश की निवासिनी शबरी घर से प्रताड़ित होने पर जब मतंग मुनि के आश्रम में पहुँची तो दीर्घ प्रतीक्षा के उपरान्त उसने उदात्त चरित्र वाले राम को झरबेरी के उच्छिष्ट बेर खिलाए हों या अनुच्छिष्ट, राम का संस्पर्श पाकर उदात्त की चरम अवस्था को प्राप्त कर लिया। उदाहरण स्वरूप निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं -

"एक हाथ मुख में तो
दूसरा बढ़ाते राम
पाने को और बेर।
शबरी भी बेर-बेर
बाँछ-बाँछ देती, क्या प्रेम से खिलाती थी।
दाख से रसीले बेर।
राम को न लगती देर
खाते न अघाते।"[1]

1. धनंजय अवस्थी : शबरी ('सिद्धि' सर्ग से) पृ0 99-100

यहाँ 'बेर' शब्द उदात्त का सूचक है, जिसे पाकर राम निहाल हो गए। बेर तो एक माध्यम हैं, सम्पूर्ण सच्चाई सचमुच शबरी के प्रेम में है। वास्तव में जो आलम्बन हमारे चित्त का उन्नयन और आकर्षण करता है, वह उदात्त कहलाता है।

नवें दशक की सशक्त रचना 'अभिशप्त शिला' की पौराणिक पात्र अहल्या, गौतम के अभिशाप से पाषाणवत् होकर नीरस और मूक अवस्था में पडी है। राम के प्रति अगाध प्रेम की ज्योति आज भी उस नीरस पाषाणखण्ड में समाई हुई है। राम के दण्डकारण्य में प्रवेश करते ही महाशक्ति का प्रत्यक्ष रूप में पुनः प्राकट्ट होता है। राम न तो उसे चरण से छूकर पावन करते हैं, न करों के स्पर्श से। वे उसमें वात्सल्य भाव की अवतारणा करते हैं; उसे पिता का प्यार पाकर अपने मातृत्व का सादृश्य बोध होता है। चेतना की वापसी का यह सुखद चित्रण इस प्रकार है -

"आज वही संवेदन देकर, तुमने मुझको पुनः जगाया
तुम विराट हो पिता हमारे,
तुममें मैंने अपना खोया शैशव पाया
और, मुझे हो मुक्ति-मुक्ति-भोग्या जीवन से
अथवा वह सान्निध्य मुझे गौतम का, फिर वापस लौटा दो,
मेरे मातृ-स्वप्न को चिर-साकार बना दो।"[1]

(ii) सामान्य चरित्र-बोधक उदात्त :-

उदात्त महान आत्मा की प्रतिध्वनि है। उदात्त में आत्मा की विशालता, अनन्तता, शक्तिमत्ता एवं विराट्ता के दर्शन होते हैं। वही वास्तव में आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है।[2] प्राचीन काल में असीम सत्ता एवं प्रकृति को विराट माना गया था। उपनिषदों में ब्रह्म के विराट रूप के साक्षात्कार के लिए उसे आकाश के रूप में दिखाया गया है। हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल एवं छायावाद में इसी प्रकार के विराट-बोधक उदात्त की कल्पना की गई थी। समकालीन कविता ऐसे उदात्तों की अवहेलना तो नहीं करती, किन्तु उसके स्थान पर अपने बोलचाल और संप्रेषण में मानव के साधारण जीवन को केन्द्र मानती है। यह स्वयं समकालीन कविता की महान उपज है, जिसके प्रति वह पूरी की पूरी तरह आस्थावान है। वह अपने उदात्त तत्व में उन महान आत्माओं और बिम्बों को शामिल करती है, जिनमें पल-पल समर्पण की भावना व्याप्त है। देश के प्रति बलिदान होने वाले शहीदों को समकालीन कवियों ने 'अक्षय-बिन्दु' के नाम से संबोधित किया है। ये 'अक्षय-बिन्दु' जब देश के लिए भेंट हो जाते हैं, तो अपार और अनन्त ज्योति में लीन हो जाते हैं। डॉ० रमासिंह ने 'शहीदों के प्रति' कविता में लिखा है -

"इन ज्ञात और अज्ञात शहीदों को
मत कहना बुझा हुआ दीपक
ये तो -
ज्योति के अक्षय बिन्दु हैं

---

1. *डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित' : अभिशप्त शिला ('चिति' सर्ग से), पृ० 61*
2. Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul.
A History of Aesthetic : Bernard Bosamquet P.105

और इनका कृतित्व
ध्रुव की तरह
मार्ग-दर्शन करना।''[1]

इसी प्रकार डॉ0 देवेन्द्र आर्य की कविता का वह अंश देखिए, जहाँ सागर और बादल विराटता के प्रसूचक हैं; ये अभ्यर्थी को बहुत कुछ दे सकते हैं; किन्तु कवि के हृदय में कभी भी सागर या बादल बनने की चाह नहीं है। उसकी हर साध और इच्छा सामान्य जनों के लिए समर्पित है। ऐसे सामान्य जन जो पिपासा से आकुल और बेचैन हैं। कवि 'मानव-सेवा' को ही ईश्वर की सच्ची सेवा मानता है-

''मन सागर सा बने/ बने घन
ऐसी कोई साध नहीं है
पर मरुथल की विकट प्यास को
चार बूँद का सावन दे दूँ।''[2]

(iii) कारुण्य मूलक उदात्त :-

समकालीन कविता में न तो बौद्ध दर्शन की करुणा है, न तो दुखवाद; और न हि वह वेदना जो वैराग्य से उत्पन्न होकर ब्रह्म में लीन होने का दावा करती है। उसमें एक ऐसी सार्वदेशिक करुणा है, जो ससीम बन्धन-ग्रस्त मानव का उपचार करना चाहती है। समकालीन कवि सम्पूर्ण विश्व का हितैषी है; 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'भूमण्डलीकरण' उसका मूलमंत्र है। साधु तभी साधु होता है, जब वह दूसरे के दुःख से द्रवित होने की प्रकृति अपना लेता है। संत-हृदय को 'नवनीत' कहा गया है बल्कि उससे भी कोमल कहा गया है, क्योंकि नवनीत तो अपने ही ताप से द्रवित होता है और संत दूसरे के दुःख (ताप) को देखकर द्रवित हो जाता है। जो हृदय इतना संवेदनशील होगा, वह विश्व के सभी मानवों के हित की बात सदा सोचेगा। आनंद शंकर माधव की ये चार पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

''आँख कान रहते हुए भी
और मन मस्तिष्क के भी सही रहते हुए
मानव इन दिनों अन्धे और बहरे हैं
तभी तो उन्हें संसार का सही हाल मालूम नहीं।''[3]

संसार का सही हाल तभी मालूम हो सकता है, जब व्यक्ति संसार से प्रेम करे और उसे संकीर्ण दायरे से निकालकर खुले दिमाग से देखे। यह तभी संभव है, जब उसे संसार से प्रेम हो।

केदारनाथ सिंह की कविता 'दुख' का उदाहरण देखिए -

''इस तरह छोटे-छोटे दुखों की
एक महान चारपाई
न जाने कब से बुनी जा रही है
मेरे शहर में

---

1. सं0 दयाकृष्ण विजय : मधुमती (मासिक), पृ0 12, नवम्बर, 1992
2. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक),पृ0 97,जनवरी-मार्च, 2002
3. आनंद शंकर माधव : श्रेयसी (भूमिका), पृ0 354, मंदार विद्यापीठ अमरावती

और तुम्हारे शहर में।

जब शाम होती है

तो बुनते-बुनते थक जाते हैं, हाथ

और फिर सो जाते हैं

उसी अछोर-अनन्त चारपाई पर

जो आज तक बुनी नहीं गई।"[1]

आज की दुनियाँ में हर आदमी के पास एक ऐसी चारपाई है, जिसे बुनने में वह लगातार लगा हुआ है; किन्तु वह चारपाई इतनी अछोर और अनन्त है कि मृत्यु-पर्यन्त उसकी पूर्ति असंभव है। कामनाओं की इसी मृग-मरीचिका में फँसा हुआ व्यक्ति 'नेति-नेति' कहकर उसके पीछे दौड़ता चला जा रहा है।

ऐश्वर्य की गोद में पलते हुए, पुष्प-शैय्या पर शयन करते हुए तथा कभी भी आँसू बहाए बिना कोई महान नहीं हुआ है, किसी का ब्रह्मज्ञान जागरित नहीं हुआ है। अरस्तू ने अपने 'विरेचन सिद्धान्त' के अन्तर्गत इसी तथ्य को निहित किया है। डॉ0 देवेन्द्र आर्य ने लिखा है-

'हार मत बैठो समेटो दर्द को,

दर्द ही तो नव सृजन का द्वार है

हाथ में संकल्प लेकर चल पड़ो,

इन किनारों तक झुका मझधार है।"[2]

विश्व-प्रेम जब अनुभूति का रूप धारण कर लेता है तो कवि अपने आप को भूलकर दूसरों के कष्टों से विचलित होने लगता है। गौतम बुद्ध ने कमर झुके व्यक्ति को देखा तो उनमें लोकोत्तर संवेदना जगी, जिसमें सम्पूर्ण विश्व के प्रति सहानुभूति बिम्बित थी। इस स्थिति की अनुभूति में विश्व के दुखी चेहरे ही दिखाई देते हैं। रघुवीर सहाय की ये पंक्तियाँ देखें -

"देखो सब चेहरों को देखो

पहली बार जिन्हें देखा है

उन पर नजर गड़ाकर देखो

तुमको खबर मिलेगी उनसे

अखबारों से नहीं मिलेगी।"[3]

कवि को दिखाई देने वाले ये चेहरे न तो उसके अपने हैं और न उसके सम्बन्धियों के। ये चेहरे विश्व भर के चेहरे हैं, जिन्हें सहानुभूति और सहारे की आवश्यकता है। उनके दर्द का पता स्वयं उनकी दास्तान से चलता है, समाचार-पत्रों से नहीं। समाचार-पत्र में तो उनका जिक्र तक नहीं होता। ये सभी उदाहरण विश्व-बन्धुत्व की उदात्तता का संकेत देते हैं।

(iv) ज्योतिमूलक उदात्त :-

समकालीन कविता में ज्योतिमूलक उदात्त का प्रायः अभाव है, क्योंकि इसके आधार पर ब्रह्म ही

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 90

2. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक), पृ0 96, जनवरी-मार्च, 2002

3. रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 64

परम ज्योति है, वह ज्योतियों की ज्योति है। इस ज्योति का अन्वेषण महादेवी वर्मा ने जितना किया है, शायद हिन्दी-जगत में आज तक कोई भी कवि या कवयित्री नहीं कर सकी। आज का समकालीन कवि उस ज्योति का अनुधावक नहीं है, उस ज्योति के पीछे नहीं दौड़ता, क्योंकि बेकारी, मँहगाई और आतंक स्वयं उसका पीछा कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में वह ऊपर की ओर न देखकर 'कर बहियाँ बल आपनो' पर ज्यादा विश्वास रखता है। वह अगोचर और अलख सत्ता के पीछे अपनी मानसिक शक्ति क्षीण नहीं करना चाहता। इतना अवश्य है कि जब आपत्तियों और असंगतियों का अंबार उसे कुरेदने लगता है तो वह सच्चा भारतीय होने के नाते धार्मिक प्रतीकों को अपने पास सुरक्षित रखता है और उन विलक्षण प्रतीकों द्वारा विरोधी राष्ट्रों को अपने शौर्य की याद दिलाता है -

"धैर्य की संयम की
सहने की भी सीमाएं होती हैं
हमारा आक्रोश प्रति-आतंक को भी
पैदा कर सकता है।
शिव सदा शिव नहीं रहेंगे
रूद्र का तीसरा नेत्र भी खुल सकता है।"[1]

इसी प्रकार जब वह जन-जीवन से ऊब जाता है तो प्रकृति-प्रतीकों के माध्यम से स्वयं में एक आशा-ज्योति पैदा करना चाहता है, ताकि उसकी जिन्दगी त्रिकोण और तिर्यक का शिकार न होने पाए। इसीलिए तो वह सृजन का द्वार भी खटखटाने को तैयार है -

'तुम सृजन के द्वार से तो पूछ लो
जिन्दगी मरूथल नहीं, जल आस है

बाँधने को बाँध लो संत्रास मन!
पर तपन की आस्था बदलो तो है,
मोतियों सा टूटकर बिखरे तो क्या
इंद्रधनुषी आभ-सा दमको तो है।"[2]

(v) भव्य आवेग मूलक उदात्त :-

लोंजाइनस ने भव्य आवेगों को उदात्त के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार हर्ष, उल्लास, आह्लाद, विस्मय और दीप्ति ऐसे भव्य आवेग हैं; जिनकी अभिव्यक्ति में उदात्त की अवस्थिति रहती है।[3] समकालीन कविता में इन भव्य आवेगों की अभिव्यक्ति हुई है।

पहले की कविताओं में इष्ट-मिलन या इष्ट की प्राप्ति ही हर्ष का कारण हुआ करती थी। प्रिय

---

1. आनंद मिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), श्रीकान्त शास्त्री की कविता, पृ0 58 मई-2003

2. सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक), देवेन्द्र आर्य की कविता, पृ0 96, जनवरी-मार्च, 2002

3. डॉ0 नगेन्द्र : काव्य में उदात्त तत्व, पृ0 13

के आगमन की सूचना पाकर अपने इष्ट से मिलने की संभावना मात्र से हृदय हर्ष से प्रभावित हो उठता था। समकालीन कविता में हर्ष, उल्लास और आह्लाद जैसे आवेगों की कमी नहीं है, किन्तु यह आवेग अलौकिक इष्ट से हटकर लौकिक इष्ट से जुड़ा हुआ है। समकालीन कविता में लिखे जाने वाले खण्ड-काव्य अथवा रूपक प्रधान काव्यों में इस प्रकार के आवेग बहुलता के साथ मिलते हैं। जब शबरी को यह आभास हो जाता है कि भगवान राम स्वयं उसकी कुटिया में पधारने वाले हैं, तो उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है; अखिल-जगत् में उसे राम ही राम दिखाई देने लगते हैं -

"नयनों में बसे राम
साँसों में रमे राम
जागृति-शयन में राम
रोम-रोम अंकित राम
अंग-अंग चित्रित राम।
थक जाती, बैठती कहीं तो
बस लिखती राम
देखती कहीं तो, देखती ही राम।"[1]

जैसा कि कहा जा चुका है कि समकालीन कविता का सम्पूर्ण फलक यथार्थ की अभिव्यंजना है। उसका हर्ष और उल्लास सम्बन्धी आवेग पारलौकिक न होकर लौकिक है। लौकिक जगत की बहुत सारी दैनिक उपयोग की वस्तुएँ उनकी कविताओं में प्रयुक्त होकर 'उपयोगितावाद' को सिद्ध करने में काफी सहायक हुई हैं। केदारनाथ सिंह ने अपने काव्य-संग्रह 'अकाल में सारस' में लिखा है कि एक बच्चा रो रहा था, क्योंकि उसका मिट्टी का बना हुआ खिलौना 'बाघ' जमीन में गिरकर टूट गया था। कवि ने उसे चुप कराने की बहुत कोशिश की, किन्तु उसकी कोशिश व्यर्थ गई। इसी बीच सड़क पर जाते हुए कवि त्रिलोचन शास्त्री दिखाई पड़े। कवि ने त्रिलोचन से बच्चे की ओर संकेत करते हुए कहा कि बच्चा रो रहा है, कुछ तो करना ही होगा। त्रिलोचन शास्त्री के द्वारा यह कहे जाने पर कि बच्चे के लिए दूसरा बाघ मँगवा दिया जाएगा, कवि ने कहा कि बच्चा वही बाघ माँग रहा है जो टूटने से पहले था। त्रिलोचन शास्त्री ने हामी भरते हुए कहा कि यह समस्या भी हल हो जाएगी। वे दोनों कुम्हार के घर की तरफ चल पड़े। इष्ट वस्तु की प्राप्ति हेतु उन दोनों की यह यात्रा कितनी हर्ष और आह्लाद से परिपूर्ण है, इसका परिमाण निम्न कविता से लगाया जा सकता है -

"तब से कितना समय बीता
हम अब भी चल रहे हैं
आगे-आगे कवि त्रिलोचन
पीछे-पीछे मैं
एक ऐसे बाघ की तलाश में
जो एक सुबह धरती पर

---

1. धनंजय अवस्थी : शबरी, पृ० 89

गिरकर टूट जाने से पहले
वह था।"[1]

आज मशीनीकरण के इस युग में आदमी के जीवन में यांत्रिकता, अशांति और पीड़ा ने घर कर लिया है। एक तरह से अनवकाश ने उसे कोल्हू का बैल बना दिया है, जिससे वह सांस्कृतिक उपादानों की ओर देखता तक नहीं।[2] ऐसी परिस्थिति में एक किसान बाप ने अपने बेटे को लोक-संस्कृति से जुड़ा हुआ यह आवेग-सूत्र प्रदान किया है –

"रात को रोटी जब भी तोड़ना
तो पहले सिर झुकाकर
गेहूँ के पौधे को याद कर लेना।"[3]

तथा –

"धरती के अन्दर का पानी
हमको बाहर लाने दो
अपनी धरती अपना पानी
अपनी रोटी खाने दो।"[4]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता उदात्त की अवहेलना नहीं करती, किन्तु अधिक-से-अधिक साधारण जीवन को वह अपने केन्द्र में रखती है। वस्तुतः वृत्त के स्तर पर समकालीन कविता उदात्त और साधारण में अन्तर नहीं करती, अधिक से अधिकतर और समग्र से समग्रतर जीवन अर्थमय हो सके, यह उसकी महत्वाकांक्षा है। जीवन में यदि आह्लाद है तो ऊब भी है, किन्तु दोनों ही उसके लिए मूल्यवान हैं। ऊब भी अर्थवान हो सके, यह उसके लिए एक रचनात्मक चुनौती है, जिसे उसने स्वयं वरण किया है। समकालीन कवियों की यह भी घोषणा है कि ऊब और दुष्प्रवृत्ति में खर्च होने से बची ऊर्जा-क्षमता को उपयोगी कार्यों में ही लगाना चाहिए। ऐसा करने से निचले स्तर की प्रवृत्ति और निचले स्तर के कर्म दोनों का एक साथ उदात्तीकरण हो जाता है। अपना सुधार संसार की सबसे बड़ी सेवा है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु............" धर्म का यह श्रेष्ठ शिक्षण भी तो इसी पथ की ओर इंगित कर रहा है।

4. कल्पनागत सौन्दर्य :-

कल्पना, सौन्दर्य का आवश्यक उपादान है; कल्पना से ही सौन्दर्य की निर्मिति होती है; वही सौन्दर्य का बोध कराती है; उसी से सौन्दर्यानुभूति की प्राप्ति होती है। अतः प्रत्येक कवि अपनी भावानुभूति के लिए सौन्दर्य-सृष्टि- विधायिनी कल्पना का अवलम्बन लेता है।

समकालीन कविता ने इसी कल्पना के सहारे अनेक बिम्ब और प्रतीक खड़े किए हैं। समकालीन कविता में कल्पनागत सौन्दर्य की सर्जना के लिए जिस द्रव्य-सामग्री का उपयोग किया गया है, वह प्रायः उनके अवचेतन और अचेतन स्तर पर संस्कारों, बिम्बों एवं प्रत्ययों के रूप में पहले से ही विद्यमान थी।'

1. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 32*
2. *डॉ0 नर्मदा प्रसाद गुप्त : बुन्देलखण्ड की लोक-संस्कृति का इतिहास, पृ0 460*
3. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 18*
4. *रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 6*

काव्य- सृजन के लिए इस द्रव्य को चेतन स्तर पर लाना आवश्यक होता है। यह कार्य स्मृति और कल्पना द्वारा ही सम्पादित होता है, किन्तु साहित्यिक रचना में स्मृति की अपेक्षा कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री ही अधिक उपयुक्त होती है।[1] समकालीन कविता की प्रत्येक रचना अपने परिवेश के प्रति पूर्णतया सतर्क है; वह अपने युगीन परिवेश की विषमताओं एवं विसंगतियों पर सीधा प्रहार करती है। द्रव्य को अनुभूतिगम्य बनाना कल्पना का प्रमुख कार्य है। समकालीन कविता में अनुभूति की जटिलता और तनाव का प्रायः आरोप लगाया जाता है, किन्तु कविताओं में जहाँ संवेदना का बाँध अपने आप फूटकर खील-खील हो गया है, वहाँ यह तनाव अप्रत्याशित रूप से कमजोर पड़ गया है। धूमिल, रघुवीर सहाय, कमलेश, कुमारेन्द्र पारसनाथ, त्रिलोचन आदि अनेक कवि ऐसे हैं, जिनकी कविताएँ जब किसी निर्णायात्मक भूमिका पर पहुँचती है तो आन्तरिक तनाव के बंधन अपने-आप शिथिल हो जाते हैं। कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की एक कविता है-"भंगी कालोनी"। इसमें अनुभूति की जटिलता और तनाव से हटकर द्रव्य को अनुभूतिगम्य बनाया गया है। जब एक हरिजन लड़की अनैतिकता का शिकार हो जाती है तो वह अपने समाज के आभिजात्य वर्ग को दोषी ठहराती है और दो - टूक शब्दों में बिना किसी खौफ के बयान करती है-

"मेरी छत और दीवारों को भी
अपनी- सी मजबूत करो
किसी के भी सामने फैलनें की
मेरे मुँह और हाथों की आदत को बदलो
अपने ढंग से बोलने
और अपने ढंग से उठने का उन्हे मौका दो।"[2]

कविता साम्यवादी बिम्बों से ओत- प्रोत है। उक्त कविता मे अपने ढंग से बोलने और अपने ढंग से उठने की जो बात कही गई है, वह अत्यन्त संक्षिप्त, सान्द्र और प्रभावपूर्ण है।

कल्पनागत सौन्दर्य की नींव पर निम्नलिखित दो प्रकार के सौन्दर्य खड़े किये जाते हैं-

(क) बिम्बगत सौन्दर्य

(ख) प्रतीकगत सौन्दर्य

(क) बिम्बगत सौन्दर्य :-

समकालीन कविता की कल्पना दृष्टि यथार्थ के सन्निकट होने के कारण एन्द्रियता से कम, किन्तु मानसिकता से ज्यादा जुड़ी हुई है।इस आधार पर यदि कल्पनागत सौन्दर्य में एन्द्रिय बिम्बों-श्रव्य,दृश्य,स्पृश्य, घ्रातव्य आस्वाद- को छोड़ दिया जाय तो मानसिक बिम्ब के अन्तर्गत निम्नलिखित बिम्ब आते हैं-

(i) वस्तु बिम्ब

(ii) विवृत बिम्ब

(iii) भाव बिम्ब

(iv) सान्द्र बिम्ब

(v) अलंकृत बिम्ब

---

1. *डॉ0 यतीन्द्र तिवारी : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 145*
2. *डॉ0 युद्धवीर धवन : समकालीन लम्बी कविता की पहचान, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की कविता : भंगी कालोनी, पृ0 24 पर उद्धृत*

(i) वस्तु बिम्ब :-

जब किसी वस्तु का चित्रण यथावत् और अनस्थिर रूप में किया जाता है तो वह चित्रण स्थिर वस्तु-बिम्ब की कोटि में तथा जब वही चित्रण संवेग के कारण दोलायमान होने लगता है तो वह गत्यात्मक वस्तु-बिम्ब की कोटि में आ जाता है।

स्थिर वस्तु-बिम्ब की चाल-ढाल शांत और मौन होती है, किन्तु उसका काल्पनिक चित्र रेखाचित्र की भाँति मस्तिष्क में बनता चलता है। यह निर्मित चित्र भी मस्तिष्क में बिना किसी आन्दोलन के स्थायित्व ग्रहण कर लेता है-

स्थिर बिम्ब

जो लड़की वह खड़ी है कमजोर
साँस लेती भारी बस्ता लिए
काले पाँवों ठिठक कर
क्या तुम उसके सिर पर लदी
उसके माँ बाप की तरसती
जिन्दगी देख सकते हो
एक क्षण में। [1]

- रघुवीर सहाय ('आमार सोनार दिल्ली' कविता से)

इस कविता में त्रासदी का बोझ उठाए एक लड़की का बिम्ब अनुरेखित किया गया है। वह विद्यालय का नहीं, बल्कि अभावों का बस्ता लिए हुए है; अवयस्क होने के कारण मानवाधिकार से वंचित भी है। इस अभावग्रस्तता के पीछे उसके माँ-बाप का पुश्तैनी इतिहास छिपा हुआ है। इस बिम्ब में कहीं भी गत्यात्मकता नहीं है; स्थिर लड़की स्थिर रूप में ही दिखाई देती है। जिस बोझ से वह डूब गई है, वह इतना भयानक है कि उसके चलने अथवा गत्यात्मक होने का सवाल ही नहीं उठता।

अब एक गत्यात्मक बिम्ब का उदाहरण देखिए, जहाँ पर एक किसान बाप ने अपने बेटे को कुछ 'सूत्र' प्रदान किए हैं। पहला सूत्र 'छः' पंक्तियों का, दूसरा पाँच तथा तीसरा 'चार' पंक्तियों का है। प्रत्येक सूत्र में गत्यात्मकता है। सूत्र सिखाने वाला तो गत्यात्मक है ही, सीखने वाले का मस्तिष्क भी उसी रूप में गतिशील रहता है -

गत्यात्मक बिम्ब

मेरे बेटे
कुएँ में मत झाँकना
जाना
पर उस ओर कभी मत जाना
जिधर उड़े जा रहे हों
काले-काले कौए

6 पंक्तियों की गतिशीलता

1. *रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 62*
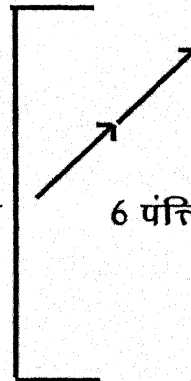
हरा पता
कभी मत तोड़ना
और अगर तोड़ना तो ऐसे
कि पेड़ को जरा भी
न हो पीड़ा

5 पंक्तियों की गतिशीलता

अगर कई-कई रातों तक
कभी सुनाई न पड़े स्यारों की आवाज
तो जान लेना
बुरे दिन आने वाले हैं।"[1]

4 पंक्तियों की गतिशीलता

(ii) विवृत बिम्ब :-

जब एक छोटे से तथ्य या भाव को कल्पना द्वारा बड़े पैमाने पर चित्रित किया जाता है अथवा किसी द्रव्य का विस्तार किया जाता है, तो वहीं वस्तु-बिम्ब विवृत बिम्ब बन जाता है। 'पद्मावत' महाकाव्य में पं. राघवचेतन ने पद्मावती की मात्र एक झलक देखी थी और वह भी दर्पण में; किन्तु दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन के सामने उसने उसी पद्मावती का सौन्दर्य एक व्यापक कैनवस में प्रस्तुत किया है। डॉ0 यतीन्द्र तिवारी के अनुसार "कल्पना-शक्ति द्रव्य को न केवल प्रस्तुत करती है, अपितु वह उसका विश्लेषण करती हुई उसे विस्तृत रूप भी देती है। जैसे किसी भी युवक या युवती का नख-शिख-वर्णन। भले ही उसके बारे में विस्तृत ज्ञान न हो।"[2] एक उदाहरण लें -

"मैंने गंगा को देखा
एक लम्बे सफर के बाद
जब मेरी आँखे
कुछ भी देखने को तरस रही थी
जब मेरे पास कोई काम नहीं था
मैंने गंगा को देखा
प्रचण्ड लू के थपेड़ों के बाद
जब एक शाम
मुझे साहस और जिन्दगी की
बेहद जरूरत थी
मैंने गंगा को देखा एक रोहू मछली की
डब-डब आँख में
जहाँ जीने की अपार तरलता थी

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 18-19
2. डॉ0 यतीन्द्र तिवारी : भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ0 145

जहाँ एक बूढ़ा मल्लाह रेती पर खड़ा था

घर जाने को तैयार

मैंने गंगा को देखा।"[1]

यहाँ पर कवि की दृष्टि बार-बार एक ही तथ्य 'गंगा' पर टिक जाती है, अन्य कोई वर्णन बीच में नहीं आने पाया, अतः विवृत बिम्ब का एक अच्छा उदाहरण है।

विवृत बिम्बों की संयोजना का क्षेत्र यद्यपि महाकाव्य है, किन्तु समकालीन कविता की मुक्तक रचनाओं में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। विवृत बिम्बों का सृजन कभी-कभी छोटे कैनवस पर भी किया जाता है, लेकिन इसके लिए कवि में काव्य-कौशल और भाषा की समाहार-शक्ति का होना आवश्यक है। 21वीं शताब्दी के प्रथम दशक के रचनाकार की ये समकालीन पंक्तियाँ देखिए-

"जहाँ नहीं पहुँचेगी

कोई खबर

जहाँ इनका कोई

हमदर्द

नहीं होगा

जहाँ सांसद, विधायक

मंत्री नहीं पहुँचेगा

जहाँ उनका आँसू

पोंछने वाला

कोई नहीं होगा

वहाँ हमारी कविता

आग की तरह

पहुँचेगी और

उनके सुख-दुख में

साझीदार होगी।"[2]

यहाँ कविता का प्रभाव कितनी विस्तृत परिधि में व्याप्त है। जहाँ गरीबों का दुख-दर्द सुनने के लिए समाचार पत्र, उनसे जुड़े हुए पत्रकार, आम आदमी, सांसद, विधायक और मंत्री नहीं जा सकते; वहाँ निरापद रूप में कविता पहुँचती है। 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' के आधार पर कविता का मीडिया कितना प्रभावी है। यहाँ सारा वर्णन केवल एक छोटे-से भाव (कविता-प्रभाव) को अभिव्यक्त करने के लिए ही इतने विस्तार के साथ हुआ है।

(iii) भाव-बिम्ब :-

भाव-बिम्ब की सबसे बड़ी विशेषता उसकी भावात्मकता और संवेदनशीलता है, जिसके कारण दृश्य

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ० 36

2. प्रधान सं० विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), डॉ० उत्तिमा केशरी की कविता 'विरोध', पृ० 44, अक्टूबर 2003

पक्ष प्रायः दब जाता है और कविता में किसी प्रकार का स्पष्ट चित्र नहीं बन पाता; संयोग से यदि चित्र बनता भी है तो वह अधिकांशतः अस्पष्ट और धुँधला रहता है। ऐसी अवस्था में भाव बिम्बों की अनायास सृष्टि हो जाती है। काव्य-शिल्पविधि की दृष्टि से भाव-बिम्ब उत्कृष्ट बिम्बों की श्रेणी में नहीं आता।

यथार्थ के प्रति आग्रही होने के कारण समकालीन कवि वस्तुबिम्बों के निर्माण में सबसे आगे है, किन्तु भाव-बिम्बों की रचनाधर्मिता में किंचित् पीछे है। इसके बावजूद भी परिवेशगत परिस्थितियों के कारण जहाँ-जहाँ समकालीन कविता संवेदनशील हुई है, वहाँ-वहाँ वह दृश्य चित्रों या वस्तु-बिम्बों का निर्माण नहीं कर पाई और इसके स्थान पर भाव-बिम्बों का निर्माण करने में काफी मददगार सिद्ध हुई है। नीचे का उदाहरण कुछ इसीप्रकार है; जहाँ आज के बदलते हुए परिवेश में कर्तव्य-परायणता का लोप हो गया है, किसी को अपनी कर्तव्य-निष्ठा के प्रति आस्था नहीं है-

"खैराती अस्पताल
बूढ़ा बीमार है
पास में छोटे-छोटे
पुत्र चार-पाँच हैं
पुत्र जानते नहीं
पिता मर रहा है।"[1]

यह सभी जानते हैं कि आज कल खैराती (निःशुल्क सुविधा वाले) अस्पतालों में बीमार व्यक्तियों की जाँच-पड़ताल के प्रति घोर कोताही की जा रही है। अस्पतालों की क्षत-विक्षत अवस्था, चिकित्सकों की अन्यमनस्कता, बीमार वृद्ध की दयनीय दशा तथा छोटे-छोटे बच्चों की अबोधता सब मिलकर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं; जो करूणा और उदासी से भरा लगता है तथा मूर्त रूप में कोई चित्र नहीं बनता।

कभी-कभी चित्र का एक पक्ष स्पष्ट तथा दूसरे पक्ष के अस्पष्ट होने अथवा दोनों तथ्यों का सम्यक् निर्वाह न हो पा सकने के कारण भी बिम्ब भावात्मक हो जाता है। नीचे के उदाहरण में प्रथम दो पंक्तियों में जो मूर्तिमता है, अगली पंक्तियों में नहीं। यथा -

"लाश टुकुर-टुकुर देख रही थी
जीवन का
एक अद्भुत उत्सव
मनाया जा रहा था
रेत पर।"[2]

इसी प्रकार एक उदाहरण और लें, जहाँ पर प्रथम चार पंक्तियाँ तो चित्र की सृष्टि करती हैं, किन्तु अन्तिम दो पंक्तियाँ तीव्रानुभूति और अत्यधिक संवेदनशीलता का उदाहरण ही सामने रखती हैं; जिसके कारण कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक बन पड़ा है -

---

1. रघुवीर सहाय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ0 52
2. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 41

"एक मार खाया हुआ आदमी चिचियाता है
मेरा बटुआ छिन गया
उसमें मेरी लड़की का फोटो भी था
वे उसे मार डालेंगे।
देखिए मुझे कितनी चोटें आई हैं
मेरा दर्द - दर्ज करो।"[1]

(iv) सान्द्र बिम्ब :-

यदि भाव-बिम्ब में अनुभूति पक्ष प्रबल होता है तो सान्द्र बिम्ब में अभिव्यक्ति पक्ष। अभिव्यक्ति के गठन और शब्द-शिल्प के कसाव के कारण सान्द्र बिम्ब की चित्रात्मकता एकदम स्पष्ट हो जाती है। इसमें भाषा की संक्षिप्तता और उसकी समाहार-शक्ति नितान्त आवश्यक होती है। समकालीन कविता में प्रयुक्त इस वर्ग का एक उदाहरण इस प्रकार है :-

"और कवि जी सुनो
इससे पहले कि भूख का हाँका पड़े
और अँधेरा तुम्हें चीथ डाले
भर लो इस पूरे ब्रह्माण्ड को
एक छोटी-सी साँस की
डिबिया में भर लो।"[2]

उपर्युक्त कविता में पूरे ब्रह्माण्ड को साँस रूपी छोटी-सी डिबिया में भर लेना सम्पूर्ण विश्व को एक गाँव में परिवर्तित कर देने के बराबर है। 'भूण्डलीकरण' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शुरूआत ऐसे ही संश्लिष्ट चित्रों के माध्यम से होती है।

सान्द्र बिम्बों की विशेषता बहुत कुछ अंशो में उनके चित्र-पक्ष पर ही निर्भर होती है। ऐसा हम पहले ही स्पष्ट कर आए हैं। इकहरी अनुभूति से युक्त इन बिम्बों में संवेदना-तत्त्व उतना प्रबल नहीं होता, जितना कि अभिव्यंजना-कौशल। इसीलिए सान्द्र बिम्बों की स्थिति काव्य में एक 'पेंण्टिग' के रूप में स्वीकार की गई है -

"भूख फुटपाथ पर नंगी / पड़ी है अखबार ओढ़े
शहर की सड़कों पर तो / तुम दौड़ रहे हो
तुम्हारे भवनों के आस-पास / खिलने लगी हरियाली
फूल पत्ती / वनस्पति /
पठार पर तपते हुए/ नंगे पाँव देख रहा है
उदास आम आदमी।"[3]

---

1. *लीलाधर जूगड़ी : बची हुई पृथ्वी (बलदेव खटिक), पृ0 114*
2. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 17*
3. *सं0 डॉ0 रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती, (त्रैमासिक), शिव डोयले की कविता, पृ0 68, जनवरी-मार्च, 2001*

चित्र में एक भी शब्द ऐसा नहीं, जिसे हटाया जा सके। इतना घनत्वपूर्ण तथा स्पष्ट होने के साथ ही इस चित्र की संवेदनीयता अभिव्यक्त पक्ष के समक्ष दबी नहीं और यह कहना कठिन हो जाता है कि चित्र का अनुभूति पक्ष ज्यादा समर्थ है अथवा अभिव्यक्त पक्ष। इसी प्रकार –

"तुम्हारे जिगरी दोस्त की कमर
वक्त से पहले ही झुक गई है
उसके लिए बढ़ई की आरी और
बसूले से लड़ना फिजूल है
क्योंकि गलत होने की जड़, न घड़ीसाज की दुकान में है
न बढ़ई के बसूले में।"[1]

समकालीन कविता के सन्दर्भ में सच्चाई तो यह है कि सान्द्र बिम्बों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। अधिकांश चित्रों में शिल्प का आग्रह इतना बढ़ गया है कि अनुभूति और विचार-शैली लम्बी होने के कारण उन्हें वस्तु बिम्बों की संज्ञा देना अधिक उचित प्रतीत होता है।

(v) अलंकृत बिम्ब :-

काव्य-शिल्प-विधि के अनुसार कल्पना बिम्बों का यह वर्ग अलंकारिकता से युक्त होता है। इस युग में काव्य के समस्त उपमानों में नवीनता के आग्रह ने कवियों को नवीन उपमानों की खोज और उनके उपयुक्त प्रयोग के लिए प्रेरित किया है। श्रीकान्त शास्त्री द्वारा लिखित नवीन उपमानों से युक्त अलंकार-प्रधान-बिम्ब का एक उत्कृष्ट उदाहरण का देखिए –

"चाँदनी : आकार, लेता हुआ जैसे शंख
रेत : जैसे नदी के दो टूटे हुए पंख।"[2]

चाँदनी की तुलना आकार लेते हुए शंख तथा रेत की तुलना नदी के टूटे हुए दो पंखों से देना एक दूरान्वयी कल्पना है।

उपमानों की नवीनता से युक्त अलंकार-प्रधान-बिम्ब का एक उदाहरण नरेन्द्र मोहन की रचना में देखिए, जहाँ साम्प्रदायिकता और खूनी प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में राजनीति के उन स्वार्थी मुखौटों को बेनकाब किया गया है जो लाश और वोट के खेल खेलती है। इस कल्पनागत बिम्ब में राजनीति के क्षत-विक्षत और विषाक्त चेहरों को उजागर किया गया है –

"राजे सींह मुकद्दम कुत्ते
जाइ जगाइन बैठे सुत्ते
चाकर नहंदा पाइन्हि घाउ
रतु पितु कुतिहों चरि जाहु
जिये जीआ हौसी सा
नकी बढ़ी लाइतवार।"[3]

1. *धूमिल : संसद से सड़क तक, पृ0 84*
2. *डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, पृ0 66 से उद्धृत*
3. *डॉ0 युद्धवीर धवन : समकालीन लम्बी कविता की पहचान, नरेन्द्र मोहन की कविता (एक अदद सपने के लिए), पृ0 29 पर उद्धृत*

अर्थात् इस समय राजागण शेर के समान हिंसक है और मुकद्दम (चौधरी) कुत्ते के समान लालची हो गए हैं। वे सोती हुई प्रजा को जगाकर उसका माँस भक्षण कर रहे हैं। राजाओं के नौकर नाखूनों से घाव करते हैं और लोगों का खून कुत्तों (मुकद्दमों) द्वारा चाट जाते हैं।

अन्त में कल्पनागत सौन्दर्य के अन्तर्गत अलंकृत बिम्ब का एक ताजा उदाहरण बलदेव वंशी की कविता में देखिए, जहाँ मूर्त-अमूर्त चित्रों के माध्यम से प्रदूषित समाज का एक रूपक-प्रधान-बिम्ब खींचा गया है। चूँकि अभिव्यक्ति रूपात्मक ढंग पर हुई है, अतः निम्न चित्र को अलंकृत बिम्ब की कोटि में रखना उचित प्रतीत होता है।

"नफरत भर आग
हुजूम भर धुआँ
श्मशान भर लाशें
गाँव भर रोदन
बल्वा भर बारूद
हैवानियत भर छुरेबाजी
फैले हैं सब भीतरी पर्यावरण में
दुर्गन्ध और धुआँ ....
पर बँधे हुए है लोग –
आग
नफरत
धुआँ
लाशें दोनों ओर।"[1]

(ख) प्रतीकगत सौन्दर्य :-

अर्वाचीन काव्य में प्रतीकों का जो नया वर्गीकरण सृजित होकर सामने आया है, उन सबका प्रयोग समकालीन कविता में बड़ी मनोहरता के साथ हुआ है। ये आधुनिक प्रतीक तीन वर्गों में बँटे हुए है – सांस्कृतिक, सैद्धान्तिक और प्रकृत। सांस्कृतिक वर्ग के अन्तर्गत ऐतिहासिक, पौराणिक एवं धार्मिक प्रतीक; सैद्धान्तिक वर्ग के अन्तर्गत वैज्ञानिक, राजनीतिक एवं दार्शनिक तथा प्रकृत वर्ग के अन्तर्गत जड़ एवं चेतन प्रतीक आते हैं। समकालीन कविता के समस्त प्रतीकों का आनुपातिक पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस कविता में राजनीतिक प्रतीकों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। समकालीन कविता राजनीति की नाना विसंगतियों का सीधा मुकाबला करती है। दूसरा स्थान पौराणिक और धार्मिक प्रतीकों का है, जिसमें व्यंग्य-विद्रूपों के माध्यम से तद्युगीन परिवेश के प्रति गहरा आक्रोश व्यक्त किया गया है। तीसरे और चौथे क्रम में वैज्ञानिक एवं प्राकृतिक प्रतीक आते हैं। नवें दशक और उसके बाद के कवि इन प्रतीकों के प्रति ज्यादा सचेष्ट दिखाई देते हैं। अन्त में दार्शनिक प्रतीकों का प्रयोग सबसे कम अथवा 'न' के बराबर हुआ है।

---

1. प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), बलदेव वंशी की कविता (किसी तरह देश) ,पृ0 45 अक्टूबर 2003

आज के इस धावक-युग में समकालीन कविता में जीवन-मूल्यों को लेकर अनेक स्थानों पर गहरी और मार्मिक संवेदनाएँ व्यक्त की गई हैं; उन संवेदनाओं को 'दुखवाद' से जोड़कर कभी बौद्ध दर्शन की कल्पना नहीं कर लेनी चाहिए, क्योंकि समकालीन कविता परिव्राजक होने का नहीं, समाज में रहकर समाज-सेवा करने का संदेश देती है। समकालीन कवि अपने अस्तित्व-बोध से भली-भाँति परिचित है, अतः वह क्षणजीवी अथवा दीर्घजीवी होने का स्वाँग नहीं रचता। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कविता में दर्शन के नाम पर जिस 'अस्तित्ववाद' का ढिंढोरा पीटा गया था, समकालीन कविता में आकर वह मन्द पड़ गया।

प्रतीकगत सौन्दर्य की विस्तृत चर्चा पिछले अध्याय में 'अलंकरण' नामक शीर्षक के अन्तर्गत की जा चुकी है, फिर भी विषय को अप्रासंगिक न मानकर यहाँ पर कल्पना के कुछ नए प्रतीक प्रस्तुत किए जाएंगे।

बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है, अतः पुराने प्रतीकों का मुलम्मा छूट चुका है, और नए प्रतीकों में नए ढंग का मुलम्मा चढ़ चुका है। समकालीन कविता नए प्रतीकों से शिक्षा लेने की सीख देती है, पुराने प्रतीकों से नहीं। समकालीन कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए, जहाँ एक नए पीढ़ी के बाप ने अपने नई पीढ़ी के बेटे को इस प्रकार भौगोलिक प्रेरणा दी है –

"कभी अँधेरे में
अगर भूल जाना रास्ता
तो ध्रुवतारा पर नहीं
सिर्फ दूर से आने वाली
कुत्तों के भूँकने की आवाज पर
भरोसा करना।"[1]

किसी समय 'ध्रुवतारा' दिग्भ्रमित व्यक्ति के लिए दिशा का संकेतक था, किन्तु आज के बदलते परिवेश में निशा-काल में यदि व्यक्ति दिग्भ्रमित हो जाए तो उसे ध्रुवतारे का संबल छोड़कर दूर से भौंकने वाले कुत्तों की ध्वनि का अनुश्रवण करते हुए उस बस्ती की ओर चले जाना चाहिए, जहाँ गाँव होते हैं; कुत्ते भी प्रायः वहीं पाए जाते हैं। जनसंख्या का घनत्व इतना ज्यादा है कि मील-दो-मील चलने पर कोई-न-कोई गाँव मिल ही जाता है। 'ध्रुवतारा' यहाँ वैज्ञानिक प्रतीक है और 'कुत्ता' सामाजिक।

आज हर व्यक्ति पर प्रजातंत्र की मादकता छाई हुई है, इसी मादकता की आड़ में आज भी साम्प्रदायिक दंगे होते हैं। धर्म और मज़हब के नाम पर जिसका वश चलता है, देश को मूर्ख बनाने का प्रयास करता है। बड़े-बड़े राष्ट्रनेता भी पण्डों और ब्राह्मणों के जाल में फँसे हुए हैं। चुनाव के आस-पास साम्प्रदायिक दंगे खड़े कर दिए जाते हैं। आज न्यायालय के निर्णय और संविधान के विधान का अपमान हो रहा है –

"जो भी आता है यहाँ – तांत्रिक, सरभंगी, अघोरपंथी
गोरखनाथी, बीटनिक-हिप्पी-कोई भी पाजी
आदर्श बन जाता है भाँग खा-खाकर।"[2]

---

1. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 19
2. ओम प्रकाश निर्मल : कुछ हो रहा है (कल्पना 230, जुलाई 1971), पृ0 3

यहाँ तांत्रिक, सरभंगी, अघोरपंथी, गोरखनाथी तथा अत्याधुनिक बीटनिक पीढ़ी ये सभी धार्मिक प्रतीक हैं। ये समाज में भ्रष्टाचार, व्यभिचार और अनैतिकता को बड़े पैमाने पर जन्म देते हैं।

प्रतीकों की एक बानगी पत्र- पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली समकालीन कविताओं से लीजिए। बलदेव वंशी की एक कविता' हत्यारे समय में कबीर की याद' अभी उत्तर प्रदेश मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई है। इस कविता में कबीर की एक पंक्ति *'इस घट भीतर सात समुंदर'* को लेकर धार्मिक प्रतीक की अभिव्यंजना की गई है-

" तुमने यह भी कहा था-
' इस घट भीतर सात समुंदर.....'
फिर कैसे है आसान
किसी की कातिल करतूत को
चित्त पर से उतार फेंकना?"[1]

'सात समुंदर' बाह्यगत आधार पर सात महासागरों तथा आभ्यंतरिक आधार पर मानव-शरीर में स्थित सात चक्रों के प्रतीक थे। नदियाँ और सागर वैसे भी सांस्कृतिक चेतना के वाहक होतें हैं। यहाँ पर बलदेव वंशी ने सात समुंदर को विश्व व्यापी कल्पना का प्रतीक माना है। किसी समय कबीर ने इसी हृदय के भीतर सात समुद्रों का वास मानकर समरसता स्थापित करने की बात कही थी, आज उसी पावन हृदय में पीड़ा, भय और' आतंक की लहर दौड़ रही है, जिसे निकाल फेंकना अत्यन्त दुर्घट बात है। आतंक को उखाड़ फेंकने के लिए विश्व-व्यापी अभियान चल रहे है, किन्तु इसके मूल का अभी तक पता नहीं लगाया जा सका है।

राजस्थान के अत्यन्त चर्चित कवि नंद चतुर्वेदी का अभी हाल में प्रकाशित 68 कविताओं का रूपक प्रधान काव्य-संग्रह *'उत्सव का निर्मम समय'* आधुनिक समाज का एक दस्तावेज है। उनकी कविता उत्पीड़ित, दरकते समाज के यथार्थ का अन्वेषण और शक्तिहीन सामंतो के ऐश्वर्य के विरूद्ध एक नैतिक हस्तक्षेप है। उन्होंने 'आह ह्वेनसाँग' कविता के बहाने इतिहास के अल्पपाठ और उसके प्रति नासमझी को भी रेखांकित किया है। ऐतिहासिक प्रतीक का यह मनोरम उदाहरण इस प्रकार है-

" इतिहास की स्याही रक्त नहीं है
कि दुख है, ह्वेनसाँग
जब बन्दूकें उठती हैं
लोग बुद्ध को भूल जाते हैं।"[2]

---

1. प्रधान सं0 विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), पृ0 45 अक्टूबर 2003
2. नन्द चतुर्वेदी : उत्सव का निर्मम समय, पृ0 52
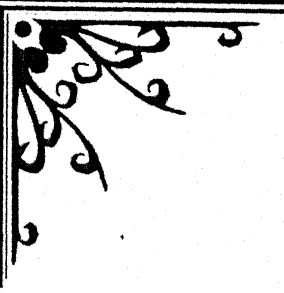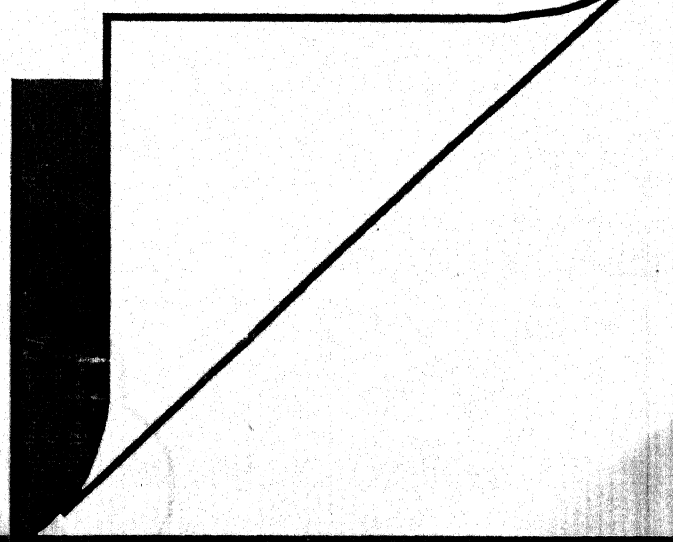
अष्टम अध्याय

अष्टम अध्याय

समकालीन कविता में चेतनागत सौन्दर्य

1. ऐतिहासिक चेतना

2. पौराणिक चेतना

3. धार्मिक चेतना

4. वैज्ञानिक चेतना

5. राजनीतिक चेतना
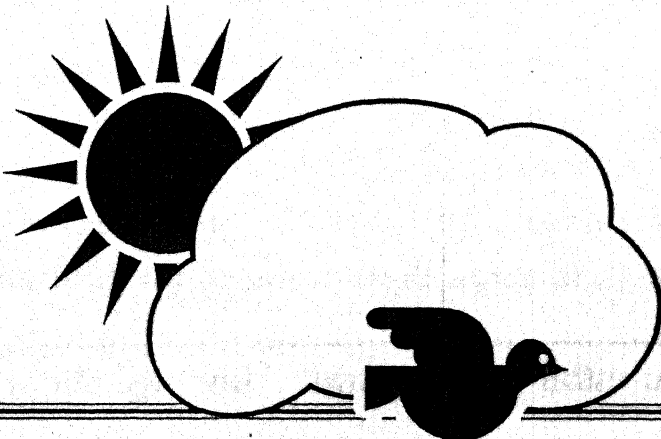
अष्टम अध्याय
समकालीन कविता में चेतनागत सौन्दर्य

चेतना शब्द का प्रयोग प्रायः मनोविज्ञान के अर्थ में होता है, किन्तु काव्य-जगत् में बहुआयामी हो गया है और चेतना-जगत के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए निरन्तर क्रियाशील रहता है। चेतनागत सौन्दर्य की प्रमुख विशेषता उसकी निरन्तर परिवर्तनशीलता है। समकालीन कविता में चेतनागत सौन्दर्य के निम्नलिखित आयामों पर विवेक और तर्कपूर्ण विचार हुआ है-

1. ऐतिहासिक चेतना
2. पौराणिक चेतना
3. धार्मिक चेतना
4. वैज्ञानिक चेतना
5. राजनीतिक चेतना

1. ऐतिहासिक चेतनाः-

हर कविता अपना पुराना इतिहास दोहराती है और नया इतिहास रचती है। पुराने इतिहास को संस्मरण में लाए बिना उसका नया इतिहास आधा-अधूरा रहता है। समकालीन कवियों ने अपनी ऐतिहासिक चेतना को व्यक्त करने और उसमें नया निखार लाने के लिए बहुत सारे इतिहास प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषों तथा स्थानावलियों का प्रयोग किया है। ऐतिहासिक स्त्री- पुरुषों में पद्मिनी, जीजाबाई, लक्ष्मीबाई, नूरजहाँ,नीरो, चंगेजखाँ, लुई, लेनिन, मार्क्स, हिट्लर, ह्वेनसांग, गौतम बुद्ध, गाँधी, नेहरू आदि के नाम तथा ऐतिहासिक स्थानावलियों में दिल्ली, चित्तौड़, मेवाड़, सारनाथ, पानीपत, वातरलू आदि के नाम समकालीन कविता में यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं।

ऐतिहासिक चेतना में सौन्दर्य-बोध के विभावन के लिए समकालीन कविता के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अभावपरक धरातलों का प्रयोग किया गया है। ये अभावपरक धरातल देखने और सुनने में नकारात्मक प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रकारान्तर से सकरात्मक भाव-भूमि का ही सन्देश देते हैं। समाज-प्रेम के अभाव को सूचित कर देना समाज-प्रेम के प्रति श्रद्धा का ही भाव जगाता है। इससे कम-से-कम यह तो एहसास हो ही जाता है कि यदि समाज- प्रेम का अनुपालन हो जाए तो जीवन में शांति की संभावना काफी बढ़ सकती है-

" और अब अपनी कायरता
ओछे इतिहास
और खोटे प्रारब्ध के साथ मैं
अकेला हूँ।"[1]

- कैलाश वाजपेयी (अपराधग्रस्त से)

इन पंक्तियों में इतिहास- बोध उत्कृष्ट स्तर पर है, किन्तु कायरता ओछे और खोटे जैसे विशेषणवाची शब्द उस इतिहास-बोध की उत्कृष्टता की टाँग खींचने में कम सहायक नहीं हैं। ये सभी अभाव

1. *डॉ० सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, पृ० 47*

सूचक शब्द जीवन के प्रति नैराश्य भाव दर्शाते हैं, उन्हे ऐतिहासिक शब्दावली से निकालकर दूर फेंकना ही समकालीन कविता का मूल उद्देश्य है।

काव्य-जगत में पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अरस्तू को 'अनुकरण' और 'विरेचन' सिद्धान्त का जन्मदाता कहा जाता है। उसके द्वारा बनाए गए ये दोनों काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त आज भी अक्षुण्ण हैं। अरस्तू प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों का समर्थक था। समकालीन कविता ने अरस्तू को उन्ही रूढियों से आबद्ध और ग्रसित बताया है तथा आज के परिवेश में उन दकियानूसी परम्पराओं से मुक्त होने का संदेश दिया है-

" नाली के पास चीथड़ों को नोचता
अरस्तू सदियों को पीता है
मगर थूकता है
खून के फव्वारे।"[1]

– श्याम परमार

ये परम्पराएँ मानव को अभिनव दिशा नहीं देती, इनसे अमृत के नहीं, खून के फव्वारे निकलते हैं, उनके परिपालन से मानव का उन्नयन नहीं हो सकता। अरस्तू तो एक प्रतीक है, ऐसे न जाने कितने बँधुवा प्रतीक इस समाज में हैं, जो सदियों को पी-पीकर बहाल होना चाहते हैं, समकालीन कविता उन्हे इस बहाली से रोकती है।

आज हर व्यक्ति' हिट्लर' बनना चाहता है, किन्तु हिट्लर जैसी नाना खूबियों का उसमें अभाव है। ऐसे हिट्लरपरस्त व्यक्तियों को समकालीन कविता' हिट्लर' न बनने का संदेश देती है। समकालीन कवियों का मानना है कि ऐसे हिट्लर समाज का कुपोषण ही करते हैं –

" मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है
\+ \+ \+ \+
वानर की तरह घूरता है
गरज यह कि घण्टे भर खटवाता है
मगर'नामा' देते वक्त
साफ'नट' जाता है।"[2]

यहाँ पर धूमिल की कविता 'मोचीराम' में मोचीराम दो कौड़ी का आदमी हो सकता है और है भी, क्योंकि वह अकिंचन और अछूत है किन्तु जूते की बनवाई की कीमत अदा करने वाला ग्राहक भले ही चार कौड़ी का हो, पर वह मोचीराम से भी ज्यादा गया - गुजरा है। वह ' नामा'(रूपया) की अदायगी से बचने के लिए अपने को हिट्लर का नाती बताता है, बन्दर-घुड़की देकर पैसा देने से मुकर जाना चाहता है। कवि ने ऐसे हिट्लरवादियों को हिदायत दी है कि वे अपने स्वाँगमयी आभिजात्य का अमली जामा उतारकर आम जनता से जुड़ें तथा उनके श्रम का महत्त्व समझें।

इसी प्रकार 'जार्ज बुश' और 'ब्लेयर' भले ही राजनीति के दो प्रसिद्ध व्यक्ति हों किन्तु यूरोपियन

1. डॉ0 सुधा राजे : सातवें दशक की कविता का शब्द-विधान, पृ0 120-121
2. धूमिल : संसद से सड़क तक ('मोचीराम' से), पृ0 39

इतिहास में उन्हे ऐतिहासिक पुरुषों का दर्जा प्राप्त है। ये दोनो ही इतिहास- प्रसिद्ध व्यक्ति अपने को 'विश्व-रक्षक' की संज्ञा देते है और अन्तरिक्ष के धरातल पर बैठ कर बात करते हैं। समकालीन कविता ने इनके बढ़ते हुए अभिमान पर व्यंग्य किया है।

समकालीन कवि श्रीकान्त शास्त्री ने चिन्ता जाहिर करते हुए कहा है कि आतंकवाद आधुनिक समाज की एक गहरी समस्या है। यदि इसके बढ़ते हुए कदमों को कुचला न गया तो एक दिन सारा विश्व-समुदाय जलकर 'राख-पुंज' हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति में 'बुश' और 'ब्लेयर' जैसे दादा कहे जाने वाले बलिष्ठ सुरक्षाधर्मी भी विश्व के मानचित्र को न बचा पाएंगे।

"और हमारी अहिंसा यदि
प्रतिहिंसा में कहीं बदल गई
तो विश्व के मानचित्र से
तुम्हारा अस्तित्व ही मिट जाएगा
तब न होगा कोई 'बुश'
न 'ब्लेयर' ही तुम्हे बचा पाएगा।"[1]

समकालीन कविता से एक ऐसे उद्विग्न मनुष्य का चेहरा झाँकता हुआ नजर आता है, जिसके सपनों और मूल्यों की अब शायद अहमियत नहीं रही। किन्तु वे निराशा और परस्ती के कवि नहीं है। उनकी कविताओं में रचयिता की चिन्ता है। राजस्थान के चर्चित कवि नंद चतुर्वेदी की कविताएँ उदासियों के दौर में भी तेजस्वी दिनों की कौंध जगाए रखने के लिए प्रतिश्रुत दिखती हैं -

" दिल्ली कहाँ है जहाँ उत्सव है।
वहीं राष्ट्रपति है
राष्ट्र कहाँ है?
उसकी आँखों में सूर्य-चन्द्रमा है
खेतों पर पड़ी दुख की लम्बी छायाएं
रोटी के आकार का राष्ट्र
बची-खुची आकांक्षाओं का उत्सव है।"[2]

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर 'दिल्ली' को किसी समय 'इन्द्रप्रस्थ' कहा जाता था और वहाँ के उच्च एवं सम्मानित आसन को 'इन्द्र'। आज उसी का स्थान' दिल्ली' और 'राष्ट्रपति' ने ले लिया है। राष्ट्र-चेतना के नाम पर इनका कार्य इतना संकुचित हो गया है कि वह 'रोटी' के आकार जैसा प्रतीत होने लगा है। आज बड़े-बड़े जलसे और महोत्त्सव केवल दिल्ली में होते हैं; वहाँ पर अपार अर्थराशि खर्च होती है। ऐसा आभासित होता है कि राष्ट्र की परिभाषा के दायरे में केवल 'दिल्ली' ही शामिल है, भारतवर्ष के अन्य गाँव अथवा नगर नहीं।

समकालीन कविता ऐसे ऐतिहासिक आयामों को व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत करके समाज में एक नया आलोक लाना चाहती है और उस अर्जित आलोक को विश्वचेतस् तक पहुँचाना चाहती है।

---

1. आंनदमिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0 58 मई 2003
2. नंद चतुर्वेदी : उत्सव का निर्मम समय, पृ0 47

2. पौराणिक चेतना :-

श्रुति और स्मृति भेद से पुराण स्मृतियों में गिने गए हैं। पुराणों की अन्तःकथाएँ सम्पूर्ण विश्व को व्यावहारिक प्रेरणा देती रही है। पौराणिक शिक्षाएँ पहले भी मूल्यवान थीं, और आज के सन्दर्भ में तो उन्हें मूल्यपरक शिक्षा के अन्तर्गत शामिल कर लिया गया है। विश्व का हर साहित्य अपनी मूल्यपरक शिक्षा के लिए पौराणिक चेतना का ऋणी है। साहित्य के सभी 'मिथक' पुराणों के ही प्रतिफल हैं। समकालीन कविता ने जहाँ कहीं आवश्यक समझा है, इन मिथकों का भरपूर प्रयोग किया है और इन्हीं का संबल लेकर मूल्यरक शिक्षा की हिमायत की है। जो मूल्य जनसाधारण में आदर्श की दृष्टि से उच्च कोटि के हों तथा सबके द्वारा गृहीत एवं व्यवहृत होते हों, उन्हें ही 'मूल्य' की संज्ञा दी जा सकती है।

समकालीन कविता की पौराणिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना का ही एक भाग है; अतः उसमें जहाँ एक ओर भारतीय त्योहारों, सामाजिक रीति रिवाजों, परम्पराओं आदि का चित्रण है, वहीं दूसरी ओर भारत की पावन नदियों, वृक्षों, पर्वतों, झीलो, पठारों आदि अमानवीय प्राकृतिक दृश्यावलियों का भी चित्रांकन है। पौराणिक पात्रों में धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कृष्ण, एकलव्य, द्रोणाचार्य, भस्मासुर, तक्षक, दधीचि, जरासन्ध, शिशुपाल आदि को समकालीन कविता में प्रमुखता के साथ चित्रित किया गया है। ये प्रतीक जीवन-संघर्ष से जूझने, जीवन-चक्रव्यूह से बच निकलने तथा जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के उद्देश्य से प्रयोग में लाए गए हैं।

महाभारत में धृतराष्ट्र और धर्मराज युधिष्ठिर मात्र व्यक्तिवाचक संज्ञा तक सीमित थे, किन्तु समकालीन कविता में वे जातिवाचक संज्ञा के रूप में न जाने कितने समूहों का परिचय दे रहे हैं। समाज के तमाम धृतराष्ट्रों का स्वार्थी स्वर आज बहुत सारे धर्मराजों को पीड़ा दे रहा है। आज धृतराष्ट्र बुजुर्वा संस्कृति के उस पक्ष की सूचना दे रहा है, जिसके अन्याय और काले शासन-चक्र ने सदैव न्यायमार्गी व्यक्तियों का शोषण किया है। शिवाकान्त 'विद्रोही' की कविता का एक अंश देखिए -

"पुरस्कार-सम्मानों के
आसन पर बैठी
कैसी धृतराष्ट्रीय पकड़ है
धर्मराज से ताज छीनकर
पक्षपात करता गड़बड़ है।"[1]

इधर नवें दशक के बाद के कवियों ने शोषण और शोषणकर्ता के विरूद्ध विद्रोह करने एवं समाज में सौन्दर्य-बोध की स्थापना के लिए जिन प्रतीकों का सर्वाधिक प्रयोग किया है, वे पौराणिक वर्ग के ही हैं। रवीन्द्र कुमार पाठक ने अपनी कविता 'संभवामि युगे-युगे' में विभिन्न पौराणिक पात्रों का प्रयोग करके अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध जो रणभेरी बजाई है, वह सत्यम् शिवम्-सुन्दरम् की स्थापना का ही संकेतक है -

"आतंको की आँधी चलती
शिशुपाल दुष्ट मदमाता है,

---

1. आंनदमिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0 34 अगस्त 2003

तब मुरली और सुदर्शन लेकर

नन्ददुलारा आता है।"[1]

इधर 'चौथे सप्तक' के कवियों में जिन कवियों ने समकालीन होने का दावा किया है, उनमे राजेन्द्र किशोर प्रमुख हैं। ये कवि राजनीति के प्रति अपनी आस्था नहीं दोहराते, पौराणिक चेतना के माध्यम से समाज को तीखा उपदेश देते चलते हैं –

"अब यज्ञ के दिन बीत गए, परीक्षित।

द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञान यज्ञ –

किसी यज्ञ के लिए तुम्हे, कोई पुरोहित

नहीं मिलेगा।"[2]

आज के पुरोहित पुरोहिती छोड़कर दुर्व्यसन और नशा खोरी में लिप्त हैं; जो थोड़े-बहुत पवित्र आत्मा वाले बचे हैं, वे राजनीति में प्रवेश लेकर अर्थलोलुपता के कारण दाम पर नीलाम हो गए हैं। समकालीन कविता इसी अभिव्यंजना का संकेत देना चाहती है।

आज की हिन्दी-कविता में रुग्ण परम्पराओं को तोड़कर नवीन परम्पराओं की संस्थापना का स्वर मुखर है। ढहती हुई परम्पराओं का एक बिम्ब चन्द्रकान्त देवताले की कविता 'दरख्तों के भीतर' में देखा जा सकता है –

"और यह बूढ़ा बरगद

देखो वह/ प्रतिक्षण

मरता जा रहा है।"[3]

कविता में प्रयुक्त बरगद, वनस्पति जगत का सर्वाधिक आक्सीजनदायी पौधा है; किन्तु यहाँ वह प्राचीन परम्परा का पोषक बनकर आया है। समाज की वे प्राचीन मान्यताएँ जो आज के समाज के साथ समझौता करने में समर्थ हैं, समकालीन कविता का उनसे कोई विरोध नहीं है। बरगद सदैव से स्वस्थ परम्परा का प्रतीक रहा है। अर्थतंत्र के लोभी व्यक्तियों ने वन-क्षरण के अन्तर्गत उसे भी दाँव पर लगा दिया है, इस अनहोनी पर समकालीन कवि को क्षोभ है।

हमारे पुराण और धर्मशास्त्र यह कहते हैं कि भोजन करते समय किसी से बात नहीं करनी चाहिए, थाली में परोसे हुए भोजन को पहले नमन करना चाहिए। शकुन शास्त्र का सम्यक् पालन करना चाहिए। इस आधार पर सोम और शनि को पूर्व दिशा, मंगल और बुध को उत्तर दिशा, रविवार को पश्चिम तथा बृहस्पति को दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान नहीं करना चाहिए। इनमें से अधिकांश बाते वैज्ञानिक कसौटी पर भी खरी उतरती हैं। ऐसे पौराणिक और धार्मिक आख्यानों पर समकालीन कविता अपनी सहमति जताती है –

"रात को रोटी जब भी तोड़ना

तो पहले सिर झुकाकर

गेहूँ के पौधे को याद कर लेना

---

1. सं0 आंनदमिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0 29 अगस्त 2003
2. राजेन्द्र किशोर : चौथा सप्तक, पृ0 292
3. डॉ0 अशोक सिंह : समकलीन कविता : एक विश्लेषण, पृ0 104 पर उद्धृत।

मेरे बेटे

बुध को उत्तर कभी मत जाना।

न इतवार को पच्छिम।"[1]

3. धार्मिक चेतना :-

ईश्वरोपासना और धर्म-चिन्तन समकालीन कविता का विषय नहीं है, लेकिन अद्यतन समाज में पूजा और कर्मकाण्ड के नाम पर जो पाखण्ड चल रहे हैं, उनका विरोध करके भारतीय जन-जीवन को स्वस्थ आस्था की ओर मोड़ना समकालीन कविता का मुख्य लक्ष्य है। प्रगतिवादियों ने गाली-गलौज करते हुए ईश्वर के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया। प्रयोगवादी कवियों ने प्रयोग के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को नकारने और उसके मरे होने की घोषणा की, किन्तु समकालीन कवियों के यहाँ ऐसा नहीं है। वे ईश्वर के अस्तित्व और उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु आज के इस जड़िमाग्रस्त वातावरण में आड़े वक्त ईश्वर और धर्म उनकी मदद नहीं कर पाता। अतः भाग्योदय की लालसा से देवता, ईश्वर, धर्म और पूजापाठ से समकालीन कवि का विश्वास हट गया है। उसकी आस्था स्वयं अपने पर है, उसने जो कुछ झेला है, भोगा है, उसके प्रति ईमानदार है। फलतः ईश्वर और धर्म का बहिष्कार करता हुआ वह तेजी से आगे बढ़ा है। आज का ईश्वर घोर उपेक्षा के धुन्ध में छिप गया है, वह अपने को पहचान नहीं पा रहा। वह ईश्वर की नहीं, बल्कि अपनी स्थिति पर स्तम्भित होकर कह उठता है-

"ईश्वर का ठिकाना कुछ नहीं

कब किसी दुखी, अंधे, भिखारी या पुजारी या

बेचारे दीन दुखियों का रचाए वेश।"[2]

ईश्वर, प्रेम और मृत्यु जो कभी साहित्य को अपनी ओर खींचते थे, आज अपना स्वत्व खो चुके हैं। न्यूटन के ऊर्जा सम्बन्धी सिद्धान्त से ईश्वर की कुर्सी हिल गई थी। स्थानापन्न मनुष्य भी सृष्टि का नियामक और केन्द्र न रहा। ब्रेख्ते ने ईश्वर को मृत घोषित कर दिया। ईश्वर की हत्या वास्तव में नैतिक मूल्यों की हत्या थी। एक आस्था के अवलम्ब की हत्या थी। अधुनातन परिवेश का यह अध्याय उस समय और ही करूणाजनक हो गया, जब नीत्शे ने भी ईश्वर के मृत्यु की घोषणा कर दी।

"ईश्वर मर चुका है

और हम

मनुष्य जाति के विलम्बित प्रहर में

जी रहे हैं

\+ + + + +

ईश्वर मर चुका है

चर्च उसकी कब्रगाह है।"[3]

---

1. *केदारनाथ सिंह : अकाल में सरस, पृ0 18-19*
2. *डॉ0 अशोक सिंह : समकालीन कविता : एक विश्लेषण, अजित कुमार की कविता, (दो बातें और एक तर्क : अकेले कंठ की पुकार) पृ0 184 पर उद्धृत।*
3. *डॉ0 गोविन्द रजनीश : समकालीन कविता : विविध परिदृश्य पृ0 160 पर उद्धृत*

ईश्वर की मौत के बाद अनैतिकता, यौन-बलात्कार, बेईमानी, धूर्तता आदि के सिक्के चालू हो गए हैं। छायावाद युग तक का मनुष्य निरन्तर उन्नति में विश्वास रखता था, उसके पास ईश्वर का सहारा था, किन्तु अब वह अवलम्ब भी नष्ट हो गया। आज इन्हीं सब विसंगतियों की चुनौती समकालीन कविता के सामने है।

रामकालीन कवि जिजीविषा से परिपूर्ण है, उसमें नई जीवन्तता है, उसकी चित्तवृत्ति एवं इच्छा शक्ति बड़ी प्रबल है, प्रगाढ़ है। सम्पूर्ण जमा पूँजी और फसल गँवा देने के बाद भी वह अपने बचाव के लिए ईश्वर से कभी प्रार्थना नहीं करता, बल्कि अदम्य उत्साह का परिचय देता हुआ वह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता जाता है। वह ईश्वरोपासना की जगह कर्मोपासना को महत्व देता है। केदारनाथ सिंह ने अपने नवें दशक की कविता 'पानी में घिरे हुए लोग' में लिखा है –

"पानी में घिरे हुए लोग
प्रार्थना नहीं करते
वे पूरे विश्वास से देखते हैं पानी को
और एक दिन बिना किसी सूचना के
खच्चर, बैल या भैंस की पीठ पर
और असबाब लादकर
चल देते हैं कहीं और।"[1]

आज भावना का स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया है। समकालीन कवियों ने जहाँ एक ओर अर्थहीन मूल्यों की तिलांजलि दी है, वहीं दूसरी ओर थोथे धर्म की मुक्तकंठ से खिल्ली भी उड़ाई है। वर्तमान सदी के प्रथम दशक में शिवाकान्त मिश्र 'विदोही' ने पाखण्डियों के सम्मान पर छीटाकसी करते हुए लिखा है –

"संगम-संगम
कुटी झूठ की
पाखण्डी पग पूजे जाते।"[2]

आज के पुजारी और मुल्लाओं पर व्यंग्य करते हुए 'कुर्सी प्रधान देश' कविता में मदन डागा ने लिखा है –

"अपने बेटे की नौकरी के खातिर
पुजारी, एम0पी0 क्वार्टर्स में प्रसाद चढ़ा रहे हैं
और मुल्ला जी मस्जिद में नहीं
मिनिस्टर के बँगले पर
दुआ माँग रहे हैं।"[3]

आज के बड़े-बड़े धर्माचार्य मन्दिर-निर्माण के नाम पर जनता से मोटी रकम वसूल करते हैं। झोली

1. *केदारनाथ सिंह : यहाँ से देखो, पृ0 18*
2. *संपा0 आंनदमिश्र 'अभय' : राष्ट्रधर्म (मासिक), पृ0 54 अगस्त 2003*
3. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर, पृ0 248*

भर जाने पर वे न तो मन्दिर का निर्माण करवाते हैं और न मस्जिद का, बल्कि ठगी की कमाई से विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। बड़े-बड़े ग्रन्थी और मौलवी अपने बच्चों की नौकरी के लिए ऊर्ध्वमुखी ईश्वर के स्थान पर अधोमुखी मंत्रियों से याचना करते हैं। यह आज का युग-सत्य है।

समकालीन कविता का विरोध न तो धर्म से है और ईश्वर से, बल्कि इनके पीछे काम करने वाली उन अनाचारी और अनैतिक शक्तियों से है, जिन्हें बढ़ावा देने के लिए पाखण्ड-ग्रसित व्यक्ति शार्दूल का स्वाँग रचकर कूकर की करतूत पर तुला है। समकालीन कवियों का यह मानना है कि जब ईश्वर इन धर्मसिद्ध व्यक्तियों का कुछ नहीं बिगाड़ पा रहा है जो ईश्वर के नाम पर अनाचार करते हैं तो सामान्यधर्मा व्यक्ति की प्रार्थना ईश्वर कैसे सुन सकता है?

अतः समकालीन कवि धर्म के स्थान पर कर्म, मन्दिर के स्थान पर घर और ईश्वर के स्थान पर मानव की सेवा करना उत्तमतर समझता है।

धार्मिक चेतना के अन्तर्गत सामाजिक रीतिरिवाजों, त्योंहारों, लोकरूढ़ियों तथा विभिन्न स्थानों पर लगने वाले मेलों एवं पूर्णिमा-स्नान आदि का चित्रण होता है। समकालीन कविता में इस विलुप्त हो रही लोक-संस्कृति के प्रति गहरा क्षोभ व्यक्त किया गया है।

नदियाँ हमारे यहाँ 'धर्म' और 'व्यापार' दोनों का केन्द्र रही हैं, किन्तु इस समय दोनों ही ह्रास के कगार पर हैं। विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों में 'जल-प्रदूषण' अपनी चरम-सीमा पर है। मानव की जल-चेतना शुष्क और अपंग हो गई है; रहीम का दोहा 'रहिमन पानी राखिए' केवल मौखिक कथन तक सीमित रह गया है; मरघट प्रतिपल चीख रहा है, भूखों से तड़प रहा है क्योंकि लाशें वहाँ न जाकर नदियों में प्रवाहित कर दी जाती है। आज नदियाँ मुर्दाघाट बन गई हैं। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने अपनी रचना 'कुआनो नदी' में इसका अच्छा चित्रण किया है -

> **"यह नदी मुर्दाघाट के लिए मशहूर है**
> **कुआनो जाने का मतलब**
> **किसी को फूँकने जाना है।"**[1]

4. वैज्ञानिक चेतना :-

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ज्ञान पहले से ही विस्तारित है, उस बिखरे हुए ज्ञान को पर्यवेक्षण पद्धति के आधार पर विज्ञान सिद्ध करता है। उसकी सिद्ध-वस्तु ही विज्ञान कहलाती है। 'हमें हाथ धोकर खाना चाहिए' यह ज्ञान है। किन्तु 'हाथ धोकर क्यों खाना चाहिए' यह विज्ञान है। विज्ञान की प्रयोग-रीति ही वैज्ञानिक चेतना है। यह चेतना प्रायः शोधबिन्दु पर आधारित होती है।

राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्यों को संस्पर्श करने के कारण समकालीन कविता वैज्ञानिक चेतना से प्रभावित हुई है। इस वैज्ञानिक चेतना के कारण समाज की प्राक् संस्कृति, उसके रीति-रिवाज एवं मान्यताओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। काव्य के क्षेत्र में अलंकार सम्बन्धी सारे उपमान और अप्रस्तुत विधान नए अर्थ-बोध के साथ प्रयुक्त हुए हैं। समकालीन कविता ने इन सभी परिवर्तित उपमानों को समुद्रवत् स्वीकार कर लिया है। जो वैज्ञानिक उपमान एवं धारणाएँ समाज के लिए घातक सिद्ध हुई हैं अथवा सिद्ध होने वाली हैं, समकालीन कविता उनकी पूर्णतया भर्त्सना करती है।

---

1. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : कुआनो नदी, पृ0 14

आज विज्ञान ने मानव के हृदय में 'अहं' की प्रवृत्ति इतनी ज्यादा घोल दी है कि वह स्वयं को कृष्ण, गौतम और महावीर मानने लगा है, क्रान्ति के नाम पर अपने को मार्क्स और लेनिन मानता हैं; विज्ञान के क्षेत्र में स्वयं को न्यूटन और आइंस्टीन कहने में संकोच का अनुभव नहीं करता। दानवता का भूत तो यहाँ तक सवार है कि हर इलाके में जंग छेड़ने के लिए बात-बात में तलवारें, बघनखें, साइकिल की जंजीरे, ईट, पत्थर आदि इकठ्ठा कर लेता है, बम बना लेना उसके दाएँ-बाएँ का काम है। उसके पास हर हथियार पाजिटिव-निगेटिव रूप में सदा तैयार रहता है -

"मैं एक निर्मम बम को पाजिटिव-निगेटिव तारों के
छोर लिए ठहरा हूँ बढ़ते हुए समय की प्रतीक्षा में।"[1]

इस वैज्ञानिक चेतना के कारण आज सबसे बड़ा खतरा राष्ट्रीयता और लोक-संस्कृति को है। *'एक तरफ भौतिकवादी मूल्यों का बढ़ावा है, दूसरी तरफ हथियारों की होड़ से उत्पन्न विनाश का खतरा है और तीसरी तरफ कट्टर सम्प्रदायवाद का विष है, तो चौथी तरफ मानसिक निराशा एवं टूटन का साम्राज्य है। चारो तरफ से घिरा व्यक्ति आखिर कैसे बचे, कौन-सी दवा है, जो सुरक्षा की जिम्मेदारी ले सकती है।"*[2]

ऐसी परिस्थिति में समकालीन कवि वैज्ञानिक मशीनीकरण और यांत्रिकता का विरोध करता है। इस हृदयहीन यांत्रिकता से बचने के लिए अथवा उसकी अनुभूति को निष्फल करने के लिए लोक-संस्कृति की आस्था को महत्वपूर्ण ठहराता है क्योंकि लोक-संस्कृति की जड़ें कच्ची नहीं होतीं, वे जातीय-राष्ट्रीय अस्मिता का द्योतक होती हैं। कोई भी देश-समाज अपनी जड़ों से कटने जाने पर अपनी पहचान खो देता है। समकालीन कवि अपने हृदय में इस लोकवादी पहचान को समेटे हुए है; तभी तो एक यथार्थवादी बाप अपने आदर्शवादी बेटे को शिक्षा देते हुए कहता है -

"मेरे बेटे
बिजली की तरह कभी मत गिरना
और कभी गिर भी पड़ो
तो दूब की तरह उठ पड़ने के लिए
हमेशा तैयार रहना।"[3]

यहाँ बिजली विज्ञान का घातक यंत्र है तथा दूब लोक-संस्कृति का विनयावनत तत्व। बिजली नकारात्मक स्वरूप है तथा दूब सकारात्मक।

हमारे यहाँ सूर्य को 'आदि देवता' कहा गया था, किन्तु वैज्ञानिक चेतना ने इस मान्यता को खण्डित कर दिया है। उसके सारथी 'अरूण' पर भी प्रश्न-चिह्न लग गया है। इसे मात्र एक तारा माना गया है। कुछ कवियों ने 'कोणार्क' पर कविताएँ लिखी हैं। यह ऐतिहासिक स्थान पुरी (उड़ीसा) से 32 किमी0 उत्तर-पूर्व की ओर समुद्र-तट पर स्थित है। यहाँ का सूर्य मन्दिर विख्यात है। मन्दिर की दीवारों पर बनी हुई अनेक मूर्तियों मे से युद्धरत अश्व, सूर्य तथा गंगा की मूर्तियाँ सर्वाधिक दर्शनीय हैं।

1. डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर, राजीव सक्सेना की कविता पृ0211
2. डॉ0 नर्मदा प्रसाद गुप्त : बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति व इतिहास, पृ0 466
3. केदारनाथ सिंह : अकाल में सारस, पृ0 19

प्रपंच के इस युग में प्रतीप पंत ने कोणार्क में स्थित 'सूर्य मंदिर' पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-

"इक्कीसवीं शताब्दी की चकाचौंध में
टूटकर गिरने को हैं
सूर्यरथ के चौबीसों खण्डित पहिए।
उन्मत्त क्षत-विक्षत अश्व
भागने को तैयार खड़े हैं,
रौंदने के लिए जन-समुदाय
असहाय हैं बच्चे, वृद्ध पुरूष, स्त्रियाँ, विधवाएँ।"[1]

उपर्युक्त कविता में प्रयुक्त 'सूर्य-रथ' तथा उसमें जुते हुए उन्मत्त अश्व धार्मिक प्रतीक हैं, किन्तु कविता के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप वैज्ञानिक प्रभाविता से सम्पन्न होने के कारण आज वे वैज्ञानिक प्रतीक बन गए हैं। यह वैज्ञानिक प्रतीक बड़ा ही खौफनाक है। सूर्यरथ के खण्डित पहिए और उसमें जुते हुए अड़ियल घोड़े आज मानवता का विध्वंस करने पर तुले हुए हैं।

युद्ध की विभीषिकाओं से समकालीन कवि पूरी तरह प्रभावित है। जब कोई देश किसी अन्य देश की बढ़ती हुई आर्थिक और औद्योगिक प्रगति को देखता है तो उसके हृदय में साँप लोटने लगता है। वह प्रतिस्पर्धावश रणनीति की तैयारी में लग जाता है। आज की युद्धनीति इतनी व्यापक हो गई है कि वह युद्ध - भूमि, वायु एवं समुद्र के ऊपर व नीचे - सभी स्थानों से लड़ा जा रहा है। युद्ध में नव्यतम टैंक और पनडुब्बियों का प्रयोग हो रहा है। चारो तरफ हवाई हमलों के सायरन बज रहे हैं। समकालीन कवि को यह पूरी तरह विश्वास हो गया है कि ये युद्ध कुछ काल के लिए भले विराम ले लें, किन्तु कभी समाप्त नहीं हो सकते -

"वर्षा-धुली काली शिलाएँ धूप में चमकती हैं
मुझे भीम टैंकों का भ्रम होने लगता है
+ + + + + +
युद्ध फिलहाल चला गया है
नहीं, युद्ध एक बार आकर
कभी वापस नहीं जाता।"[2]

इसी बात की घोषणा डॉ० रति सक्सेना ने अपनी कविता 'जंग के वक्त' में की है -

"वे कहते हैं कि
जंग खत्म हो गई है
शायद उन्हें मालूम नहीं
जंग अब शुरू होनी है।"[3]

---

1. सं०डॉ० रामशरण गौड़ : इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक), पृ० 100 जनवरी-मार्च 2002
2. डॉ० रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर; जुगमिन्दर तायल की कविता, पृ० 244-245
3. संपा० डॉ० विजय राय : उत्तर प्रदेश (मासिक), आ०प्र० तृतीय, सितम्बर 2002

समकालीन कविता इस जंग के खिलाफ है, क्योंकि उसे पता है कि युद्ध में प्रयुक्त जहरीली गैसों, टैंकों, हथियारों आदि का प्रयोग देश में रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या उत्पन्न कर देता है, देश का आर्थिक ढाँचा बेडौल हो जाता है।

समकालीन कविता अपनी वैज्ञानिक चेतना में सद्भावना का अमृत घोलकर विश्व-प्रेम की स्थापना करना चाहती है। विश्व-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम में अन्तर है। यद्यपि राष्ट्रीय चेतना विश्वप्रेम का विरोध नहीं करती, परन्तु व्यक्ति की निष्ठा जब राष्ट्र से जुड़ जाती है तो अन्य राष्ट्रों को पराया समझने की मानसिकता बलवती हो जाती है। विश्वप्रेम के लिए संत-स्वभाव होना आवश्यक है। समकालीन कविता अपने अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य में विश्वप्रेम के प्रति कृत संकल्प है -

"है लहूलुहान शत्रु का शिविर उधर
वीर है शहीद युद्ध जीतकर इधर
जल रही मशाल एक यादगार में।"[1]

इस युद्ध में जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता की भावना अपने उद्दाम शिख़र पर है, वहीं दूसरी ओर विश्व-प्रेम की आवश्यकता की अनुभूति भी रूपायित हो रही है। 'जल रही मशाल एक यादगार में' यह उभयपक्षीय यादगार विश्व-प्रेम की एक लोकोत्तर संवेदना है या वह विश्वप्रेम के उस क्षितिज को छूता है, जहाँ अपने-पराए का भेद पूरी तरह मिट जाता है।

रति सक्सेना, जुगमिन्दर तायल, रामस्वरूप खरे, नंद चतुर्वेदी और रणजीत जैसे कुछेक कवियों को छोड़कर अधिकांश समकालीन कवियों ने मूलतः विज्ञान को संकेत करके काव्य-रचनाएँ नहीं की, उनकी कविताएँ क्रान्ति, उद्योग, बेरोजगारी, अकाल, संत्रास आदि विभिन्न विषयों पर लिखी गई हैं। इन्हीं कविताओं के बीच व्यंग्य स्वरूप एटम, गोली, बारूद, बन्दूक, स्टीमर, स्लेज, मशीन, इंजीनियर, ओजोन, बिटामिन, एक्सरे आदि वैज्ञानिक शब्दावलियों का यथास्थान प्रयोग हुआ है। डॉ0 रणजीत की 'क्रान्ति : एक भारी उद्योग' कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए -

"क्रान्ति एक भारी उद्योग है
विशाल निर्माण का भव्य अभियान
इसमें हजारों वैंगन सीमेन्ट चाहिए
और लाखों टन लोहा
भारी मशीनें
और विदेशी नो-हाउ।"[2]

यहाँ पर वैंगन, लोहा, मशीन, नो-हाउ आदि शब्द वैज्ञानिक हैं किन्तु ये गरीब जनता का प्रतीक बनकर आए हैं, जो बेचारे अकस्मात् होने वाली क्रान्ति में अकारण अपने को भस्मीभूत कर देते हैं। कवि ने परोक्ष रूप में क्रान्ति का विरोध किया है।

5. राजनीतिक चेतना :-

समकालीन कवियों की राजनीतिक चेतना प्रायः व्यंग्य-विन्यास के रूप में प्रस्तुत हुई है, क्योंकि

1. *डॉ0 वीरेन्द्र मिश्र : धरती गीतांबरा, पृ0 78, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी*
2. *डॉ0 रणजीत : प्रगतिशील कविता के मील-पत्थर, पृ0 248*

समकालीन कवियों को राजनीति का कोई भी पहलू ऐसा नहीं मिला जो त्रुटि-शून्य हो। प्राचीन धर्मशास्त्र और आधुनिक संविधान के अनुसार राजनेताओं के कार्य संतोषजनक नहीं सिद्ध हो रहे, अतः उनके प्रति व्यंग्य-चेतना का आविर्भाव होना स्वाभाविक है। साहित्य में राजनीतिक संगति और विसंगति की चर्चा प्रायः हुई है, किन्तु नई कविता के बाद वह क्रमशः तीव्र से तीव्रतर होती चली गई है।

समकालीन कविता में राजनीतिक विसंगतियों के कतिपय रूप उपलब्ध होते हैं। उनकी राजनीतिक चेतना केवल स्वराष्ट्र तक सीमित नहीं है, बल्कि अन्तरराष्ट्रीय जगत का भी लेखा-जोखा रखती है। इन कवियों का राजनीतिक मीडिया नितान्त सत्वर है।

राजनेताओं की गलत धारणाओं को लेकर कवियों के मन-मस्तिष्क में राजनीति के प्रति प्रारम्भ से ही अन्तःसंघर्ष चलता चला आ रहा है और वहीं अन्तःसंघर्ष व्यंग्य का पुट धारणकर उनकी कविताओं में प्रक्षेपित हुआ है। आज गाँधी और तिलक के नाम पर किस प्रकार नेता लोग जनता का खून चूस रहे हैं, मानवता की हत्या कर रहे हैं...............इन समस्त षड़यन्त्रों का सही-सही परिचय उनकी कविताओं में मुखरित हुआ है। संविधान की विसंगति का अनुभोक्ता रामदरश मिश्र का कवि अपनी संघर्षशील मनःस्थिति के संघर्ष-क्षणों में संविधान की प्रक्रिया पर करारा चोट करता हुआ कहता है -

"राजधानी में
देश के कोने-कोने से कूड़ा आता है
सड़ता है
फिर उड़ेल दिया जाता है
हर आदमी के रक्त में।"[1]

उपर्युक्त कविता में संविधान-निर्माताओं पर करारा आघात किया गया है। अपने को योग्य प्रतिनिधि साबित करने वाले राजनेताओं को देश के कोने-कोने का कूड़ा कहा गया है और उनके द्वारा निर्मित नियम, संविधान की धाराएँ उनके सड़े दिमाक की सड़ी उपज कही गई है, जिन्हें हर नागरिक को पालन करने के लिए बाध्य किया जाता है। उनके रक्त में उड़ेल दिया जाता है - 'उड़ेलने' में जबरदस्ती का भाव सन्निहित है।

स्वतंत्रता के सद्यः उपरान्त आजादी के प्रति जो सम्मोहन था, उसका मुग्ध-भाव अज्ञेय अपनी कविता 'छब्बीस जनवरी' में पहले ही व्यक्त कर चुके थे।[1] किन्तु आगे चलकर यथार्थ की कठोर धरती पर आजादी की यह आलोक-मंजूषा तमस-मंजूषा में परिवर्तित होती परिलक्षित होने लगी। देश के नेता सत्ता और कुर्सी की जोड़-तोड़ में डूब गए, कागजी योजनाएँ फाइलों में दबकर रह गईं, खोखले नारे सजाए जाने लगे, भाषण और भोज होने लगे। कुल मिलाकर देश की आजादी का मोहक सपना टूट गया। ऐसी अवस्था में समकालीन कविता में जनवादी चेतना की तरफ से विद्रोह का स्वर मुखर होना स्वाभाविक है। वैसे भी राजनीति में विद्रोह का स्वर प्रमुख माना जाता है। डॉ0 नरेन्द्र मोहन के अनुसार - *"मनुष्य जब दासता*

---

1. *समदरश मिश्र : पक गई है धूप, पृ0 41*
2. *'आज हम युगों के स्वप्न को*
   यह नई आलोक मंजूषा समर्पित कर रहे हैं।'
   - अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ0 44

की मनोवृत्ति से उबरने के लिए, पाखण्ड को उखाड़ने के लिए, अन्यायपूर्ण और आततायी स्थिति के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है और समानता की मनोभूमि पर अपने अधिकारों के प्रति सजग रहकर संघर्षरत होता है, तभी विद्रोह की नींव पड़ती है।" [1]

ऐसे विद्रोही स्वरों में धूमिल, कमलेश, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, प्रमोद सिन्हा, रणजीत, विनोद जोशी, मणि मधुकर आदि के स्वर प्रमुख हैं। स्वतंत्र भारत के लेखा-जोखाकार धूमिल इस बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि संसद एक ईमानदार संस्था है। उनके अनुसार -

"अपने यहाँ संसद -
तेल की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है।" [2]

धूमिल व्यवस्था के समाजवादी ढाँचे का खुला विरोध करते हैं। पूँजीवाद और समाजवाद में केवल यही अन्तर है कि समाजवाद जहाँ समाज में तेजी से परिवर्तन लाता है, वहीं पूँजीवाद धीरे-धीरे। हिन्दी-साहित्य में समाजवादी कविताएँ दो भागों में बटी हुई हैं। पहले भाग में वे कविताएँ हैं, जिनका सम्बन्ध समाजवादी आदर्शो से है, किन्तु जिन्होंने अपने को किसी पार्टी मेनिफेस्टो से बाँधने का प्रयास नहीं किया है। दूसरे वर्ग में वे कविताएँ आती हैं, जिनका सम्बन्ध सामाजिक वस्तु-स्थिति से न होकर किसी पार्टी के मेनिफेस्टो से हो जाता है। ऐसी कविताओं की स्थिति शोचनीय होती है। बहुत कुछ मात्रा में प्रगतिशील लेखकों ने पार्टी मेनिफेस्टो के आधार पर ही कला का निर्माण किया है।[3] समकालीन कविता पहले वर्ग की कविता है, जिसके अनुसार यदि समाज का ढाँचा जर्जर है तो इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। वह पूँजीवाद का विरोध करती है, क्योंकि पूँजीवाद परिवर्तन नहीं चाहता -

"एक पूँजीवाद दिमाग
जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता-आहिस्ता
कुछ इस तरह की चीजों की शालीनता
बनी रहे।" [4]

वास्तविकता यह है कि पूँजीवाद दिमाग परिवर्तनवादी नहीं, बल्कि परिवर्तन-विरोधी है। वह समाज-कल्याण के लिए न तो शनैः-शनैः परिवर्तन लाना चाहता है और न तीव्रगति से। वह सब अपने वर्ग के हित की बात सोचता है। वह कभी कोई सुधार करता है तो परिवर्तन को रोकने की नियति से, परिवर्तन को आगे बढ़ाने की नियति से नहीं।[5] यह समाजवाद लुटेरे राजनीतिज्ञों की जुबान पर अपनी सुरक्षा का आधुनिक मुहावरा है। धूमिल समाजवाद की असली तस्वीर देते हैं -

---

1. डॉ0 नरेन्द्र मोहन : संघर्ष परिवर्तन और साहित्य, पृ0 28
2. धूमिल : संसद से सड़क तक, ('पटकथा' से) पृ0 127
3. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी-साहित्य कोश, भाग-1, पृ0 726
4. बलदेव वंशी : लम्बी कविताएँ, वैचारिक सरोकार, पृ0 87
5. धूमिल : संसद से सड़क तक, ('पटकथा' से) पृ0 126

"मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिसपर 'आग' लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।"[1]

धूमिल ने समाजवाद का जो चित्र खींचा है, उससे स्पष्ट है कि राजनेताओं की अर्थलोभी प्रवृत्ति के कारण देश का समाजवाद माल-गोदाम अथवा रेलवे स्टेशन पर लटकती हुई बाल्टियों की तरह स्थिर और निष्क्रिय हो गया है।

समकालीन कविता में राजनीतिक चेतना के अन्तर्गत राजनीति को लेकर जो व्यापक प्रवृत्तियाँ सामने आई हैं, वे समस्त विश्व को एक सूत्र में बाँधने के लिए प्रयासरत हैं। राष्ट्रीयता से ऊपर उठा हुआ समकालीन कवि अन्तरराष्ट्रीयता को व्यक्त कर रहा है। यही कारण है कि किसी देश का सुख-दुःख समूचे विश्व का सुख-दुख बन जाता है। समकालीन कवि राष्ट्रीय समस्याओं में तो रूचि रखता ही है, साथ ही आधुनिक विश्व के कुछ प्रमुख नगरों - मास्को, पेकिंग, न्यूयार्क, काहिरा, ढाका, ताशकंद, कराँची, हिरोशिमा आदि की समस्याओं से भी अपने को जुड़ा हुआ पाता है। राजकमल चौधरी ने अपने समय के सबसे महान और अटूट मनोबल से लड़ते हुए, अन्त में विजय पाने वाले क्रान्तिकारी वियतनाम को एक ऐसे ही फूहड़ और भोंड़े बिम्ब में अभिव्यक्ति दी है -

"जिसे बेडौल टुकड़ों में बाँटकर
अलग-अलग चाहते हैं
भोग करना बनिए सौदागर
इस दुनियाँ की सबसे नंगी
सबसे मजबूत औरत का नाम है
वियतनाम।"[2]

राजनीति का क ख ग जानने वाला व्यक्ति भी यह जानता है कि इन देशों के दोनों टुकड़े किसी नंगी औरत के अलग-अलग सौदागरों द्वारा भोगने के लिए किए गए दो-दो टुकड़े मात्र नहीं, दो अलग-अलग दुनियाएँ हैं। इनमें अन्तर न कर पाना और उन्हे एक ही समीकरण में प्रस्तुत कर देना, राजनीतिक समझदारी की कमी ही कही जाएगी।

आज का कवि यह अच्छी प्रकार जान चुका है कि शासन-तंत्र से जुड़ा हुआ महामानव जनमन का उपकार नहीं कर सकता। **एक बार एक अपराधी को किसी अपराध में सजा हो गई। उसे फाँसी पर चढ़ाने का आदेश दे दिया गया। अपराधी ने राजा से कहा कि वह एक ऐसी अमोघ विद्या जानता है, जिसके बल पर वह हवा में घोड़ा उड़ा सकता है। राजा खुश हो गया और उसने उसे हवा में घोड़ा उड़ाने की आज्ञा दी। अपराधी ने कहा कि इसके लिए उसे छः मास का समय चाहिए। मंत्री से विचार-विमर्श करने के बाद राजा ने उसे छः मास का समय दे दिया। अपराधी प्रसन्न होता**

---

1. *धूमिल : संसद से सड़क तक, (पटकथा से) पृ0 127*
2. *डॉ0 सुधा राजे : सातवे दशक की कविता में शब्द-विधान, राजकमल चौधरी की कविता, मुक्ति प्रसंग, पृ0 73 पर उद्धृत।*

हुआ अपने घर चला गया। उसके मित्रों ने पूछा कि तुम राजा को क्यों बेवकूफ बनाते हो? तुम तो कुछ नहीं जानते, घोड़ा कैसे उड़ा सकते हो? अपराधी ने कहा कि तुम मूर्ख हो, इसी बहाने कम-से-कम छः माह की आजादी और मिल जाएगी। सारांश यह है कि आज की जोड़-तोड़ से बनी हुई गठबंधन की अस्थायी सरकारें भी हवा में घोड़ा उड़ा रहीं हैं। येन-केन-प्रकारेण अपना समय काट रही हैं।

आज का कवि सरकारी तंत्र के इस बड़बोलेपन को अच्छी प्रकार से समझ गया है और उसे विश्वास हो गया है कि कुर्सियाँ वही रहती हैं, आदमी भी वही हैं, सिर्फ टोपियाँ बदल जाती हैं। आज तो गाँव-गाँव में लोगों के मुँह से यही कहते सुना जाता है -

"देश के लोगवा वोहै बा
सरकार बदल के का करिबो
जब गाँव-का-गाँव भकोले बा
परधान बदल के का करिबो।"

इधर नवें दशक और उसके बाद के कवियों में दलनिष्ठता के स्थान पर जननिष्ठता की प्रवृत्ति प्रखरता के साथ उभरकर सामने आई है। इनमें अशोक वाजपेयी, रणजीत, नंद चतुर्वेदी, मृत्युंजय उपाध्याय, चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित', अशोक 'अंजुम', श्रीकान्त शास्त्री, शिवाकान्त मिश्र 'विद्रोही', बलदेव वंशी, रामानुज त्रिपाठी, वन्दना केंगरानी, रति सक्सेना, ऋतुराज, देवेन्द्र आर्य, राजेश जोशी, वीरेन डंगवाल आदि कवियों के नाम प्रमुख हैं। ये कवि लगातार नवें दशक से लेकर आज तक समकालीन परिवेशगत वातावरण को ध्यान में रखते हुए अपनी लेखनी को अविराम गति से परिचालित किए हुए हैं।
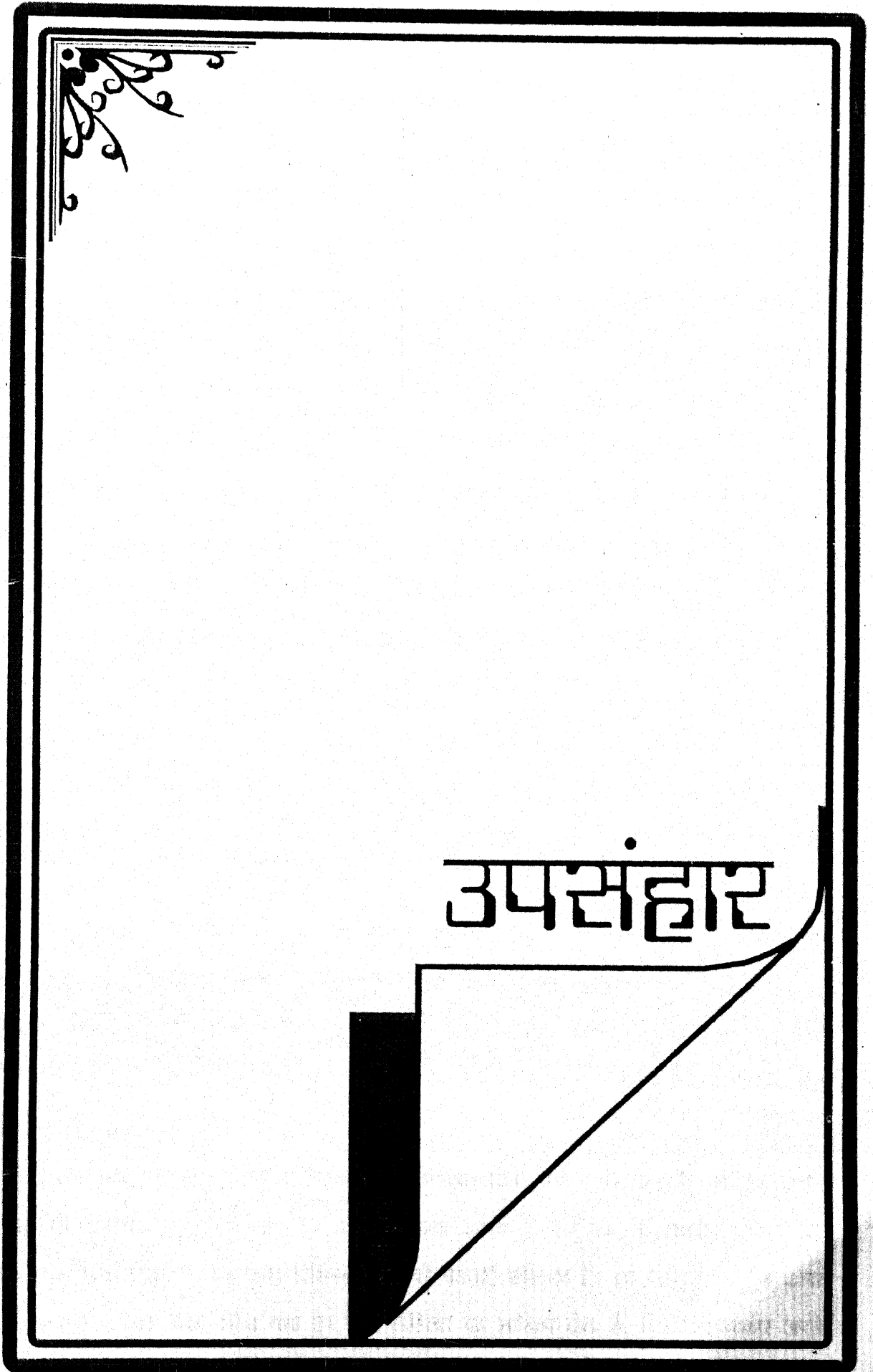
उपसंहार

उपसंहार

● समकालीन कविता, पश्चिमी चिन्तन और काव्य का अनुकरण नहीं, समकालीन समाज को समझने और जानने का समर्थ साधन है। जो अभी तक कहा नहीं गया अथवा कहने के उपरान्त बासी हो गया है, उसे तनाव-मुक्त होकर कहना और उसमें पुनर्नवा की शक्ति जाग्रत करना समकालीन कविता का प्रधान लक्ष्य है। कवियों और समीक्षकों का मानना है कि अच्छी कविता तब लिखी जाती है, जब देश और समाज में कोई आन्दोलन चल रहा होता है। आन्दोलन प्रायः सत्ता की विसंगतियों के खिलाफ चलता है। समकालीन कविता ऐसे आन्दोलनों से प्रभावित होकर तो लिखी गई है, किन्तु उसका स्वयं का कोई आन्दोलन नहीं है। इस अर्थ में समकालीन कविता पूर्ववर्ती कविताओं की भाँति न तो वादग्रस्त हैं और न हि आन्दोलन-परस्त।

नई कविता की परिसमाप्ति के बाद सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में काव्य-जगत में नए-नए नामों की आपाधापी शुरू हुई, अनेक अल्पजीवी काव्यान्दोलन नई कविता से पार्थक्य-बोध स्थापित करने के लिए काव्य-सरोवर को अनपेक्षित ढंग से मथने लगे। परिणामतः कविता एक बार पुनः आन्दोलनों के गिरफ्त में पहुँच गई। कविता एक तरफ अमेरिका की 'बीट पीढ़ी', इंग्लैण्ड की 'हंगरी पीढ़ी' और जापान की 'हैपनिंग पीढ़ी' के प्रभावस्वरूप रुग्णवादी यौनकुंठा की जुगुप्साजनक शब्दावलियों से बुरी तरह बोझिल हो गई तो दूसरी तरफ राजनीतिक असंगतियों के कारण उसमें अतिक्रान्तिकारी वामपंथी स्वर का महोच्चार हुआ। वाम का अर्थ देश की वाम राजनीतिक पार्टियों के पीछे चलना नहीं है। हर कवि वाम होता है। कोई भी साहित्यकार ऐसी विचारधारा का समर्थन नहीं करेगा, जिसमें समाज के कमजोर वर्गों के प्रति हिंसा और संवेदन-शून्यता पर जोर हो। एतदर्थ, रचनाकार क्या, कोई भी व्यक्ति वाम-विश्वासी हो सकता है।

आठवाँ दशक प्रारम्भ होते-होते समकालीन कविता में रुग्णतावादी अकवितावादी प्रवृत्तियाँ समाप्ति के निकट आ गईं, किन्तु वाम कविता का स्वर इस शताब्दी के अन्त तक गूँजता रहा। नवें दशक में कविता बिना किसी नारेबाजी और शोरगुल के केन्द्रीय विधा के रूप में सामने आई, उसकी दलनिष्ठा जननिष्ठा में रूपान्तरित हो गई। अब वह पूरे समर्पण भाव से सामाजिक यथार्थ और मानवीय सरोकारों के प्रति श्रद्धावान् हो गई।

समाजवाद और यथार्थवाद का मिनजुमला रूप सामाजिक यथार्थ कहलाता है, जो समकालीन कविता की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। इस सामाजिक यथार्थ के समुच्चय में मानवीय, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार की चेतनाएँ संश्लिष्ट है। इन चेतनाओं में एक प्रकार से 'ट्रेन्ड साहित्य' का अक्स खींचा गया है। 'ट्रेन्ड साहित्य' वह साहित्य होता है, जिसमें रचनाकार अपने

समय के यथार्थ की जटिलताओं को सधैर्य देखता व परखता है और उनका सम्यक् विश्लेषण करके समाज और पाठक के सामने रख देता है।

राष्ट्रीय, वैज्ञानिक, नगरीय और ग्रामीण बोध सामाजिक यथार्थ के अविच्छिन्न पहलू हैं। ये सभी बोध उसे ग्राम से नगर, नगर से राष्ट्र और राष्ट्र से अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य तक ले जाते हैं। समकालीन कविता का राष्ट्रीय-बोध राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियों की प्रतोलिका में बँधकर रह गया है। उसमें अन्तरराष्ट्रीय चेतना जितनी मुखर है, उतनी राष्ट्रीय भावना नहीं। आज के अधिकांश कवि ग्रामवासी होते हुए भी नगरवासी हो गए हैं, किन्तु नगर से तारतम्य नहीं बिठा पा रहे हैं। उन्हें गाँव बहुत भाता है, किन्तु गाँव जाने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे हैं। कवि का मन शहर की भीड़ से निकल चुका है, गाँव पहुँच नहीं पाया; इन दो अतिवादों और दुविधाओं के बीच वह संशयग्रस्त अर्जुन की तरह खड़ा है। अन्तरराष्ट्रीय-बोध से जुड़े हुए कारणों में विज्ञान की भयावह विध्वंसक शक्ति, अस्तित्व के प्रति सजगता, आधुनिकता के अभिशाप, अधिनायकवादी संगठनों का बोलबाला आदि तत्वों का बीजगणितीय आकलन किया जा सकता है।

समकालीन कविता में दो प्रकार के मानवीय विमर्शों को आधिकारिक तौर पर चिह्नित किया गया है – स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श। स्त्री-विमर्श में आज की नारी आलू छीलने से लेकर सरकारी कार्यालय जाने तक की नैतिक जिम्मेदारियों का निर्वहन करती है। एक तरफ उसमें परिश्रमजन्य स्वेदकण की प्रधानता है, और दूसरी तरफ सरकारी तौर पर अर्थोपार्जन की क्षमता। अब वह न अछूता है, न अपूता और न हि शूद्रा। फिर भी नारी पारिवारिक जीवन की ऊब और समाज की संकीर्णताओं से पूरी तरह विमुक्त नहीं हुई है; यह विमर्श-सूचक प्रश्न-चिह्न समकालीन कविता के लिए आज भी बना हुआ है। 'दलित-विमर्श' में 'आभिजात्य' के स्थान पर 'अन्त्यज' और 'सुपरमैन' (अतिमानव) के स्थान पर 'अदना आदमी' के महत्व को स्वीकार करते हुए उसके दुःख-दर्द का चिट्ठा खोलने की कोशिश की गई है। गोदान की दमन-चक्की में पिसते हुए भूमिहीन खेतिहर-मजदूरों को उस दहशत भरी चक्की से निकालने और उन्हें नए आलोक में लाने का एकलव्य प्रयास किया गया है। समकालीन कविता में रोटी से खेलने वाले तीसरे आदमी का पता भी लगाया जा चुका है। अब कवि और पाठक के बीच 'चित्र-तुरंगक-न्याय' की आवश्यकता नहीं रह गई है।

समकालीन कविता के इस नवीन दौर में यह उल्लेख कर देना वांछनीय होगा कि स्त्री और दलित-विमर्श काव्य-जगत के लिए नए नहीं हैं। इसके पहले भी इन पर अकूत साहित्य लिखा जा चुका है, किन्तु वह 'विमर्श' की अभिधा धारण नहीं कर सका था। कविता विमर्श प्रधान हो, यह आवश्यक भी

है और प्रासंगिक भी। काठिन्य का एहसास उस समय होता है, जब विमर्श रचना के स्तर पर फैशनपरस्त हो जाता है। अस्तु, चिन्ता का विषय 'विमर्श' नहीं; विमर्शजन्य फैशन है। विमर्श-केन्द्रित लेखन में रचनाएँ अभ्यासात्मक (STEREOTYPED) होने लगती हैं। निर्देशों के आधार पर साहित्य नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि ऐसे निर्देश कभी-कभी दरबारी साहित्य में बाँचे जाने वाले घनाक्षरी आदि छन्दों का संस्मरण प्रस्तुत करते हैं।

समकालीन कविता में शिल्पपक्ष के सभी उपादानों को नए रूप में प्रयुक्त करने की हिमाकत की गई है, किन्तु समकालीन कवि प्रयोगवादियों की तरह प्रयोगधर्मी और आग्रही नहीं है। नवीनता का यह शोधपरक आग्रह प्रत्येक काव्य-युग में हुआ है। एक तरफ महाप्राण 'निराला' ने कविता को छन्दों की मिठास भरी पायलों से मुक्त किया तो दूसरी तरफ अज्ञेय ने प्रतीकों (इन प्रतीकों के देवता कर गए हैं कूच), उपमानों (ये उपमान सब मैले हो गए हैं), मुहावरों (बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है) आदि सभी शिल्प-पद्धतियों को बदल डालने की पुरजोर वकालत की। समकालीन कवियों ने इस वकालत को बखूबी आगे बढ़ाया।

आज समकालीन कविता का रचना-शिल्प और शब्द-भण्डार तद्भव, तत्सम, देशज, आगत-शब्दों, नव्यतर विशेषणों, क्रिया-विशेषणों आदि से अभिमण्डित है। आज समय की गति के साथ-साथ चवन्नी, अठन्नी, रत्ती, माशा, तोला, सेर, छटाँक आदि शब्द लुप्त हो गए हैं, और अनेक नए शब्द - दूरदर्शन, मिक्सी, मोनिलिसा, प्राण-वायु, विकिरण, हाइड्रोजन, पोलिथीन, किलो, लीटर आदि बहुलता के साथ प्रयुक्त हुए हैं।

समकालीन कवियों ने अनेक व्यंजनापरक टटके मुहावरों का प्रयोग किया है। इधर कुछ नए समीक्षकों और परिभू-स्वयंभू कवियों ने पुराने मुहावरों पर नए मुहावरों की मुहर (Seal) लगाने की पेशकश की है और कहा है कि 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' यह मुहावरा रैदास पीरियड का है। अब रैदास नहीं रहे और उनकी कठौती भी नहीं रही। अतः उसके स्थान पर 'मन चंगा तो स्टील-प्लेट में गंगा' का प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार 'चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए' के स्थान पर 'रूपया जाए पर चमड़ी न जाए' तथा 'ताक पर रखना' की जगह 'लाकर में रखना' जैसे अन्तरणशील मुहावरों को रखने की तार्किक दलील दी है, किन्तु इस गड़बड़झाले से शब्दों की प्रामाणिकता सन्देह के घेरे में आ जाती है। अतः इतिहास-पुरुष कवियों को चाहिए कि वे पथभ्रष्ट करने वाली अवसरवादी हवाओं में न बहें। वे प्रथक से नए मुहावरों का सृजन करके समकालीन कविता का उपकार करें; पुराने मुहावरों के साथ छेड़छाड़ न करें। यदि उन मुहावरों के देवता कूच कर ही ,गए हैं तो बीतते हुए कालचक्र के साथ वे एक-न-एक दिन झख

मारकर आप के घर से निकल जाएँगे, फिर शायद आप को लाठी लेकर उन्हे खदेड़ने की आवश्यकता न रह जाएगी।

● समकालीन कविता में कवियों को सौन्दर्य-बोध की जो अविरल परम्परा प्राप्त हुई है, वह समकालीन परिप्रेक्ष्य में सत्य और यथार्थ है। कविता की अविराम गति के साथ-साथ सौन्दर्य-दर्शन के मामले में दृष्टा का दृष्टिकोण बदल जाता है, किन्तु सौन्दर्य स्वयं नही बदलता, वह तो एक ही है। वह भिन्न-भिन्न स्थायी भावों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है, किन्तु सार्वभौमिक रूप में उसकी सत्ता एक है। सौन्दर्य गत्यात्मक है, संचरणशील है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी परिभाषा बदलकर कुछ का कुछ हो जाता है। किसी वस्तु की पराकाष्ठा ही उसका सौन्दर्य है। रीतिकाल में सौन्दर्य की यह पराकाष्ठा राजाओं के महलों और अलंकार-जटित नायिकाओं में देखी गई, छायावाद में इसका दृश्यावलोकन प्रकृति और पहाड़ के शिखरों पर किया गया; प्रयोगवाद में इसका परीक्षण उपेक्षित और विगर्हित जातिवाचक संज्ञाओं के बीच हुआ और आज समकालीन कविता में सौन्दर्य की यह पराकाष्ठा रंक की झोपड़ी में मूर्तिमान दिखाई देती है। समकालीन कविता के विस्तृत फलक पर सौन्दर्य को आधार मानकर स्फुट रचनाएँ तो नहीं लिखी गईं, किन्तु आज के इस राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य में कविता के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थ की जो बेबाक अभिव्यक्ति हुई है, उसे सौन्दर्य-बोध की सत्ता से बाहर नहीं देखा जा सकता। सौन्दर्य की सत्ता अथवा संस्थिति को लेकर वस्तुवादी, भाववादी, आत्मवादी, कल्पनावादी, उदात्तवादी शिल्पवादी इत्यादि नाना विरोधी वर्ग कविता के विकास-काल से ही चलते चले आ रहे हैं। वस्तुवादी वस्तुगत सत्ता में, भाववादी मनुष्य के मन और आत्मा में, आत्मवादी वस्तु के आन्तरिक स्वरूप में, कल्पनावादी बिम्ब में, उदात्तवादी महान आत्मा में और शिल्पवादी विषय के टेकनीक में सौन्दर्य को खोजते आए हैं, किन्तु उसकी सत्ता को लेकर प्रमुख विवाद वस्तुवादियों और भाववादियों के बीच रहा है।

वस्तुतः सौन्दर्य वस्तुगत सत्ता में है, किन्तु भाववादी विचारक और इधर वर्गयुक्त समाज के कुछ मनोवैज्ञानिक मसीहा सौन्दर्य को उपयोगी वस्तुओं से हटाकर मनुष्य के मन या आत्मा में मानने का जो दावा आरम्भ से करते चले आये हैं, वह वीरगाथा या रीतिकाल के भोग-विलासी राजाओं या वर्गयुग समाज में भले ही सफल रहा हो, किन्तु समकालीन कविता के व्यापक सन्दर्भ में उनका दावा निष्फल हो चुका है। भाववादियों द्वारा प्रस्तुत की गई यह नजीर कि संयोगावस्था में सुन्दर लगने वाला चन्द्रमा वियोगावस्था में दाहक शत्रु के समान दिखाई पड़ता है, ताजमहल भयानक प्रतीत होता है; तर्कसंगत नहीं है क्योंकि चन्द्रमा या ताजमहल का अच्छा लगना या न लगना, यह तो मन का एक भाव है जो क्षणिक और आवधि क है। किन्तु इस भावना से चन्द्रमा या ताजमहल का वस्तुगत सौन्दर्य न तो फीका पड़ता है और न कम

होता है। यदि किसी को तानसेन की तान अच्छी न लगे तो यह उसके कानों और अविकसित इन्द्रिय बोध का ही परिणाम कहा जाएगा। यह कहना न्यायपूर्ण न होगा कि तानसेन के 'गाने' या उसकी 'तान' में सौन्दर्य नहीं है।

आज तक सुन्दर को सुन्दर कहने का आधिकारिक दावा तो सभी मनीषियों और कवियों ने किया है, किन्तु अशोभन और असुन्दर को, उपेक्षित और निरीह को, अछूत और अपूत को, अदना और लघुमानव को सुन्दरता के विराट पटल पर रखने का साहस विरले कवियों ने ही किया है। विरलता के इस सूनेपन को भरने का साहसिक काम समकालीन कवियों ने बड़ी संजीदगी के साथ किया है। आज सौन्दर्य का स्रोत जनता है। इसीलिए समकालीन कवियों की कविता यदि किसी मजदूर के पसीने से लिखी जाती है, तो वह आइसक्रीम जैसी मीठी लगती है। जो स्वयं के परिश्रम पर जीता हुआ दूसरों को जिलाता है तथा दूसरों की मेहनत पर जीने का मोहताज नहीं है, उसके लिए सौन्दर्य कर्ममय जीवन में है, इससे बाहर नहीं।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए समकालीन कविता में वस्तुगत सौन्दर्य-बोध की स्थापना की गई है। विषय को तारतम्य रूप देने के लिए आत्मगत, भावगत, कल्पनागत और उदात्तगत सौन्दर्य को गौण रूपों के अन्तर्गत रखा गया है, किन्तु सौन्दर्य की ये सभी कोटियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में एक उपग्रह की भाँति वस्तुगत सौन्दर्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हुई दिखाई देती हैं।

समकालीन कविता में सामाजिक यथार्थ के सभी रूपों - सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक - को वस्तुगत सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। व्यक्ति और समाज, धर्म और साम्प्रदायिकता, राजनीति और नैतिकता, इंसान और हैवान, विगत और वर्तमान, शोषक और शोषित, शील और अमर्ष, उत्कर्ष और अपकर्ष आदि के वैचारिक अन्तर को समझते-समझाते हुए जो विसंगतियाँ प्रकाशित हुई हैं, वे सौन्दर्य को बहुआयामी रूप देने में सहायक सिद्ध हुई हैं। स्त्री और दलित-विमर्श की संवेदनाएँ अन्तर्मन से आगे बढ़कर समाज के विस्तृत धरातल से जुड गई हैं। समकालीन कविता में माँ-बाप, पिता-पुत्र, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष, सास-श्वसुर, जेठ-जेठानी आदि सभी सामाजिक सम्बन्धों को समझने के बाद जो कटु व्यंग्य विश्लेष और चर्या के रूप में प्राप्त हुआ है, वह मौलिक और यथार्थ है। सच्चा आनन्द, कृत्रिमता और आडम्बर से मीलों दूर भागता है। जहाँ मनुष्य मौलिक, यथार्थ और अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनन्द है। आनन्द की यह तथाकथित पराकाष्ठा की सौन्दर्य है।

सौन्दर्य के जो अवशेष आयाम हैं, उन्हें ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, प्राकृतिक आदि चेतनाओं में संश्लेषित कर दिया गया है। इन सभी चेतनाओं में बिम्ब और प्रतीकों का आश्रय लेते हुए स्वस्थ और तिलमिलाने वाले व्यंग्य-बाणों के माध्यम से सौन्दर्य का अपूर्व समर्थन किया गया है। यद्यपि

समकालीन कवि अलंकार और साज-सज्जा की परवाह नहीं करता, किन्तु वह सौन्दर्य का उपासक अवश्य है।

सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से मानव-हृदय में चिरकालिक प्रभाव डालने वाली लम्बी कविताओं की अपनी एक अलग पहचान रही है। इन कविताओं में धूमिल की **'पटकथा'**, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की **'कुआनो नदी'**, बलदेव वंशी की **'उपनगर में वापसी'**, लीलाधर जगूड़ी की **'बलदेव खटिक'**, नागार्जुन की **'हरिजन गाथा'**, नरेन्द्र मोहन की **'विचार और लहू के बीच'**, ओमप्रकाश 'निर्मल' की **'कुछ हो रहा है'**, त्रिलोचन शास्त्री की **'नगई महरा'** तथा कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की **'भंगी कालोनी'** आदि सृजनात्मक चेतना को सजग दस्तावेज हैं। **कविता से कुन्त चलाने, हथगोला फेंकने, बन्दूक दागने, लाठी-प्रहार करने या त्रिशूल भाँजने जैसी कार्रवाइयों की अपेक्षा तो नहीं की जा सकती, किन्तु जड़िमाग्रस्त समाज की जटिलताओं और राजनीति की सब्ज बागी प्रवृत्ति पर उसने जो प्रहार किए हैं, उससे कुत्सित समाज और भ्रष्ट राजनीति की तीखी नोक भोथरा** (BLUNT) **अवश्य हुई है।**

समकालीन कविता इस दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय है कि पिछले कई दशक पूर्व वह असंतोष, अस्वीकृति, विद्रोह और आपाधापी के कारण बहक गई थी, अब वह बहकन किंचित् भी नहीं है। यदि कोई कवि फैशनपरस्त और बेसिर-पैर की कविता लिखकर यह कहे कि 'आज के आदमी की माँग' है, इसे सुन्दरम् की कोटि में रख लिया जाए; बहुत बड़ी भूल होगी।

समकालीन कविता में नई पीढ़ी के कवियों की बढ़ती हुई संख्या-दर को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि **कविता के छन्द मुक्त हो जाने से हर व्यक्ति कवि हो गया है। यदि समाज के साक्षर परिवारों का सर्वेक्षण किया जाए तो प्रत्येक परिवार से कम-से-कम एक-आध कवि अवश्य निकल आएगा। शायद इसीलिए कवि-गोष्ठियों में श्रोताओं की संख्या पर ह्रासमान तुष्टिगुण नियम लागू हो गया है।**

रीतिकाल में रीतिबद्धता के रोग से ग्रसित कवियों के प्रति व्यंग्य-वृष्टि करते हुए घनानंद ने कहा था – 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।' विलासी राजाओं की कृपाकोर के अभिलाषी कविगण उनके विमर्श पर कविताएँ लिखते थे, वे स्वतंत्र चेता नहीं थे, उन पर प्रेरक हावी था। घनानंद ने ऐसे अर्थ-लोलुप कवियों के मध्य उन्मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि कविता किसी के निर्देश पर नहीं लिखी जाती। सच्चा कवि वह है, जिसे कविता स्वयं वरण करे। यह तभी संभव है, जब कवि अयत्नज हो, यत्नज नहीं। आज कवियों की बढ़ती-दर का मुख्य कारण उनका कृत्रिम रचना-विधान है, जो उनके

बार-बार अभ्यासात्मक यत्न से उत्पन्न हुआ है, जिसमें नैसर्गिकता प्रायः गायब है। अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती। आज भी हमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी याद आते हैं - "कवि जो कुछ कहे, इस तरह कहे, मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हों। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत भावों ने कविता के रूप में प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है।"[1]

आज के अधिकांश कवियों के साथ यह दुर्भाग्य जुड़ा हुआ है कि वे कुछ चुनिंदा कविताएँ रचकर अपने को 'कविरेव प्रजापतिः' मान बैठे हैं, कवि-गोष्ठियों और सम्मेलनों में उन्हें उम्रदराज एवं हमउम्र कवि-श्रोताओं से भरपूर 'दाद' भी मिल जाती है। आज कवि कविता को नहीं, कविता स्वयं उसे गा रही है।[2]

अतः कवि-समाज से अनुरोध है कि वे अपनी पूरी ईमानदारी के साथ समकालीन समाज को दृष्टि में रखते हुए समकालीन कविता के विकास में अपनी रचनात्मक भूमिका अदा करें। आज समाज के सामने बहुत सारी चुनौतियाँ है, उन चुनौतियों का मुँह-तोड़ जवाब देने के लिए 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' से अभिमण्डित रचना-धर्म ही मूल्यांकन की कसौटी पर खरा उतर सकेगा। अतः सौन्दर्य-बोध कविता का प्राण है। जिस दिन सौन्दर्य-बोध कविता से हट जाएगा; उस दिन कविता, कविता न रह जाएगी। कविता एक बार रसविहीन होने का दर्द तो स्वीकार कर सकती है, किन्तु सौन्दर्य-विहीन होने का नहीं। आज की अर्थधर्मी पीढ़ी सुन्दर को सुन्दर कहने में नाक-भौं सिकोड़ती है, तब भला असुन्दर को सुन्दर कौन कहेगा?

---

1. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन ('कवि और कविता') शीर्षक से

2. "इस वक्त जब कि कान नहीं सुनते हैं कविताएँ
कविता पेट से सुनी जा रही है, आदमी
गजल नहीं गा रहा है, गजल
आदमी को गा रही है।"

- धूमिल : संसद से सड़क तक, ('कवि 1970' से) पृ0 61

ग्रन्थानुक्रमणिका
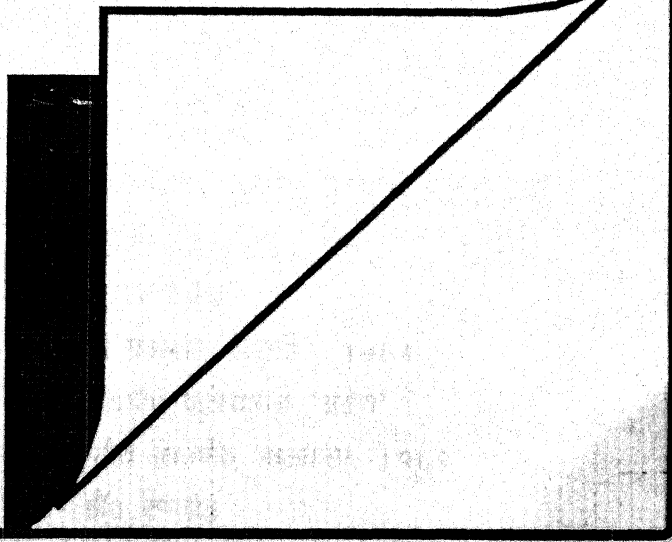
ग्रंथानुक्रमणिका

1. हिन्दी

1. **अकाल में सारस** — केदारनाथ सिंह
राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली- 1100002, संस्करण : 1990

2. **अंधायुग** — धर्मवीर भारती
किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग
इलाहाबाद; संस्करण : 1999.

3. **अंजुरी भर प्यास** — कैलाशनाथ तिवारी
साहित्यालोक , अहमदाबाद, 1994

4. **आत्महत्या के विरूद्व** — रघुवीर सहाय
राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0
8, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली - 110002, संस्करण : 1995

5. **अभिशप्त शिला** — डॉ0 चन्द्रिकाप्रसाद दीक्षित 'ललित'
राष्ट्रकवि प्रकाशन, चन्ददास साहित्य शोध-संस्थान
सिविल लाइन्स, बाँदा, उ0प्र0

6. **आधुनिक कवि** — महादेवी वर्मा
लोकभारती प्रकाशन
15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1

7. **आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प** — कैलाज वाजपेयी
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, संस्करण : 1963

8. **आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य** — डॉ0 रामेश्वरलाल खंडेलवाल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली : 1958

9. **आस्था और सौन्दर्य** — डॉ0 रामविलास शर्मा
किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग
इलाहाबाद, संस्करण - शकाब्द : 1983

10. **आहत है वन** — कुमार रवीन्द्र
पराग प्रकाशन, दिल्ली : 1984

11. **आँगन के पार द्वार** — स0ही0 वात्स्यायन 'अज्ञेय'
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता, 1969

12. **इतिहास का दर्द** — डॉ0 रणजीत
लोकभारती प्रकाशन,15-ए, महात्मागाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1

13. इन्द्रधनुष रौंदे हुए — स0ही0 वात्स्यायन 'अज्ञेय'
भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता

14. उत्सव का निर्मम समय — नंद चतुर्वेदी
भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल
एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली

15. उपनगर में वापसी — बलदेव वंशी

16. कल सुनना मुझे — सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'
वाणी प्रकाशन
61-एफ, कमलानगर, दिल्ली- 110007

17. कविप्रिया — आचार्य केशव
प्रकाशक – कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स
चौक, वाराणसी।

18. कवि श्री — सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी)
संस्करण : 1975

19. कवितान्तर — डॉ0 जगदीश गुप्त
ग्रन्थम रामबाग, कानपुर- 208012
संस्करण : 1988

20. कविता के नए प्रतिमान — डॉ0 नामवर सिंह
राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0
1-बी, नेताजी सुभाषमार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली- 110002, चौथी आवृत्ति : 2000

21. कविता की मुक्ति — नंद किशोर नवल
अनुपम प्रकाशन, पटना- 800004

22. कामायनी — जयशंकर प्रसाद
प्रसाद प्रकाशन, प्रसाद मन्दिर
गोवर्धन सराय, वाराणसी- 221001
द्वितीय संस्करण : 1980

23. काव्य में उदात्त तत्व — डॉ0 नगेन्द्र
आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, 1976

24. काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्व — शिवबालक राव
वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद – 1969

25. काव्य की भूमिका (साहित्यालोचन) — रामधारी सिंह 'दिनकर'
उदयाचल प्रकाशन, पटना-1975

26. कुछ विचार - मुंशी प्रेमचंद
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-1

27. कुआनो नदी -सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-1

28. कुछ पूर्वाग्रह - अशोक वाजपेयी
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-1

29. कुछ हो रहा है - ओम प्रकाश 'निर्मल'
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-1

30. खिचड़ी विप्लव देखा हमने - नागार्जुन
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

31. गर्म हवाएँ - सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-1

32. चाँद का मुँह टेढ़ा है - मुक्तिबोध
भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली -110003, अष्टम संस्करण : 1985

33. चिन्तामणि (भाग-1) - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद- 1978

34. चौथा सप्तक - सं. अज्ञेय
सरस्वती विहार, 21 दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण : 1979

35. छायावादी कवियों का सौन्दर्य विधान - डॉ0 सूर्य प्रसाद दीक्षित
दि मैकमिलन कम्पनी, दिल्ली-1974

36. जायसी ग्रन्थावली - सं. रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1923

37. झुलसा हुआ रक्त कमल - डॉ0 रणजीत
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-1, संस्करण : 2000

38. ठण्डा लोहा - धर्मवीर भारती
किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-1

39. ताप के ताए हुए दिन — - त्रिलोचन शास्त्री

40. तीन कवि तीन कविताएँ — - नंदकिशोर नवल
अनुपम प्रकाशन, पटना-4
प्रथम संस्करण : 2000

41. दीपशिखा — -महादेवी वर्मा
भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं. 2032 वि.

42. दूसरा सप्तक — - सं० अज्ञेय
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
बी0-45-47 कनॉटप्लेस, नई दिल्ली - 110001
तृतीय संस्करण : 1981

43. धूप और धुआँ — - रामधारी सिंह 'दिनकर'
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद-1,

44. धरती गीतांबरा — - डॉ0 वीरेन्द्र सिंह
हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी

45. नई कविता के प्रतिमान — - लक्ष्मीकान्त वर्मा
भारती प्रेस प्रकाशन,
10 दरभंगा रोड, इलाहाबाद-2

46. नई कविता : कथ्य एवं विमर्श — - डॉ0 अरूण कुमार
चित्रलेखा प्रकाशन, अलोपी बाग, इलाहाबाद-211006
प्रथम संस्करण 1988

47. नई कविता : एक साक्ष्य — - राम स्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद-1, संस्करण 1990

48. नई कविता : रचना प्रक्रिया — - डा0 ओउम्प्रकाश अवस्थी
साहित्य निकेतन, शिवाला रोड,
गिलिस बाजार, कानपुर-208001

49. नकेन के प्रपद्य — - प्रो0 केसरी कुमार
मोतीलात बनारसीदास , पटना- 1956

50. नंगे पैर — - विपिन अग्रवाल
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद-1,

51. **नवीन साहित्यिक निबन्ध** - डॉ0 गोविन्द त्रिगुणायत
विनोद पुस्तक मन्दिर
रांगेय राघव मार्ग, आगरा-2
तृतीय संस्करण : 1982

52. **नाटक जारी है** - लीलाधर जगूड़ी

53. **पक गई है धूप** -रामदरश मिश्र

54. **परिमल** - सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
गंगा पुस्तकालय, लखनऊ
अष्टम संस्करण : 1960

55. **पल्लव** - सुमित्रानंदन पंत
इंडियन प्रेस, प्रयाग-1939

56. **प्रलय-सृजन** - शिवमंगल सिंह 'सुमन'
आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट
दिल्ली - 110006, संस्करण -1996

57. **प्रगतिशील कविता के मील पत्थर** - डॉ0 रणजीत
लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद -1, संस्करण -2000

58. **प्रियप्रवास** - अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी
दशम् संस्करण : सं0 2016

59. **बची हुई पृथ्वी** - लीलाधर जूगड़ी

60. **बावरा अहेरी** - स0ही0 वात्स्यायन 'अज्ञेय'

61. **बिहारी-रत्नाकर** - टीकाकार : जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
शिवाला, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2021

62. **बेला** - सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहगंज, इलाहाबाद :1946

63. **भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र** - डॉ0 कृष्णदेव शर्मा
विनोद पुस्तक मन्दिर
रांगेय राघव मार्ग, आगरा -2
द्वितीय संस्करण : 1981

64. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य शास्त्र - डॉ० यतीन्द्र तिवारी
सरस्वती प्रकाशन, बौद्धनगर, नौबस्ता, कानपुर -1996

65. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका - डॉ० नागेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली : 1978

66. भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का तात्विक विवेचन एवं ललित कलाएं - रामलखन शुक्ल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
नई दिल्ली : 1978

67. महादेवी की कविता में सौन्दर्य भावना - डॉ० सी० तुलसम्मा
सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्लीं-6
प्रथम संस्करण - 1986

68. यशोधरा - मैथिलीशरण गुप्त
साहित्य सदन, 184 तलैया, झाँसी (बुन्देलखण्ड)
संस्करण : 1988

69. यामा - महादेवी वर्मा
भारती भण्डार, इलाहाबाद : 1971

70. यात्रा के साथ-साथ - सं० देवेन्द्र शर्मा 'इन्दु'
पराग प्रकाशन दिल्ली,1984

71. युगवाणी - सुमित्रानंदन पंत
इंडियन प्रेस, प्रयाग

72. रस-मीमांसा - रामचन्द्र शुक्ल
काशी नगरी प्रचारिणी सभा, काशी
(सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-1949)

73. रस सिद्वान्त और सौन्दर्य-शास्त्र - निर्मला जैन
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
नई दिल्ली : 1977

74. रामचरितमानस - गोस्वामी तुलसीदास
गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस
गोरखपुर, उन्नीसवाँ संस्करण, सं० 2052

75. रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ० नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
23, दरियागंज,नई दिल्ली - 110002

76. विद्यापति - सं० डॉ० शिव प्रसाद सिंह
लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग
इलाहाबाद

77. विश्वास बढ़ता ही गया — शिव मंगल सिंह 'सुमन'
आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट
नई दिल्ली - 110006, संस्करण; 1996

78. वीणा — सुमित्रानंदन पंत
इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

79. वैदिक साहित्य, संस्कृति और दर्शन — डॉ० विश्वम्भरदयाल अवस्थी
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, 69-नया बैरहना, इलाहाबाद,
संस्करण द्वितीय : 1988

80. शबरी — धनंजय अवस्थी
प्रतिमा प्रकाशन, 121, शहरारा बाग, इलाहाबाद
संस्करण : 1998

81. संसद से सड़क तक — सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'
राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०
1-बी. नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002, चौथी आवृत्ति : 2001

82. संक्षिप्त महाभारत — सं० जयदयाल गोयन्दका
गोविन्द भवन - कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर
सत्रहवाँ संस्करण : सं० 2051

83. समकालीन कविता : एक विश्लेषण — डॉ० अशोक सिंह
लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग,
इलाहाबाद-1, संस्करण : 1990

84. समकालीन लम्बी कविता की पहचान — डॉ० युद्धवीर धवन
संजीव प्रकाशन, 49/4 थानेसर शहर, कुरूक्षेत्र (हरियाणा)
प्रथम संस्करण : 1987

85. समसामयिक हिन्दी कविता:विविध परिदृश्य —डॉ० गोविन्द रजनीश
देवनागर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता,
जयपुर - 3

86. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य और सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति —डॉ० चन्द्रभूषण सिन्हा
विश्वविद्यालय प्रकाशन,
चौक, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1985

87. सातवें दशक की कविता का शब्द विधान — डॉ० सुधा राजे
पुस्तक संस्थान, 37/50
गिलिस बाजार, कानपुर
प्रथम संस्करण - 1978

88. **साहित्यालोचन** - डॉ0 राजकिशोर सिंह
प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स
अमीनाबाद, लखनऊ

89. **सुदामा पाण्डे का प्रजातंत्र** - सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'
वाणी प्रकाशन
61-एफ, कमला नगर, दिल्ली - 110007
प्रथम संस्करण : 1984

90. **सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व** -डॉ0 कुमार विकल
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली -1967

91. **हँसो हँसो जल्दी हँसो** -रघुवीर सहाय
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

92. **सौन्दर्य तत्त्व निरूपण** -एस0टी0 नरसिंहाचारी
वाणी प्रकाशन, दिल्ली-1977

93. **हरी घास पर क्षण भर** -स0ही0 वात्स्यायन 'अज्ञेय'
भारतीय राजपीठ, बी/45-47 कनॉट प्लेस,
नई दिल्ली-110001
चतुर्थ संस्करण : 1979

94. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** -आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
सं0 2019 वि0

95. **हिन्दी साहित्य का इतिहास** - डॉ0 नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउरा
23, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

96. **हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास** - डॉ0 मोहन अवस्थी
प्रयाग, 15 मई 1970

97. **हिन्दी भाषा और लिपि का विकास एवं स्वरूप** -डॉ0 भवानीदत्त उप्रेती
रायसाहब रामदयाल अगरवाला
217/266 कट्रा, इलाहाबाद
द्वितीय संस्करण : 1976

98. **हुँकार** - रामधारी सिंह 'दिनकर'
लोक भारती प्रकाशन, 15-ए,
महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद -1

2. संस्कृत

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
2. उज्ज्वल नीलमणि	श्रीमद् रूपगोस्वामी
3. ऋग्वेद	
4. काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट
5. काव्य मीमांसा	राजशेखर
6. काव्यादर्श	दण्डी
7. काव्यालंकार	आचार्य भामह
8. काव्यालंकार सूत्र	वामन
9. किरातार्जुनीयम्	भारवि
10. कुमार संभवम्	कालिदास
11. न्याय भाष्य	वात्स्यायन
12. मनुस्मृति	मनु
13. महाभारत	वेदव्यास
14. यजुर्वेद	
15. रस गंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ
16. रामायण	महर्षि वाल्मीकि
17. वृहदारण्यकोपनिषद्	
18. वक्रोक्तिजीवितम्	कुन्तक
19. श्रीमद्भागवत् पुराण	वेदव्यास
20. शिशुपाल वधम्	माघ
21. सरस्वती कंठाभरणम्	भोजराज
22. साहित्यदर्पण	आचार्य विश्वनाथ
23. सिद्धान्त कौमुदी	भट्टोजि दीक्षित

3. अंग्रेजी

1. **A History of Aesthetics** - Bernard Bosamquet
Meridian Library Edition, 1960
2. **Aesthetics** - Croce Tr. Austic Duglas
Vision Press, London; 1953
3. **Frustration and Aggression** - Dolard J.
4. **Modern Hindi Literature** - Dr. Indra Nath Madan, 1939
5. **On Art and Literature** - Rabindranath Tagore
International Cultural Centre by
Orient Longman, 1961
6. **The Theory of Beauty** - E.F. Carritt
36, Essese street strand WCZ
London, 1914
7. **The Indian Concept of the Beautiful.** - K.S. Ramaswamy Sastri
University of Trivancore, 1947
8. **Philosophies of Beauty** - E.F. Carritt
Oxford Clarendon Press, 1962
9. **What is Art.** - Tolstoy
Tr. Aylmer-Maude
Oxford University Press, 1930

4. कोश ग्रन्थ

1. अमर कोश	अमर सिंह
2. नालन्दा विशाल शब्द सागर	नवल जी
3. मानक हिन्दी-कोश	रामचन्द्र वर्मा
4. वाचस्पत्य कोश	वाचस्पति
5. संस्कृत-हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे
6. हिन्दी-साहित्य कोश	डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा
7. हिन्दू धर्म-कोश	डॉ0 राजबली पाण्डेय

8. **The concise Oxford Dictionary**
9. **Encyclopaedia of Social Science**

5. पत्र-पत्रिकाएँ एवं संकलन

1. अकविता	अंक -5
2. आजकल	जनवरी, 1969
3. आजकल	दिसम्बर, 2002
4. आरंभ	जुलाई, 1968
5. आलोचना	जुलाई-सितम्बर, 1967
6. इंडिया टुडे	साहित्य वार्षिकी, 1996
7. इन्द्रप्रस्थ भारती	जनवरी-मार्च, 2001
8. इन्द्रप्रस्थ भारती	अप्रैल-जून, 2001
9. इन्द्रप्रस्थ भारती	जुलाई-सितम्बर, 2001
10. इन्द्रप्रस्थ भारती	जनवरी-मार्च, 2002
11. उत्तर प्रदेश	फरवरी, 1997
12. उत्तर प्रदेश	मार्च, 1997
13. उत्तर प्रदेश	अप्रैल, 1997
14. उत्तर प्रदेश	जुलाई, 2002
15. उत्तर प्रदेश(संभावना विशेषांक)	जुलाई, 2002
16. उत्तर प्रदेश	सितम्बर, 2002
17. उत्तर प्रदेश	नवम्बर, 2002
18. उत्तर प्रदेश	दिसम्बर, 2002
19. उत्तर प्रदेश	अगस्त, 2003
20. उत्तर प्रदेश	सितम्बर, 2003
21. उत्तर प्रदेश	अक्टूबर, 2003
22. उत्तर प्रदेश	नवम्बर, 2003
23. उत्तर प्रदेश	दिसम्बर, 2003
24. कल्पना	मार्च, 1960
25. जनपद	वर्ष-1, अंक-1
26. जनभारती	अंक - 1

27. दस्तावेज	अंक 13/14
28. धर्मयुग	1966
29. धर्मयुग	4 जुलाई, 1965
30. धर्मयुग	10-16 मई 1981
31. धर्मयुग	22-28 अगस्त, 1982
32. नई कविता	अंक - 1
33. नई कविता	अंक - 2
34. नई कविता	अंक - 3
35. नई कविता	अंक - 5-6
36. नई कविता	अंक - 8
37. पहल	10-11(मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र अंक)
38. मधुमती	नवम्बर, 1992
39. युग-परिबोध	जनवरी-मई, 1977
40. राष्ट्रधर्म	अप्रैल, 2003
41. राष्ट्रधर्म	मई, 2003
42. राष्ट्रधर्म	अगस्त, 2003
43. लहर कविताांक	नवम्बर, 1966
44. संगम	वर्ष-3, अंक-47
45. समवेत	अंक - 1
46. साहित्य-अमृत	जुलाई , 1999
47. हंस	शांति-संस्कृत-अंक
48. हंस	दिसम्बर, 2002